॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१६६

एम. ब्लूमफील्ड

अथर्ववेद एवं गोपथ-ब्राह्मण

सूर्यकान्त

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६४

STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY
294'15
Acc. No. B A
Book No. 2428

~~891.43~~

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१६६

एम. ब्लूमफील्ड

अथर्ववेद एवं गोपथ-ब्राह्मण

क्रम संख्या 2,428
प्राप्ति तिथि 2.3.65
State Museum, Library, Lko.

अनुवादक—

सूर्यकान्त

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६४

THE ATHARVA-VEDA
AND THE GOPATHA-BRĀHMAṆA

BY

MAURICE BLOOMFIELD

STRASSBURG
VERLAG VON KARL J. TRUBNER
1899.

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
166

THE

ATHARVAVEDA
AND THE
GOPATHA-BRĀHMAṆA

BY

M. BLOOMFIELD

HINDI TRANSLATION

BY

SŪRYA KĀNTA

क्रमसंख्या 2428
प्राप्ति तिथि 2.3.65
State Museum, Library, Lko.

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1
1964

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी-१

संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०२१

मूल्य : २५-००

COPYRIGHT

This translation 1st published by arrangement with Walter de-Gruyter & Co. Berlin. 1964

294.15

B A

Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O. Box 8, Varanasi.
(INDIA)
Phone : 3145

दो शब्द

पुराण भारत का ज्ञान ऋग्वेद में संहृत हुआ है तो उसकी जान अथर्ववेद में बसती आई है। पहला पुरोहित-कुलों में पनपा था तो दूसरे की रिक्थ 'ओझाओं' जैसे झाड़फूंक करने वाले 'रमते रामों' के हाथ लगी है। ये पढ़ने-पढ़ाने से दूर सरक गये, फलतः इनकी रिक्थ भी जनता की आँखों से ओझल हो गई।

भारत की इस अनोखी रिक्थ को फिर से देश के संमुख रखनें का श्रेय पाश्चात्य मनीषियों को है—इन मनीषियों में ब्लूमफील्ड का अपना निराला स्थान है।

ब्लूमफील्ड की मंजी-कसी लेखनी प्रस्तुत रचना में परिष्कार की परा-काष्ठा पर जा लगी थी। इसे संस्कृत-हिन्दी-जगत् के सामने प्रस्तुत करना आवश्यक समझा गया है। हिन्दी में जब तक इस कोटि के वैज्ञानिक ग्रंथ नहीं आ जायंगे तब तक वह राष्ट्रीय मस्तक को कैसे सजा पायगी?

रचना गभीर है, कठोर है और उद्धरणों से ओतप्रोत है। इन उद्धरणों को छाँट निकालना सरल नहीं था। इस काम में समय लगा है और जान लगी है। फिर इनमें से अनेक का पता अशुद्ध छपा था। इन्हें ढूँढने के लिए स्रोत-ग्रन्थों का आद्योपान्त पारायण करना पड़ा है। सरस्वती की इस अर्चना से हमारे जीवन की संध्या सभाजित हो गई है। इस अर्चना में हमारे कतिपय प्रिय शिष्यों ने भी हमारा साथ दिया है। ये सभी शिष्य आज अपने-अपने काम में आगे बढ़ रहे हैं। इससे बड़ी प्रसन्नता की बात एक अध्यापक के लिये और कौन सी हो सकती है?

चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा उसकी प्रधान शाखा चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी, भारत की मानी हुई प्राचीन संस्था है। इस संस्था ने पुराण भारत के साहित्य एवं संस्कृति की अनुपम सेवा की है। प्रस्तुत रचना को संस्कृत-हिन्दी-जगत् के संमुख प्रस्तुत करके संस्था ने सरस्वती की वन्दना की है। हम इस संस्था की हृदय से मङ्गल कामना करते हैं।

सूर्यकान्त

भूमिका

आज भी जगह-जगह गाँवों में ओझा, भगत, पीर और इसी कोटि के कुछ अन्य व्यक्ति मिल जाते हैं, जो तरह-तरह की झाड़-फूंक करके भोली जनता की यातनाओं को नसाते और तरह-तरह से उनके मन को दिलासा देते हैं। इनके करिश्मों की इति नहीं—क्या आध्यात्मिक और क्या भौतिक, क्या मानसिक और क्या शारीरिक, सभी क्षेत्रों में इनकी पहुँच अबाध है; क्योंकि एक ओर जहाँ ये लोग मानसिक आधियों को दूर भगाते हैं वहाँ दूसरी ओर शारीरिक व्याधियों को भी झाड़ते देखे जाते हैं। जन-जनपदों में इनका अपना निराला स्थान है; गाँव के नर-नारी इनका आदर करते और इनसे भय खाते हैं।

इनके इस आदर एवं त्रास का कारण इनमें एक प्रकार की 'शी-र' अग्नि है। आज भी किसी भिक्षुक को दुतकार देने पर गाँव के लोग कह उठते हैं 'देखो कहीं यह तुम्हें अपने शाप से भस्म न कर दे'। इन ओझाओं एवं फकीरों में एक तरह की 'शी-र' अग्नि छिपी समझी जाती है; इसका उपयोग ये मन-चाहे तरीके से कर सकते हैं। कण्व के आश्रम में दुर्वासा ने शकुन्तला के साथ कुछ इसी तरह का व्यवहार किया था।

आदि-काल से मानव अग्नि का आदर करता एवं उससे भय खाता आया है। उसकी ज्वलन्त अर्चियों में उसे अशेष देवता हाथ उठा कर नाचते दीख पड़े हैं। उसके जीवन की टेक ही अग्नि रहती आई है। अग्नि की पूजा सभी देशों में समान रूप से होती आई है। वेदों में अग्नि की पूजा सर्वोपरि विराजित है।

और यदि भौतिक अग्नि की मानव ने इस प्रकार श्रद्धा-भरे मन से अर्चना की है तो 'शी-र' अग्नि के प्रति तो उसकी निष्ठा का कहना ही क्या? अग्नि में निण्यता अथवा निगूढ़ता का तत्त्व निविष्ट होते ही उसके प्रति मानव की आस्था सहस्र-गुण बढ़ जाती है—क्योंकि मानव स्वभावतः प्रत्यक्ष के बजाय परोक्ष का अधिक आदर करता है और उसी अनुपात में उससे भय भी खाता है।

आदि काल से ही ओझा में या शमन में एक प्रकार की दिव्य अग्नि निगूढ़ समझी जाती रही है; क्योंकि प्रसन्न होने पर वह जनता के क्लेश को कील देता है और उनसे चिढ़ जाने पर वह उन्हें भस्म भी कर सकता है।

और यदि इस 'अथर्' वाले अथर्वन् को भारत में इतना ऊँचा ओहदा मिल सका था तो इसी 'अथर्' वाले अथर्वन् को प्राचीन ईरान में इससे भी कहीं ऊँचा दरजा मिला था। अग्नि के इस प्रसार को सभी प्राचीन भा-रोपीय देशों में देखा जा सकता है।

भोले नर-नारियों की तमन्नाएँ जब पूरी होती हैं तब वे कहने लगते हैं 'यह सब कुछ तो भगवान् ने दिया है; यह सब उसी की मेहर है'। किंतु जब उन्हें मानसिक वेदनाएँ सताती और शारीरिक यातनाएँ किलसाती हैं तब वे बोल उठते हैं 'मुझे तो किसी ने घर लिया है; मुझे तो किसी ने पकड़ लिया है'; और तब ओझा 'मांदे' व्यक्ति के तन-मन से उस 'घर-पकड़ने वाले सत्त्व' को दूर करने का जादू जगाने लगते हैं। सुख-दुःख दोनों का दाता कोई परोक्ष देवता है—सुख की अवस्था में यह परमात्मा या ईश्वर है, और दुःख की अवस्था में इसी का नाम भूत-परेत पड़ जाता है।

इस परोक्ष सत्त्व को अपनी आग्नेय शक्ति से वश में करना और तदनुसार जनता के क्लेशों को कीलना ही प्राचीन भारत के 'अथर्वन्' लोगों का प्रमुख काम बताया जाता है। अथर्ववेद के पहले सात काण्डों में 'अथर्वन्' के इसी कोटि के करिश्मे आते हैं; और हो सकता है कि अथर्ववेद का सबसे पहला बीज-भाग इतना ही रहा हो।

प्राचीन काल से ही ग्रामों की जनता में दो प्रकार के व्यक्ति काम करते आये हैं; पहले अथर्वणों की परंपरा को बनाये रखने वाले ओझा आदि हैं, और दूसरे धार्मिक अनुष्ठानों के करने-कराने वाले पुरोहित लोग हैं। जादू जगाने के लिये नर-नारी ओझा या पीर के पास पहुँचते हैं, किंतु विवाहादि संस्कारों के लिये वे पुरोहित की शरण लेते हैं। ओझा अग्नि को अपनी छाती में समेटता हुआ भी अपनी झाड़-फूंक में उसका उपयोग नहीं करता; इसके विपरीत एक पुरोहित का तो सारा क्रिया-कलाप ही समिद्ध अग्नि पर संपन्न हुआ करता है। हो न हो, इन दोनों का यह भेद मौलिक एवं आदिकालीन है, और इसमें हमें स्पष्टतः मानव-संस्कृति की दो धाराएँ प्रवाहित होती दीख पड़ती हैं।

और यदि आतिश-भरा अथर्वन् जनता की सेवा अपनी झाड़-फूंक से करता था तो एक कर्मकाण्डी पुरोहित अपने यज्ञ-यागादि से जन-जनपदों के जीवन को उर्वर बनाता था। पहले का क्रिया-कलाप अथर्ववेद में मुखरित हुआ है, तो दूसरे के यज्ञ-यागादि को ऋग्वेद में शाश्वत वाणी प्राप्त हुई है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से दोनों वेद पुराने हैं—दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि ये दोनों वेद अनादि एवं अपौरुषेय हैं।

धीरे-धीरे जन-जीवन में समन्वय की प्रवृत्ति उभरी और मानव ने अनेकता की मरु-भूमि में एकता के दैवी स्रोत को ढूंढ़ निकाला। अब हमारे अनेक देवता एक बन गये, और अब एक ही देवता के अनेक देवता भिन्न-भिन्न नाम कहाने लगे। समन्वय की यह प्रवृत्ति जन-जीवन के हर क्षेत्र में फल-भरित संपन्न हुई; और अब हमें आवश्यकता प्रतीत हुई कि अथर्वन् के वेद में पुरोहित का कर्म-काण्ड मिला दिया जाय और पुरोहित के ऋग्वेद में अथर्वन् के यातु का समावेश कर दिया जाय। समय ने इन दोनों आवश्यकताओं को पूरा कर दिया—निदान, अथर्ववेद में कर्म-काण्ड आ गया और ऋग्वेद में, दसवें मण्डल के रूप में, यातु का प्रवेश हो गया। परिणाम इसका यह हुआ कि अथर्वन् और पुरोहित दोनों एक दूसरे के पास आ लगे।

आदि-काल से ही मानव ने वर्तमान को छेक कर भूत एवं भविष्य की चर्चा की है:—जो दीखता है उसमें चाह किसकी रही है, जो देखा था वह सभी को प्यारा लगता है, जो आगे आयगा वह सभी को हिरण्मय दीख पड़ता है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने बारबार कहा है : 'परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः'; उनकी इस उक्ति का सार इसी तथ्य में संनिहित है।

इसी तथ्य की रेखा में जो काम भौतिक उपकरणों से नहीं संपन्न हो पाता था उसे मानव ने अपने मन से साधने की ठानी; उसे अपनी प्रार्थना से पूरा करना चाहा। ओझा ने अपनी झाड़-फूंक में प्रार्थना के मन्त्र पढ़ने आरम्भ कर दिये और पुरोहित ने अपने यागों में प्रार्थना के मन्त्रों के 'स्यूमन्' गूंथ दिये। दोनों ही के लिये प्रार्थना इष्ट-साधन का प्रमुख साधन बन बैठी, गरिमा प्राप्त करने का सब से अमोघ उपाय बन गई। वृद्ध्यर्थक √बृह् धातु से निष्पन्न हुए 'ब्रह्मन्' शब्द का एक अर्थ हमने प्रार्थना इसी लिये किया है।

भारतीय अथर्वन् का 'ब्रह्मन्' और ईरानी अथर्वन् का 'ब्रेरेह्मन्' उनका अमोघ अस्त्र रहा है। दूसरी ओर ऋग्वेद के पुरोहित का 'ब्रह्मन्' देवताओं को वश में करने का सब से प्रबल साधन सिद्ध हुआ ! अपने कर्म-काण्ड पर वह इसी प्रार्थना के मन्त्रों को पढ़ता था—उसके ऋग्वेद में 'ब्रह्मन्' इन्हीं प्रार्थना-मन्त्रों को कहते हैं।

समय चलता गया और अथर्वन् और पुरोहित की होड़ बढ़ती गई : अथर्वन् ने याज्ञिक कर्म-काण्ड में दखल देना आरम्भ कर दिया और पुरोहित ने यातु के क्षेत्र में प्रवेश पाने का आग्रह दिखाया। संस्कार की धूमधाम कर्म-काण्ड को फब सकती है; पुरोहित ने अपने कर्म-काण्ड का विस्तार करते-करते उसे सीमा पार लगा दिया—अब वह अहीन सत्रों से उठ कर बारह वर्ष तक के, नहीं-नहीं अनन्त सत्रों पर आ पहुँचा। दूसरी ओर एक यातुविद् अथर्वन् का क्रिया-कलाप एकान्त में फला करता है; क्योंकि भूत-परेत एकान्त में उभरा करते हैं, जमघट में नहीं। फलतः एक यातुविद् अपने मन्त्रों का करिश्मा एकान्त में दिखा सकता है, कलकल में नहीं।

कर्मकाण्ड द्वारा हम अपने जीवन को सुसंस्कृत करते हैं, उसे परिपूत बना कर अपने भावी जीवन को उज्ज्वल बना लेते हैं। इसके विपरीत यातुओं द्वारा हम अपने क्लेशों को कीलते हैं; दुःसत्त्वों द्वारा पकड़े जाने पर उनसे छुटकारा पाते हैं। आधि-व्याधियों एवं भूत-परेतों का मानव-जीवन पर सीधा एवं मार्के का प्रभाव पड़ता है; फलतः अथर्वन् के यातु का जन-जीवन के साथ अधिक निकट का संबन्ध रहता आया है—और इसी लिये जन-सामान्य की दृष्टि में एक यातुविद् का महत्त्व अधिक रहता आया है।

निश्चय ही जो व्यक्ति हमारी आधि-व्याधियों को दूर भगाता एवं हमें भूत-परेतों से उन्मुक्त करता है हमारे लिये ज्ञान उसी का असल है, करिश्मा उसीका मार्के का है—क्योंकि कहावत है 'जादू वह जो सिर चढ़ कर बोले'।

और जब समन्वय की प्रक्रिया फल-भरित होकर जनता के संमुख उभरी तब अथर्ववेद के ब्रह्मा को यज्ञ में ऊँचा स्थान मिल गया और यातुओं का खिलाड़ी ब्रह्मा अब कर्म-काण्ड की

वेदि पर भी पुरोहितों का मूर्धन्य बन बैठा। ऋग्वेद के 'ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्' का कुछ इसी प्रकार का आशय है; और सचमुच परोक्ष जगती का ज्ञाता ब्रह्मा जात-मात्र या भूत-मात्र का द्रष्टा स्वयमेव बन जाता है। और जब 'शी-र' जातवेदस् का प्रतीक अथर्वन् जात-विद्या का ख्यापक ब्रह्मा बन कर कर्म-काण्ड की वेदि पर महा-महिम बनकर चर्चित हुआ तब उसके लिये अध्यात्म का उपवक्ता बनना आवश्यक बन गया; उसे अपने वेद में अध्यात्म-विद्या को रखना लाजमी बन गया—अथर्ववेद के पिछले काण्डों में आने वाले अनमोल आध्यात्मिक सूक्तों का रहस्य उसकी इसी जात-विद्यता की चाह में छिपा हुआ है।

अथर्वन् की अथर् (=आतिश) माङ्गलिक थी, सौख्य एवं क्षेममय थी; अथर्ववेद के प्रमुख अंश में सौख्य एवं क्षेम के गीत हैं; उसमें मानव को सुख-चैन देने के लिये प्रार्थनायें हैं—जादू-टोने हैं। अथर्ववेद का यह पक्ष शिव है, मङ्गलमय है; जनता के लिये रुचिकर है। किंतु जब अथर्वन् के अथर् की दाहकता एवं ध्वंसता पर बल दिया गया तब वही अथर् 'अङ्गिरस्' (= चमकने वाला, √अञ्ज् व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु) बन गया; उसमें √अञ्ज् धातु के सभी अर्थ एक साथ समवेत हो गये; और अब अथर्वन् का गरिमामय रौद्र पक्ष 'अङ्गिरस्' कहाने लगा; दूसरे शब्दों में क्षेम-वाहक अथर्ववेद का 'आङ्गिरस वेद' दूसरा नाम पड़ गया। संक्षेप में एक ही अथर्वन् कालक्रमात् 'शिव' एवं 'घोर' इन दो में बंट गया; एक ही अथर्ववेद जलाष-भेषज एवं ध्वंस बन कर जनता के संमुख उभरा। उत्तर वैदिक काल के शिव-रुद्र में हमें यही प्रक्रिया प्रपञ्चित होती दीख पड़ती है। अग्नि के इस परम देव में उसके 'शिव' एवं 'रुद्र' दोनों ही पक्ष सर्वात्मना भासित हो उठे हैं। शिव के कण्ठ में गरल, उसके सिर पर जाह्नवी-स्रोत, उसके कन्धों पर भुजग-भोग, उसके मस्तक पर चिता-भस्म और उसके निवासस्थान श्मशान का रहस्य इसी समन्वय में संनिहित हुआ दीख पड़ता है।

और जब परोक्षदर्शी यातुविद् ने पुरोहित की वेदि पर ब्रह्मा का पद लिया, तब उसने अपने अथर्ववेद को ब्रह्म-वेद की संज्ञा से अलंकृत कर दिया, और अब उसका यातु-वेद ब्रह्म-वेद बनकर भारतीय साहित्य में पूजित हो उठा।

प्रपञ्च की प्रक्रिया सभी वेदों में फल-भरित बनकर सामने आई : सभी वेदों की शाखाएँ बनीं, ब्राह्मण बने, आरण्यक बने और सभी की परिनिष्ठा रहस्यमर्शी उपनिषदों में संपन्न हुई। निदान, अथर्ववेद की भी शाखाएँ फूटीं; कुछ पर फल लगे और कुछ छूंछी रह गईं; इसका भी ब्राह्मण बना, इसका भी 'वैतान' बना और इसका भी कौशिक-सूत्र सामने आया। इन सभी की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं; कौशिक का तो कहना ही क्या? उसमें तो आथर्वण यातु परा-काष्ठा पर जा लगा है; भोले जन-जीवन के सभी कोने उसमें जगमगा उठे हैं; कौशिक के सूत्र-दीपकों में मानवीय संस्कृति का सहजात पहलू अपने परिपूर्ण रूप में भासित हो उठा है। किंतु ब्राह्मण में तो कर्म-काण्ड का प्रपञ्च रहा करता है—क्योंकि उसकी तो रचना ही वैदिक मन्त्रों के कर्म-पक्ष को पल्लवित करने के लिये की गई है। किंतु ऐसा कर्म-काण्ड तो अथर्वन् का अपना असली क्षेत्र कभी रहा नहीं था; इसे तो उसने ऋग्वेदीय पुरोहित से छीनकर अपनाया था। बस, अथर्ववेद का गोपथ-ब्राह्मण ब्राह्मणत्व की दृष्टि से विपर्यस्त है; वह वैतान और

कौशिक दोनों के बाद बना है; उसने सभी से मुंह-मांगा उधार लिया है; और इस उधार लेने की उतावल में उसने 'इति ह स्माह कौषीतकि' तक को कौषीतकि-ब्राह्मण से उतार लिया है। गोपथ-ब्राह्मण जल्दी में बना है, इसकी शैली असंयत है, इसका विषय ओपरा है; और हर दृष्टि से यह ब्राह्मण अपने जैसा आप है।

निश्चय ही गोपथ-ब्राह्मण इस नाम का एक अर्थ रहा था, जिस पर विद्वानों का ध्यान आज तक नहीं जा पाया है। हमें स्मरण है कि कभी पुराण वैदिक युग में ब्राह्मणों की गौओं को पणियों ने पहाड़ों की खोहों में जा छिपाया था। उनकी ढूँढ़ में सरमा निकली थी; दुर्गम पथों के नदी-नालों को लांघती हुई वह पणियों के 'निरेक' गढ़ तक जा पहुँची थी और वहाँ ब्राह्मणों की गौओं को देखकर उसने उनकी सूचना इन्द्र को दी थी। गौओं का समाचार पाकर इन्द्र ने पणियों के बल को तोड़-फोड़ कर इन गौओं को आजाद कराया था—इन्द्र के इस साहस-कृत्य में अङ्गिरसों ने उसका हाथ बंटाया था—बस इसी बात में गोपथ-ब्राह्मण इस नाम का रहस्य छिपा हुआ है। गौओं के पथों को 'अङ्गिरस्' जानते थे; यह ब्राह्मण अङ्गिरसों का ब्राह्मण है—गोपथ-ब्राह्मण अथर्व-अङ्गिरसों का ब्राह्मण है।

किंतु अङ्गिरसों की अपनी विशेषता तो रहस्य-विद्या थी; उनकी यह विद्या भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से फल-भरित हुई थी—बस, अथर्व-अङ्गिरसों ने अपने जीवन की परिनिष्ठा उपनिषदों के क्षेत्र में हासिल की; और इसी क्षेत्र में पहुँचकर इन्हें चार चाँद लगे; और अपने जीवन की संध्या में इन आथर्वणों ने इतनी उपनिषदों की रचना की जितनी कि अन्य किसी भी वेद को प्राप्त न हो पाई; और इन उपनिषदों में उन्होंने आध्यात्मिकता की उस गहरी तलैटी में गोते लगाये जो अन्य उपनिषदों में ढूंढ़े नहीं मिलती।

इस प्रकार संक्षेप में हमने देखा कि अथर् के पुजारी अथर्वन् का भारतीय जनता में क्या स्थान था, उसकी जीवन-चर्या क्या थी, अथर्वन् से चलकर वह अङ्गिरस् कैसे बना और उपनिषदों में उसने कैसे और कितनी परिनिष्ठा प्राप्त की। दूसरे शब्दों में हमने देखा कि भारत में शिव-रुद्र का उत्थान कैसे हुआ।

अथर्वणों के शिव-रुद्र जैसा ही उनका वेद भी शिव-रुद्र है; वह ऊबड़-खाबड़ है; अन्य वेदों से बहुत दूर है; शिव की तरह वह माङ्गलिक एवं घोर दोनों है, इसमें क्रम-भङ्ग है, छन्दो-भङ्ग है, इसके विविध भङ्गों में ही इसकी निराली भङ्गियां हैं, इसकी त्रुटियों में ही इसकी अनोखी कलियां चटकी हैं। अथर्ववेद भारत का वह लोकालोक है, जिस पर स्वयं शिव-रुद्र विराजते हैं, इसके मङ्गल और अमङ्गल में ही भारतीय दर्शन ने अपनी परा-काष्ठा को प्राप्त किया है।

सूर्यकान्त

विषय-सूची

खण्ड १

अथर्ववेद—सामान्यतः

(क) अथर्ववेद का स्वरूप तथा समय ३

१ अन्य वेदों के साथ तुलना ,,
२ लोक-प्रचलित और पौरोहित्य-संबन्धी साहित्य का सापेक्ष समय ४
३ आथर्वण संस्करण का समय ५
४ अथर्ववेद का ब्राह्मणों एवं धर्मग्रन्थों से संबन्ध ७

(ख) अथर्ववेद का ऐतिहासिक स्वरूप और इसका गृह्य-सूत्रों से संबन्ध ९

५ अथर्ववेद और गृह्यसूत्रों का पारस्परिक संबन्ध और ऐतिहासिक मूल्य ,,
६ प्राचीन जीवन के अभिलेख-रूप में अथर्ववेद का क्षेत्र ११

(ग) अथर्ववेद के नाम और उनके अर्थ १३

७ अथर्वाङ्गिरसः समास और इसके दो पदों अथर्वन् और अङ्गिरस् का अर्थ ,,
८ अथर्वन् और अङ्गिरस् के अन्तर का कारण १७
९ भृग्वङ्गिरसः, ब्रह्मवेदपद और आथर्वण पुरोहितों के अभिधान १८

(घ) अथर्ववेद की शाखाएँ २१

१० अथर्व-शाखा-संबन्धी विवरणों का स्वरूप और स्रोत ,,
११ अथर्ववेद की ९ शाखाएं (१. पैप्पलाद, २. तौद या तौदायन, ३. मौद या मौदायन, ४. शौनकीय या शौनकिन्, ५. जाजल, ६. जलद, ७. ब्रह्मवद, ८. देवदर्श या देवदर्शिन्, ९. चारण-वैद्य) २२
१२ शाखाओं का ऐतिहासिक मूल्याङ्कन और उनका सूत्रों के आचार्यों से संबन्ध २४
१३ संहिता की शौनकीय एवं पैप्पलाद शाखाएं २५
१४ पैप्पलाद शाखा का संक्षिप्त विवरण २७

(ङ) आथर्वण साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा २८

१५ संहिताएं, सूत्र एवं ब्राह्मण ,,
१६ कल्प और परिशिष्ट

१७ पैठीनसि-स्मृति ३१
१८ आथर्वण उपनिषद् ,,
१९ व्याकरण और इतिहास-संबन्धी रचनाएं ३५

(च) आर्यों के साहित्य में अथर्ववेद का स्थान ३६

२० अथर्ववेद का सामान्य मूल्याङ्कन ,,
२१ ऋग्वेद में अथर्वन् ३७
२२ स्वयं अथर्ववेद में अथर्वन् ,,
२३ श्रौत पाठों में अथर्वन् ३९
२४ उपनिषदों में अथर्वन् ४२
२५ गृह्यसूत्रों में अथर्वन् ४४
२६ धर्मशास्त्रों में अथर्वन् ४६
२७ महाभारत में अथर्ववेद ५१
२८ संस्कृत, जैन और बौद्ध साहित्य में अथर्वन् ५२
२९ व्याकरण, कोश एवं इतिहास-संबन्धी रचनाओं में अथर्वन् ५३

(छ) अथर्ववेद अपने याज्ञिक साहित्य की दृष्टि में ५४

३० अथर्ववेद और इसके पुरोहितों के प्रति याज्ञिक ग्रन्थों का दृष्टिकोण ,,
३१ याज्ञिक ग्रन्थों में अथर्ववेद का महत्त्व, विस्तार तथा ब्रह्मा का पद ५५
३२ याज्ञिक ग्रन्थों में पुरोहित का स्थान ५६
३३ अथर्ववेद और उसके पुरोहितों की महत्त्व-वृद्धि के कारण ५८
३४ अथर्ववेद के साथ पुरोहित का संबन्ध और पुरोहित तथा ब्रह्मा का पारस्परिक संबन्ध ६२

खण्ड २

शौनक शाखा में अथर्ववेद का संस्करण एवं बाह्य स्वरूप

(क) सूक्तों का विभाजन एवं विन्यास ६६

३५ संहिता का २० काण्डों में विभाजन ,,
३६ विभिन्न विस्तार वाले सूक्तों के अनुसार काण्डों का विन्यास ६८
३७ काण्डों के अन्दर सूक्तों का विन्यास ७४

(ख) आथर्वण छन्द और उनका ग्रन्थ के आलोचनात्मक संग्रह से संबन्ध ७९

३८ छन्द; आथर्वणिक अनुष्टुभ् की ओर विशेष निर्देश के साथ ,,
३९ आथर्वण छन्दों में आलोचनात्मक सुधार ८२
४० मन्त्रों का क्रम तथा संयोजन ८५

(ग) अन्य वैदिक संग्रहों से अथर्ववेद का संबन्ध ८७
४१ अथर्वसंग्रह की विशेषताएँ और इसका आपस्तम्ब श्रौतसूत्र एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण से संबन्ध „
४२ अथर्ववेद की भाषा की ऋग्वेद की भाषा से तुलना ९३
४३ ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के विविध पाठ ९५
४४ ऋग्वेद से तुलना करने पर अथर्ववेद में उच्च परंपरा के संकेत १००
४५ आथर्वण उद्देश्यों के लिये याजुष विषयों का अपनाना और उनमें वृद्धि करना १०३
४६ अथर्ववेद और याजुष संहिताओं के विविध पाठ १०९
४७ अथर्ववेद एवं श्रौतसूत्रों के समानान्तर पाठ ११५
४८ याजुष ग्रन्थों के साथ तुलना करने पर अथर्ववेद में उत्तम परंपरा के चिह्न ११६

खण्ड ३

शौनकीय शाखा के अथर्ववेद का वर्ण्य विषय

४९ सूक्तों का वर्गीकरण ११९
५० वर्ग १—रोगों एवं प्रेत आदि की पकड़ से मुक्ति दिलाने वाले अभिचार १२०
५१ वर्ग २—दीर्घायुष्य एवं स्वास्थ्यप्राप्ति के लिये प्रार्थनाएँ १३०
५२ वर्ग ३—दैत्यों, आभिचारिकों एवं शत्रुओं के विरुद्ध टोने (आभिचारिकाणि एवं कृत्या-प्रतिहरणानि) १३४
५३ वर्ग ४—स्त्रियों से संबद्ध मन्त्र (स्त्री-कर्माणि) १४२
५४ वर्ग ५—सांमनस्य एवं सभा पर धाक आदि की प्राप्ति के अभिचार (सांमनस्यानि) १४८
५५ वर्ग ६—राजकर्मविषयक अभिचार (राज-कर्माणि) १५२
५६ वर्ग ७—ब्राह्मणों के हित में प्रार्थना एवं शाप १५८
५७ वर्ग ८—समृद्धि प्राप्त करने और विपत्ति से छुटकारा पाने के अभिचार (पौष्टिकानि) १६४
५८ वर्ग ९—पाप एवं अशुद्धि के प्रायश्चित्त के लिये अभिचार (प्रायश्चित्तानि) १७२
५९ वर्ग १०—सर्ग-संबन्धी एवं आध्यात्मिक सूक्त १७८
६० वर्ग ११—याज्ञिक तथा सामान्य सूक्त १८७
६१ वर्ग १२—व्यक्तिक विषयों का विवेचन करने वाले काण्ड = १३—१८ १९४
६२ वर्ग १३—बीसवां काण्ड १९८
६३ वर्ग १४—कुंताप-सूक्त १९९

खण्ड ४

गोपथ-ब्राह्मण

(क) ग्रन्थ का अथर्ववेद से संबन्ध एवं वैदिक साहित्य में स्थान २१२
६४ सामान्य निरूपण „

६५ उत्तर-ब्राह्मण २१३
६६ पूर्व-ब्राह्मण २२२

(ख) पूर्व-ब्राह्मण का विषय २३०

६७ प्रथम प्रपाठक : १.१.१—१५ २३०
६८ प्रथम प्रपाठक : १.१.१६—३० प्रणव उपनिषद्—ओम् से रचित सृष्टि का विवरण २३२
६९ प्रथम प्रपाठक : १.१.३१—३८ गायत्री उपनिषद् २३४
७० प्रथम प्रपाठक : १.१.३९ आचमन-क्रिया २३५
७१ द्वितीय प्रपाठक : १.२.१—९ ब्रह्मचारी के कर्तव्य २३६
७२ द्वितीय प्रपाठक : उपसंहार—विविध विषय : १.२.१०—१४ यज्ञ और यज्ञ-स्थान का विचार (१.२.१५—१७ अग्न्याधेय पर ब्रह्मौदन; १.२.१८—२१ अग्न्याधेय में लौहशफ अश्व; १.२.२२—२३ सांतपन अग्नि; १.२.२४—१.३.५ आथर्वणिक ब्रह्मा पुरोहित की श्रेष्ठता) २३७
७३ तृतीय प्रपाठक : विविध विषय (१.३.१—५ आथर्वणिक ब्रह्मा की प्रधानता, १.३.६—१० दर्श और पूर्णमास यज्ञ की रहस्यात्मक व्याख्या, १.३.११—१६ अग्निहोत्र के समय के कार्यों की रहस्यपूर्ण व्याख्या, १.३.१७—२३ अग्निष्टोम पर और विशेषतः यजमान की दीक्षा पर नोट) २४०
७४ चतुर्थ प्रपाठक : वार्षिक सत्र का रहस्यमय आध्यात्मिक विवरण २४३
७५ पञ्चम प्रपाठक : १.५.१—२२ वार्षिक सत्र के विवरण का उपसंहार २४५
७६ पंचम प्रपाठक : १.५.२३—२५ यज्ञ के विषय में छन्दोबद्ध प्रबन्ध २४८

(ग) उत्तर ब्राह्मण का विषय = यज्ञकर्म २४९

७७ प्रथम प्रपाठक : २.१.१—१२ दर्शपूर्णमास बलियां ,,
७८ द्वितीय प्रपाठक : २.२.१—४ अग्निष्टोम का तनूनप्त्र कर्म २५१
७९ तृतीय प्रपाठक : २.३.१—११ अग्निष्टोम चालू : वषट्कार और अनुवषट्कार ऋतुग्रह आदि २५४
८० चतुर्थ प्रपाठक : २.४.१—३ माध्यन्दिन सवन (उपसंहार) २५७
८१ पंचम प्रपाठक : २.५.१—५ अतिरात्र क्रियाएँ २५९
८२ षष्ठ प्रपाठक : अहीन याग (क्रमशः) २६१
विषयानुक्रमणिका २६५

लघुरूप-सूची

अजफि०	=	अमेरिकन जर्नल ऑफ फिलोलजी
अथप०	=	अथर्व-पद्धति अथवा आथर्वणीय पद्धति कौशिकसूत्र पर
अथपरि०	=	अथर्व-परिशिष्ट
अथप्रा०	=	अथर्व-प्रातिशाख्य
अवे०	=	अथर्ववेद (शौनकीय)
अवेपै०	=	अथर्ववेद पैप्पलाद
आकै विवी०	=	आबहाण्डलुङ्गन देर कैजरिश्शन अकादमी देर विस्सनशाफ्तन त्सु वीन
आगृ०	=	आश्वलायन-गृह्यसूत्र
आपगृ०	=	आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र
आप मं ब्रा०	=	आपस्तम्ब मन्त्रब्राह्मण अथवा मन्त्रपाठ
आपश्रौ सू०	=	आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र
आप्र ए वि०	=	आबहाण्डलुङ्गन देर कोइनिग्लिशन प्रसिश्शन अकादमी देर विस्सनशाफ्तन
आबहाण्डलुङ्ग	=	आबहाण्डलुङ्ग उबेर देन अथर्ववेद
आर सं०	=	आरण्यकसंहिता
आ ले०	=	आलितन्दिश्शेस लेबन, त्सिमर
आ श्रौ सू०	=	आश्वलायन-श्रौतसूत्र
इं लि०	=	इन्दिश्शे लितरात्यूरगेशिश्ते, वेबर
इं स्त्रा०	=	इन्दिश्शे स्त्राइफन
इस्तू०	=	इन्दिश्शे स्तूदियन
ऋवे०	=	ऋग्वेद
ऐ आ०	=	ऐतरेय आरण्यक
ऐ ब्रा०	=	ऐतरेय ब्राह्मण
ओलिंस्ट	=	ओरियण्टल ऐण्ड लिंग्विस्टिक स्टडीज
ओसंटै०	=	ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट्स

कण्ट्रिब्यूशन्स	=	कण्ट्रिब्यूशन्स टु दि इन्टरप्रिटेशन ऑफ दि वेद, ब्लूमफील्ड
कपिसं०	=	कपिष्ठल-संहिता
का श्रौ सू०	=	कात्यायन-श्रौतसूत्र
का सं०	=	काठक-संहिता
कुत्सा०	=	कुह्न्स त्साइतश्रिफ्त फ्यूर फेर्ग्लाइशेन्दे श्प्राखफोर्शुङ्ग
कौ ब्रा०	=	कौषीतकि-ब्राह्मण
कौ सू०	=	कौशिक-सूत्र
गोगृसू०	=	गोभिल-गृह्यसूत्र
गोगे आ०	=	गोत्तिङ्गिशे गेलेहेर्ते आन्त्साइगन
गौधसू०	=	गौतम-धर्मसूत्र
छा उ०	=	छान्दोग्योपनिषद्
ज अ ओसो०	=	जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी
ज बें ए सो०	=	जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बेंगाल
ज़ि को प्र अ वि०	=	ज़ित्सुङ्ग्सबेरिश्ते देर कोइनिग्लिशे प्रसिश्शन अकादमी देर विस्सनशाफ्तन
जू ए०	=	जूर्नाल् एशियातीक
जै ब्रा०	=	जैमिनीय ब्राह्मण
जै ब्रा०	=	जैमिनीय ब्राह्मण उपनिषद्
तै आ०	=	तैत्तिरीय आरण्यक
तै ब्रा०	=	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै सं०	=	तैत्तिरीय संहिता
त्सादा मौगे०	=	त्साइतश्रिफ्त देर दायत्शन मौर्गनलान्दिश्शन गेज़लशाफ्त
दा लि त्सा०	=	दायत्शे लितरात्यूर त्साइतुङ्ग
पं ब्रा० अथवा पं विं ब्रा०	=	पञ्चविंश ब्राह्मण अथवा ताण्ड्य ब्राह्मण
पागृसू०	=	पारस्कर-गृह्यसूत्र
प्रो अ ओ सो०	=	प्रोसीडिङ्ग्स ऑफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी
प्रो बे ए सो०	=	प्रोसीडिङ्ग्स ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बेंगाल
बृ उ०	=	बृहदारण्यकोपनिषद्
बे को ज़ा गे वि	=	बेरिश्ते देर कोइनिग्लिशे ज़ाखजिश्शन गेज़लशाफ्त देर विस्सनशाफ्तन
बे बा०	=	बेत्सनबर्गर्स बाइत्रागे त्सुर कुन्दे देर इन्दो-जर्मानिश्शन श्प्राखन
बौधा ध०	=	बौधायन धर्मसूत्र

मागृसू०	=	मानव-गृह्यसूत्र
मै सं०	=	मैत्रायणि-संहिता
ला श्रौ सू०	=	लाटचायन-श्रौतसूत्र
वा धसू०	=	वासिष्ठ-धर्मसूत्र
वासं०	=	वाजसनेयि-संहिता — माध्यंदिन शाखा की
वीत्साकुमौ०	=	वीनेर त्साइतश्रिफ्त फ्यूर दी कुन्दे देस मौर्गनलान्देस
वैसू० या वैतान	=	वैतान-सूत्र
वैस्तू०	=	वैदिश्शे स्तूदियन
वोबू०	=	वोर्टेरबूख = रॉथ—बोहटलिङ्क
शब्रा०	=	शतपथ-ब्राह्मण
शांगृसू०	=	शांखायन–गृह्यसूत्र
शां श्रौ सू०	=	शांखायन–श्रौतसूत्र
षब्रा०	=	षड्विंश ब्राह्मण
सा वि ब्रा०	=	सामविधान-ब्राह्मण
सा वे०	=	सामवेद
सेबुई०	=	सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट
हिऐं सं लि०	=	हिस्ट्री ऑफ ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर
हिगृसू०	=	हिरण्यकेशि-गृह्यसूत्र

अथर्ववेद एवं गोपथ-ब्राह्मण

खण्ड १

अथर्ववेद–सामान्यतः

(क) अथर्ववेद का स्वरूप तथा समय

१. अन्य वेदों के साथ तुलना— अथर्ववेद बीस काण्डों में विभक्त ७३० सूक्तों का संग्रह है, जिसमें लगभग ६००० मन्त्र हैं। संपूर्ण का षष्ठांश, जिसमें पूरे दो काण्ड (१५ और १६) समाविष्ट हैं, गद्य में लिखा गया है और इसकी शैली एवं भाषा ब्राह्मणों के समान है। शेष वेद पद्यात्मक है, और प्रचलित वैदिक छन्दों में निबद्ध है। इन पद्यों के निर्माण में स्वतन्त्रता बरती गई है; और छन्दों के जिन नियमों का पालन ऋग्वेद के मन्त्रों में किया गया है, उनके प्रति या तो अनभिज्ञता प्रकट की गई है, अथवा उनकी उपेक्षा की गई है। अथर्ववेद के कर्तृत्व के विषय में कोई विश्वसनीय परंपरा ज्ञात नहीं है। सूक्त स्वयं कुछ नहीं कहते और इस विषय में अथर्ववेद की सर्वानुक्रमणिका का विवरण भी सुतरां असंगत है। ऋक्, साम एवं यजुः की तरह—जो क्रमशः स्तुति-सूक्तों, गेय-गीतों और याज्ञिक पद्यों एवं सूत्रों में संकलित हैं—अथर्ववेद के नामों से न तो इसके विषय के स्वरूप का ही बोध होता है, और न इसके मन्त्रों की प्रयोग-पद्धति की ही झलक मिलती है। 'ब्रह्मवेद' यह नाम तो इसका बहुत बाद पड़ा है; और इससे मुख्यतः यातुक्रिया तथा अभिचार से संबन्ध रखने वाले वेद का बोध नहीं होता, अपितु ब्रह्म (पावन शब्द या धर्म) के वेद का बोध होता है। यह नाम भी एक टेढ़े तरीके से प्राप्त हुआ है। 'भेषजानि' और 'यातु' आदि वर्णनात्मक नाम एकाङ्गी वर्णन प्रस्तुत करते हैं; और यद्यपि ये सुपरिचित हैं तथापि इनका व्यापक रूप से प्रयोग नहीं हुआ है। इसके विपरीत इस वेद का संबन्ध प्रागैतिहासिक आख्यानोक्त 'अथर्वन्' और अङ्गिरस् (तथा बाद में भृगु भी) नामक अग्नि-पूजकों से रहा है, और इसी कारण इसका नाम 'अथर्वाङ्गिरसः', 'भृग्वङ्गिरसः' और अन्त में 'अथर्व-वेद' भी पड़ा है। यह माना गया है कि यह संबन्ध सर्वथा गौण है और इसका आधार इन नामहीन रचनाओं को उस प्राचीनता एवं महत्ता से विभूषित करने की स्वाभाविक इच्छा है, जिसका ये दावा नहीं कर सकतीं। किंतु, 'अथर्वन्' और 'अङ्गिरस्' ये दोनों नाम इस वेद के मन्त्रों में उसी अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, जिसमें कि अथर्ववेद का सबसे प्राचीन

नाम 'अथर्वाङ्गिरसः' प्रयुक्त हुआ है। यह बात स्मरणीय है कि आथर्वणिक क्रियाओं और गृह्यकर्मों का केन्द्र अग्नि है, जब कि विशाल वैदिक क्रिया-कलाप का संबन्ध मुख्यतः सोम से है। अतः यह विश्वास करना संगत होगा कि वैदिक हिन्दू जब इन अभिचारों को 'आथर्वण' और 'आङ्गिरस' इन नामों से पुकारते थे, तब उनका तात्पर्य उन अग्नि-मन्त्रों से होता था, जिनका उच्चारण अग्नि में सोम के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की आहुति डालते समय किया जाता था।

२. *लोक-प्रचलित और पौरोहित्य संबन्धी साहित्य का सापेक्ष समय*—कैसे भी हो, एक ओर ऋक्, साम, एवं यजुर्वेद और दूसरी ओर अथर्ववेद के नामों का अन्तर, वैदिक साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर है। कल्पनाप्रवण आध्यात्मिक साहित्य के उदय को छोड़कर, जिसका दोनों वर्गों अर्थात् ऋग्वेद और अथर्ववेद में खुले हाथों निर्माण हुआ है, हमें वैदिक साहित्य के दो प्रधान विभाग मिलते हैं : सोमयाग-प्रधान तीन वेद और गृह्यकर्म-प्रधान अथर्ववेद; अर्थात् पहला पौरोहित्य-संबन्धी और दूसरा लोक-प्रचलित। विभाजन के इस आधार का आथर्वण साहित्य के समय-निर्धारण में विशेष महत्त्व है। इससे यह बात व्यक्त हो जाती है—और नृवंशविद्या-विचार से तर्कसंमत भी ठहरती है—कि वैदिक इतिहास में कोई भी समय ऐसा नहीं था, जब कि गृह्य-क्रिया-कलाप एवं आथर्वण-संबन्धी मन्त्र न रहे हों; और साथ ही पूर्ण विकसित पौरोहित्य-मन्त्र एवं सोमयाग न रहे हों। सच पूछो तो किसी न किसी रूप में ये दोनों ही प्रागैतिहासिक हैं। पौरोहित्य धर्म अवेस्ता की 'हओम' पूजा के साथ जा मिलता है, जब कि आथर्वण अभिचार एवं अन्य क्रिया-कलाप संभवतः इससे भी प्राचीन हैं; और हो सकता है कि ये भारोपीय युग के हों। कम से कम वह व्यक्ति, जो आथर्वण अभिचार एवं कृत्यों में और ट्यूटॉनिक एवं अन्य भारोपीय जातियों के अभिचार एवं कृत्यों में मिलने वाले साम्य को सुतरां आकस्मिक नहीं मानता, अथर्ववेद के सभी मन्त्रों एवं गृह्यसूत्रों के बाद के वैदिक समय का बताने में संकोच करेगा। विवाह-विषयक अभिचारों एवं अन्त्येष्टि-संबन्धी जैसे मन्त्रों के विषय में तो ऐसा मानना स्पष्ट रूप से असंभव है; साथ ही केवल अथर्वसंहिता में मिलने वाले कुछ मन्त्रों (जैसे ४. १२[1]) के विषय में भी ऐसा मानना सुतरां असंगत है। अथर्ववेद में पाये जाने वाले अभिचारों, आशीः, एवं शापों के विस्तृत समूह का जो विश्लेषण आगे इस पुस्तक में (तृतीय खण्ड) प्रस्तुत किया गया है, उसे देखने से इस बात की पुष्टि हो जाती है। वह कौन-सी प्रेरणा थी जिसने बाद के काल में ऐसी प्रबल एवं प्रचलित आवश्यकता को जन्म दिया, और साथ ही इसकी संतुष्टि

१. रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी। रोहयेदमरुन्धति ॥ अ० ४।१२।१ इत्यादि ७ मन्त्र

के ऐसे उत्कृष्ट साधनों को प्रस्तुत किया: वे अवस्थाएँ कौन थीं, जिन्होंने प्रारम्भिक एवं मौलिक वैदिक युग को इन आवश्यकताओं और इनकी तृप्ति से मुक्त रखा था? यह मान लिया गया है कि भारत के अर्धसभ्य आदिमवासियों के साथ वैदिक लोगों के घनिष्ठ संपर्क के कारण ही हिन्दुओं के विश्वासों और साहित्य में भी अर्धसभ्यता की पुट आ गई है। निश्चय ही कुछ सीमा तक तो यह ठीक है, पर अथर्ववेद जैसे विस्तीर्ण साहित्य के विषय में यह बात लागू नहीं होती। क्योंकि यह वेद सीमित रूप में ही आदिम निवासियों की सभ्यता की ओर संकेत करता है। अन्य बीभत्स एवं विचित्र कृत्यों के साथ दैत्य-पूजा भी अथर्ववेद एवं तत्-संबद्ध गृह्यसूत्रों का एक भाग है; और यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि यह सब बाह्य स्रोतों से लिया गया है। इसके विपरीत आथर्वण अभिचार ऋग्वेद के देवताओं की कलाप्रधान प्रार्थनाओं की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक आर्य भावनाओं से ओतप्रोत हैं (३. १२; ३. ३०; ४. ८; ७. ३६ और ३७)।[1] साथ ही ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भाषा, शैली और छन्द का अन्तर सदा समय के अन्तर के कारण ही नहीं, अपितु बोली के कारण भी समझा जाना चाहिये। निम्न-वर्ग के लोगों (लोक-साहित्यों) की भाषा का उच्च-वर्ग के पुरोहित-कुलों की भाषा से भिन्न होना स्वाभाविक ही था। यह बात नीचे (कण्डिका ३८ और ४२ में) प्रदर्शित की जायगी।

३. आथर्वण संस्करण का समय—इस विषय में लेशमात्र भी संदेह नहीं कि अथर्ववेद के वर्तमान संग्रह, संपादन-क्रिया के अन्तिम परिणाम हैं, और ये ऋग्वेदीय संग्रह से नितान्त परवर्ती हैं। इसमें भी संदेह नहीं कि अथर्ववेद के बहुत से सूक्त और गद्यांश वैदिक निर्माण-काल में बहुत बाद के हैं। आथर्वण

---

१. इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम॥ अ० ३।१२।१ इत्यादि ९ मन्त्र
सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ अ० ३।३०।१ इत्यादि ७ मन्त्र
भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम्॥ अ० ४।८।१ इत्यादि ७ मन्त्र
अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम्।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति॥ अ० ७।३६।१
अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन॥ अ० ७।३७।१

सूक्त और गृह्य-कर्म पूर्णतः ऋषि-प्रभावित एवं ब्राह्मणीय रूप में दिखाई पड़ते हैं। अत्यन्त प्रारम्भिक नृवंश-वर्णन-संवन्धी मन्त्र एवं क्रियाएँ पुरोहितों के मोहक जाल में वद्ध हो गई हैं और उन्हें सर्वसाधारण वैदिक धर्म का अङ्ग वना दिया गया है। इस प्रकार अपने वाह्य रूप में अथर्ववेद लोक-प्रचलित भावनाओं को उसी गौरवमय रूप में उपस्थित करता है, जैसे ऋग्वेद सोमयाग को। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण पुरोहित अभिचार और तन्त्र-मन्त्र को धर्म के रूप में लेते हैं, अन्ध-विश्वास के रूप में नहीं। इसके स्वाभाविक परिणामस्वरूप वैदिक देवगण निम्न-स्तर पर लाये गये हैं, और सामान्य लोगों के आचारों एवं अन्ध-विश्वासों में भाग लेते दिखाये गये हैं। किंतु अन्तर स्पष्ट हो जाता है—यहाँ वे यान्त्रिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं, विकासहीन वन गये हैं; और ऋग्वेद जिस विन्दु पर उन्हें छोड़ता है उससे आगे कदाचित् ही वे अपने स्वरूप को विकसित कर पाये हैं। अग्नि, इन्द्र, मरुत्, वृहस्पति आदि प्रायशः एक ही शृङ्खला में प्रयुक्त हुए हैं, जिससे वैदिक देवगण विना अन्तर के, समान महत्त्ववाले प्रतीत होते हैं। प्राचीन काल से ही दानवों के हन्ता होने के कारण, दानवों, प्रेतों, मायिकों एवं आभिचारिकों की संतानों के विरुद्ध इनकी आवश्यकता पड़ती आई है। इस वेद में दानवादि जन-चेतना की निम्नतम गहराई से उठकर क्षितिज से ऊपर उभर आये हैं। अथर्ववेद के देवता राक्षसों के हन्ता होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। नीतिप्रिय वरुण भी, जो अपने गुप्तचरों के द्वारा दुष्टों एवं राक्षसों की पापमय क्रियाओं को जानने की अप्रतिहत क्षमता रखते हैं, यहाँ साधारण रूप में वर्णित हैं। उच्च विचार वाले व्यक्तियों में इन वातों के वैपरीत्य और दुरूहता के कारण जो आलोचना उठ खड़ी हुई है, वह वाद के युग की है। इन सव वातों के होते हुए भी कल्पनाप्रवण आध्यात्मिक विचार, जिनकी भारत में कभी कमी नहीं रही, ऋग्वेद में प्राप्त प्रारम्भिक अवस्था से विकसित होकर अथर्ववेद में अत्यधिक सूक्ष्मता एवं रहस्यवादिता पर पहुँच गये हैं; वे उपनिषदों के अति-प्रौढ अद्वैत-वाद तक न सही उसके समीप तो अवश्य ही जा पहुँचे हैं। अथर्ववेद की चक्की में पिस कर सभी वस्तुएँ एक हो गई हैं। यहाँ संपूर्ण आध्यात्मिक सूक्त ही घृणित शत्रुओं एवं आभिचारिकों के विरुद्ध शस्त्ररूप में प्रयुक्त नहीं हुए हैं, अपितु व्यक्तिगत कल्पनाप्रवण क्रियाएँ एवं आध्यात्मिक अस्तियाँ भी उस मायाजाल से संवद्ध हो गई हैं, जिसे 'वह जो हमसे घृणा करता है या जिससे हम घृणा करते हैं' के विरुद्ध प्रभावशाली माना गया है। यह वात इस असाधारण तथ्य को स्पष्ट करती है कि ८. ६[1] जैसा सूक्त भी, जो लोक-

१. यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ।
दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उत वत्सपः॥ अ० ८।६।१ इत्यादि २६ मन्त्र

साहित्य के निम्न-स्तर पर अवस्थित है, स्कम्भ (आश्रय १०. ७ और ८[1]) जैसे सूक्ष्म विचार वाले उन दो आध्यात्मिक सूक्तों के पार्श्व में जा विराजा है, जो ब्रह्मज्ञान और आत्मज्ञान के सर्वोच्च आदर्श को मुखरित करते हैं; अथवा 'असत्' को, जो सृष्टिविषयक एक भ्रामक भावना है, यातु क्रियाओं (४. १९. ६[2]) के विरुद्ध उभरा जा सका है। आथर्वण दानव-संबन्धी सूक्तों के दानवीय विषयों की अपेक्षा इस कोटि के विषयों से बाद के समय की ही झलक मिलती है। लोक-प्रचलित, पौरोहित्य-संबन्धी, एवं दार्शनिक विषयों का व्यावहारिक उद्देश्यों के लिये एक साथ प्रयोग, जो प्रायशः गौण है, ब्राह्मणों की चिन्तन-प्रवण क्रियाशीलता के काल को सूचित करता है।

४. *अथर्ववेद का ब्राह्मणों एवं धर्मग्रन्थों से संबन्ध*—ऐसा प्रतीत होता है कि अभी प्रयोग में लाये गए ब्राह्मण शब्द को, इसके संकीर्ण अर्थ, अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण के समय के अर्थ में लेना चाहिये। 'सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट' खण्ड ४२ में प्रकाशित अथर्ववेद की टीका से विज्ञ पाठक इस विषय पर प्रचुर प्रमाण प्राप्त कर सकता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की भावना—हम इसे ब्राह्मण-युग इसलिये नहीं कहते कि कभी भी कोई ऐसा युग नहीं था जिसमें केवल ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ हो—अथर्ववेद के प्रस्तुत संग्रह में ही पूर्ण रूप से संनिहित मिल जाती है। सबसे पहले ये सूक्त ब्राह्मणग्रन्थों की ही शैली में ब्राह्मण पुरोहितों के क्रियाकलापों एवं मांगों को ध्वनित करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों की ही भाँति अथर्ववेद में ब्राह्मण अपने को देव कहते हैं; और यहाँ उनका यह दावा उच्चतम शिखर पर पहुँच जाता है। वेबर के 'कलेक्टेनिआ आन दि कास्ट्स' की प्रस्तुत पुस्तक के 'ब्राह्मणों के हित में प्रार्थनाएँ और शाप' (प्रकरण ५६) से तुलना करने पर निश्चित रूप से आथर्वण संदर्भों की अपेक्षाकृत निम्न सीमा का भान हो जाता है। यह ब्राह्मणों के शास्त्रीय प्रयास के विकसित युग से संबद्ध है। इस बात के मानने में बाधा नहीं है कि ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण जैसे ग्रन्थों की रचना अथर्वसंहिताओं के संस्करणों से पहले की है। अथर्ववेद के विरल भौगोलिक तथ्य—विशेषतः यमुना तथा वरणावती नदियों और अङ्ग तथा मगध

---

१. कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम्।
क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥ अ० १०।७।१ इत्यादि ४४ मन्त्र
यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ अ० १०।८।१ इत्यादि ४४ मन्त्र

२. असद्भूम्याः समभवत्तद्यामेति महद्व्यचः।
तद्वै ततो विधूपायत्प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु ॥ अ० ४।१९।६

प्रदेशों के उल्लेख—पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व में भारत के विस्तार को प्रदर्शित करते हैं, जहाँ तक ब्राह्मण ग्रन्थों का कार्य-क्षेत्र फैल चुका था। इस विषय की ओर निर्देश करने वाले पशुविज्ञान-संबन्धी तथ्यों में सबसे अधिक स्पष्ट अथर्ववेद का चीते से परिचय है, जो बंगाल के जंगलों में और कदाचित् काशी के आस-पास के प्रदेश में भी अल्प संख्या में पाया जाता है। अथर्ववेद में एक ओर पुरोहितों, जात्यध्यक्षों तथा सामान्यजनों, इन तीन आर्यों, और दूसरी ओर आदिम सेवकवर्ग (दस्यु, शूद्र) में अनिवार्य एवं परिनिष्ठित प्रागैतिहासिक विभेद स्पष्ट है, जिसके अनुसार न केवल इन्हीं दोनों (आर्यों तथा शूद्रों) में, अपितु प्रथम तीन, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में भी विभेदक रेखा खिंच चुकी है। मानव एवं पशुशरीर-रचना का ज्ञान विकसित होकर, ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध अश्वमेध या पुरुषमेध की अवस्था तक नहीं तो उसके निकट तक तो पहुँच ही गया है। सूक्त ११. ७[1], जो उच्छिष्ट को देवत्व प्रदान करता है, केवल पाण्डित्यपूर्ण आध्यात्मिकता की बाल की खाल निकालना ही नहीं है, अपितु इसमें श्रौतयज्ञों की लम्बी सूची एवं सूक्तों तथा याज्ञिक गीतों (सामों) के उच्चारण के विशिष्ट स्वरूप भी विद्यमान हैं। त्वष्टा और सविता इन दो देवताओं का संयोग एवं इनकी प्रजापति से एकता ब्राह्मणों की आत्मा को प्रतिबिम्बित करती है (देखिये २. २६. १; ३. ८. २; ७. १७. ४[2])। दूसरी ओर अथर्ववेद में शास्त्रीय प्रयासों का विकसित युग —विशेषतः प्रायश्चित्त-सूक्तों में—दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेद के ६. ११०-१२१[3] सूक्त पाप (एनस्, किल्बिष आदि) का उसी प्रकार वर्णन करते हैं जैसे विधिग्रन्थ और धर्मग्रन्थ। इस प्रकार इस ग्रन्थ का 'पापों और दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त' प्रकरण (५८), जॉली के 'रेख्ट उन्ड सिट्ट' ग्रन्थ के 'धार्मिक दोष' नामक अनुच्छेद से बहुत-सी बातों में समान है, और यही बात सामविधान-ब्राह्मण के प्रायश्चित्त अध्यायों के

---

१. उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥ अ० ११।७।१ इत्यादि २७ मन्त्र

२. एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन्तान्गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ अ० २।२६।१
धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥ अ० ३।८।२
धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः ॥ अ० ७।१७।४

३. प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥ अ० ६।११०।१ इत्यादि

विषय में भी कही जा सकती है। विशेष ध्यान देने योग्य हैं ६.११७-११९[1] जिनका उद्देश्य अन्तःकरण को 'न शोधे ऋण के, विशेषतः द्यूत-क्रीडा संबन्धी ऋण के ताप से' शान्त करना है। ६.११२[2] और ११३ उन पापों के वर्गों का वर्णन करते हैं, जिन्हें देवताओं ने अपने ऊपर से उतार कर त्रित पर लाद दिया था, जैसे बड़े भाई से पहले छोटे भाई के विवाह करने, गर्भपात कराने, एवं ब्राह्मण-हत्या के पाप। यह सूक्त-समुदाय और इससे अत्यधिक संबद्ध तथाकथित कूष्माण्ड मन्त्र, तै० आ० २.३-९[3], मन्त्र तथा धर्म के पारस्परिक संबन्ध की दीर्घपरंपरा को सूचित करते हैं और यह बात आथर्वण संस्करण के लिये अधिक परवर्ती समय को निर्धारित करने में कुछ महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः बुद्ध एवं आर्षकाव्यों से पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य के सही समय का निर्धारण करना बालू की दीवाल बनाना है; और यह बात इतनी सत्य है कि अद्यावधि अलग-अलग मन्त्रों की रचना का समय निर्धारण करने के लिये कोई भी प्रभावक प्रयत्न नहीं किया जा सका है। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक सूक्त का और प्राचीन एवं प्रथा-संबन्धी संदर्भ का समय-निर्धारण, उसमें लगातार होते रहे परिवर्तन को ध्यान में रखकर करना चाहिये। साथ ही साथ संपूर्ण वैदिक-परंपरा के परस्पर-संबद्ध तथ्यों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। अथर्ववेद का काल निर्धारण करने के लिये अथर्ववेद के प्रमाणों को किसी एक बिन्दु पर एकत्र करना और एक अथर्ववेदीय युग की कल्पना करना उतना ही भ्रामक होगा जितना कि तथाकथित ऋग्वेदीय युग के तथ्यों को, उन्हें संपूर्ण प्रारम्भिक ब्राह्मणीय प्राचीनता से अलग करके, एक वर्ग में रखना।

(ख) अथर्ववेद का ऐतिहासिक स्वरूप और इसका गृह्यसूत्रों से संबन्ध

५. *अथर्ववेद और गृह्यसूत्रों का पारस्परिक संबन्ध और ऐतिहासिक मूल्य*—सभी जानते हैं कि प्राचीन भारत में सामान्यतः इतिहास, अर्थात् धर्म-निरपेक्ष इतिहास नहीं के तुल्य था। उसके बदले भारत के धर्म और विधानों का इतिहास अपनी क्रमबद्धता और पूर्णता की दृष्टि से प्राचीन समय के लोगों में अतुलनीय रहा। विशेषतः सामान्य दैनिक जीवन की दुर्बोध एवं पतली धारा, जिसका

---

१. अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान्विचृतं वेत्थ सर्वान्॥ अ० ६।११७।१ इत्यादि

२. मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात्परि पाह्येनम्।
स ग्राह्याः पाशान्वि चृत प्रजानन्तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे॥ अ० ६।११२।१ इत्यादि

३. यद्देवा देवहेळनं देवासश्चकृमा वयम्। आदित्यास्तस्मान्मा मुञ्चतर्तस्यर्तेन मामित, इति।
तै० आ० २।३।१ इत्यादि

ज्ञान किसी जन-समुदाय के वास्तविक मूल्याङ्कन के लिये परमावश्यक है, इतिहासकारों के सामने एक अभूतपूर्व परंपरा के द्वारा प्रस्तुत की गई है। केवल प्राचीन साहित्य के अस्त-व्यस्त, एवं आकस्मिक वर्णनों के आधार पर वैदिक हिन्दू के व्यक्तिगत जीवन को चित्राङ्कित करने का अवसर ही नहीं छोड़ा गया है। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के वर्णन बड़े उपयोगी हैं, और वे चेष्टापूर्वक निबद्ध वर्णनों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय हैं; फिर भी वे आंशिक हैं और विषय की अस्पष्ट बाह्य रूप-रेखा को ही प्रस्तुत कर पाते हैं। इस प्रकार के आकस्मिक वर्णनों के साथ ही साथ गृह्य जीवन से संबद्ध, क्रमबद्ध ग्रन्थों को वैदिक साहित्य ने सुरक्षित रखा है, जिनमें व्यक्ति एवं परिवार के दैनिक जीवन से संबद्ध तथ्यों का अन्वेषण करके उनका क्रमबद्ध वर्णन किया गया है। ये ही गृह्यसूत्र, किंवा गृह्यग्रन्थ हैं, जो यद्यपि अपेक्षाकृत परवर्ती वैदिक-काल में याज्ञिक ग्रन्थों के रूप में निर्मित हुए थे तथापि बहुत ही प्राचीनकाल के रीतिरिवाजों और प्रार्थनाओं के परिचायक हैं। ग्रन्थों के इस वर्ग के निर्माण में वह धार्मिक भावना काम करती रही थी, जिसका पालन हिन्दुओं के पूरे जीवन में विहित था। प्रतिदिन के सामान्य कृत्यों में और साथ ही साथ जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षणों में भी हिन्दुओं का जीवन धार्मिक संस्कारों के बाहुल्य से दबा रहता है। आद्योपान्त एक हिन्दू का जीवन पूर्णतः संस्कारमय है। जनता की आम धारणाएँ प्रचलित धर्म की सतह के नीचे स्वतन्त्र धारा के रूप में सदैव प्रवाहित नहीं होती रही थीं, क्योंकि प्रचलित धर्म ने इन विश्वासों को अन्धविश्वास कहकर तिरस्कृत कर दिया था, तथापि ये धर्म के प्रारम्भिक युग में ही उसके भीतर समा चुकी थीं। जब ब्राह्मणों ने सामान्य जनता के प्रचलित विश्वासों को नियमबद्ध शास्त्रीय रूप प्रदान किया तभी अधिकांश गृह्यसूत्रों एवं कुछ सीमा तक श्रौतसूत्रों का निर्माण हुआ था। यह सब तभी हुआ था जब जनता के ये विश्वास ब्राह्मणानुमोदित व्यवस्थाओं और साथ ही साथ दैवी नियमों और देवताओं की वैयक्तिक आवश्यकताओं और माँगों के साथ पूरी तरह मेल खा चुके थे।

यह निश्चित है कि उन साधारण रीति-रिवाजों के साथ, जो कि क्रमबद्ध गृह्यसूत्रों के मूल में निहित हैं, सर्वदा साधारण जनता द्वारा देवताओं, राक्षसों एवं दानवों के प्रति की गई प्रार्थनाएँ जुड़ी रहती थीं। इसमें संदेह नहीं कि गृह्य-सूत्र अपने अन्तिम परिनिष्ठित रूप में वैदिक स्वाध्याय की शाखाओं के परवर्ती संस्करण हैं, और इस कारण अपनी संबद्ध शाखा के सूक्तों, मन्त्रों एवं याज्ञिक प्रार्थनाओं की बृहद् राशि को पर्याप्त रूप में ग्रहण करते हैं और जिस उद्देश्य से इन मन्त्रों आदि की वास्तव में रचना हुई थी उस पर ध्यान नहीं देते। दूसरे शब्दों में ज्यों-ज्यों गृह्यसंस्कार ब्राह्मणों के हाथ में आते गये त्यों-त्यों उन्होंने इन्हें अपने आध्यात्मिक ज्ञान से बाँधा नहीं, अपितु जनता के इन गृह्य-संस्कारों को मन्त्रों से विभूषित कर दिया, यद्यपि इन मन्त्रों का प्रयोग गलत

ढंग से प्रायः अवसर के प्रतिकूल हुआ है, जो हास्यास्पद है। हो सकता है कि बहुत सी प्राचीन स्तुतियों में ब्राह्मणों ने परिवर्तन कर दिया हो, जिससे उनके धार्मिक विचारों और शास्त्रीय प्रवृत्तियों का सामञ्जस्य स्थापित हो जाय। फिर भी यह विश्वास करना कठिन है कि विवाह-संस्कार, अन्त्येष्टि-क्रिया, ओषधि-अभिचार, भूतापसारण एवं इसी प्रकार की अन्य क्रियाएँ कभी भी बिना प्रार्थनाओं के होती हों। इसी प्रकार यह प्रश्न भी वैदिक अध्ययन का एक पृथक् विषय होगा कि प्रारम्भिक गृह्यमन्त्र एवं गृह्य-क्रियाएं क्या थीं और बाद के क्षेपकों से उनका पार्थक्य किस बात में है। प्रार्थनाओं का ऐसा समूह प्रारम्भिक रीतियों के ख्यापन में स्वयं सूत्रों से भी अधिक विश्वसनीय रहा होगा। उन्हें व्यक्तिगत कल्पना समझ लेने की भ्रान्ति का इन प्रार्थनाओं के पढ़ने से ही निराकरण हो जाता है। गृह्यसूत्रों की प्रार्थनाएँ या तो उनके विधानों के वर्णन के साथ जोड़ दी गई हैं अथवा उन्हें पृथक् संग्रह का रूप दे दिया गया है (= मन्त्र-ब्राह्मण, मन्त्र-पाठ)। अथर्ववेद की संहिताएँ विस्तृत रूप में मन्त्र-पाठ हैं, और गृह्यग्रन्थों की अपेक्षा विषय में अधिक विस्तृत हैं और शास्त्रीय प्रभावों से उनकी अपेक्षा अधिक मुक्त हैं। अथर्व-संहिता के सूक्तों में हम प्राचीन भारत की एक विशिष्ट प्राचीनता के दर्शन की आशा करते हैं, जिसका चित्रण इस संहिता में विस्तृत रूप में हुआ है, और जिस चित्रण में किसी विशिष्ट एवं परिचित विषय को प्रमुखता नहीं दी गई है। यह ऐसा चित्र है जो गृह्यसूत्रों में नहीं पाया जाता। क्योंकि गृह्यसूत्र तो मुख्यतः पावन एवं शोभन विषयों तक ही सीमित हैं। प्रकाश एवं छाया का, प्राचीन लोगों के जीवन के भले और बुरे का चित्राङ्कन उचित अनुपात में ही होना अपेक्षित है।

६. *प्राचीन जीवन के अभिलेख रूप में अथर्ववेद का क्षेत्र*—इस आशा की पूर्ति अथर्ववेद के सूक्त पर्याप्त रूप में कर देते हैं। अपने याज्ञिक ग्रन्थ कौशिक-सूत्र के सहित, जो आथर्वण सूक्तों से संबद्ध विधानों को विश्वसनीय रूप में उपस्थित करता है, अथर्ववेद वैदिक आर्य के सामान्य जीवन का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। मुख्यतया अथर्ववेद गृह्यसूत्रों के विषयों का ही उपवेदन करता है, और ये रोचक तथा महत्त्वपूर्ण रचनाएँ इसकी पूरक हैं। सामान्य आर्य का जन्म से लेकर श्मशान तक का जीवन अथर्ववेद में गृह्यसूत्रों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता और पूर्णता के साथ वर्णित किया गया है। जैसा हमने पहले संकेत किया है, अन्तर दोनों में यह है कि अथर्ववेद अपने विषयों के चुनाव में कठोर एवं सीमित नहीं है। यह एक साधारण हिन्दू को, केवल ब्राह्मणीय देवताओं के भक्त और पुण्यशील पूजक एवं पवित्र यज्ञ-क्रियाओं के अनुष्ठाता के रूप में ही प्रदर्शित नहीं करता, अपितु यह उसके, अर्धसभ्य प्राकृत रूप को भी प्रस्तुत करता है जो लोभी है, दानवों में विश्वास रखने वाला है, भीरु एवं घृणालु है, वासना का वशंवद एवं तन्त्रा-

भिचारों का व्यसनी है। घरों, खेतों, पशुओं, प्रेम और विवाह, व्यापार एवं ग्राम्य नीति से संबद्ध विधान तथा विश्वास भी अथर्ववेद में गृह्यग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक हैं। साथ ही अथर्ववेद में ऐसे विषय भी हैं जो गृह्यसूत्रों में नहीं मिलते या जिनका उनमें उल्लेख-मात्र हो पाया है। प्रस्तुत पुस्तक के तृतीय खण्ड में दिये गये अथर्ववेद के विश्लेषण के विभिन्न अनुच्छेदों के शीर्षकों में भी यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। इस प्रकार ओषधि-अभिचार (प्रकरण ५०) में हमें आदिम हिन्दू की औषधों का अच्छा-खासा चित्र मिल जाता है, जो अन्यत्र वैदिक साहित्य में संभवतः कहीं भी न मिल सके। गृह्यग्रन्थों में कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जो 'ब्राह्मणों के हित में प्रार्थना एवं अभिशाप' (प्रकरण ५६) के अनुरूप हो। 'राजकर्माणि' (प्रकरण ५५) के अनुरूप भी गृह्यग्रन्थों में स्वल्प सामग्री मिल पाती है। इन दो अध्यायों में हमें दो उच्च जातियों, अर्थात् ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों का, प्राचीनतम क्रमबद्ध वर्णन मिल जाता है। स्त्री-कर्म (प्र० ५३), 'समन्वय-लाभ', ग्राम-सभा में प्रभाव डालने के अभिचार (प्र० ५४) तथा इसी प्रकार के अन्य कुछ कम महत्त्व वाले विषय—जिनका यद्यपि गृह्यग्रन्थों में पूर्णतया अभाव नहीं है—अपने स्वरूप से ही आथर्वण हैं। कहा जा सकता है कि गृह्यग्रन्थ वास्तविक जीवन के विस्तृत क्षेत्र से संबद्ध उद्धरण हैं—ऐसे उद्धरण जिनका प्रारम्भ ऐसी परिस्थितियों में हुआ था, जो इन विषयों के चुनाव के लिये उत्तरदायी थीं। विषयों का यह चुनाव सभी अनाथर्वणिक वैदिक शाखाओं की परंपरा में काम करता दीख पड़ता है। इस प्रकार सभी गृह्यसूत्र अपने पारस्परिक भेदों के बावजूद मुख्य रूप से एक ही विषय का प्रतिपादन करते हैं—अर्थात् मानव-जीवन का अनन्त चक्र : जन्म, संस्तम्भ, ब्रह्मचर्य, यौवन, विवाह, गृहस्थवृत्ति एवं अन्यान्य संस्कार। बीच-बीच में बहुत से अन्य विधानों का वर्णन भी इनमें आ जाता है। इनके अतिरिक्त दूसरे विषय भी प्रासङ्गिक एवं गौण रूप में आ जाते हैं। गृह्यसूत्र न केवल जीवन के पवित्र एवं नियमबद्ध पहलू तक सीमित हैं, अपितु उनमें हमें नियमित, स्थायी पार्वणकर्म—जिन्हें कर्मकाण्डी लोग 'नित्यकर्माणि' कहते हैं—भी मिलते हैं; जब कि अथर्ववेद का संबन्ध मुख्यतः नैमित्तिक और काम्य कर्मों के साथ ही है। इन्हीं सब बातों के कारण अथर्ववेद अत्यन्त आकर्षक एवं अनुपम वेद संपन्न हुआ है। पाठक ज्यों-ज्यों अथर्ववेद की अत्यन्त प्राकृतिक एवं कलाविहीन संहिता में सूक्त के बाद सूक्त का रसास्वादन करता है, त्यों-त्यों वह आश्चर्य-सागर में गोते लगाने लगता है। इन सूक्तों के विषय-बाहुल्य एवं विषय-वैचित्र्य को देखकर, और उस शैली का अवलोकन करके, जिसके माध्यम से मानव-जीवन के लुप्त संबन्धों एवं भावनाओं को भी प्रकट धरातल पर लाकर खड़ाकर दिया गया है, उसके अचरज का ठिकाना नहीं रह जाता। अन्त में, पाठक की

यह धारणा दृढ़ बन जाती है कि हिन्दुओं के एतद्विषयक सुन्दर शास्त्रीय उद्योग ने प्राचीन भारत के अनुष्ठान-संबन्धी इतिहास के लिये एवं मानव-जाति के एतद्विषयक इतिहास के लिये अमूल्य विवरण सुरक्षित रखा है; और इस दृष्टि से अथर्ववेद उतना ही मूल्यवान् विवरण ठहरता है जितना देवताख्यान और पौरोहित्य धर्म के इतिहास में ऋग्वेद।

(ग) अथर्ववेद के नाम और उनके अर्थ

७. *अथर्वाङ्गिरसः समास, और इसके दो पदों 'अथर्वन्' और 'अङ्गिरस्' का अर्थ*—चतुर्थवेद का प्राचीनतम नाम 'अथर्वाङ्गिरसः' इस द्वन्द का बहुवचन (अथ० १०. ७. २०)[1] है। यह नाम शौनकीय संहिता की हस्तप्रति के प्रारम्भ में मिलता है। अल्पाधिक रूप में गौण और अनियमित रूप तथा व्युत्पत्तियाँ जो 'अथर्वाङ्गिरसि श्रुतम्' (महाभा० ३. ३०५. २० = १७०६६) कुशलमथर्वाङ्गिरसे (याज्ञ० १. ३१२), 'कृत्याम् अथर्वाङ्गिरसीम्' (महा० ८. ४०. ३३ = १८४८), अथर्वाङ्गिरसीः श्रुतीः' (मनु० ११.३३) 'अथर्वाङ्गिरसं तर्पयामि' (बौधा० धर्म सू० २. ५. ९. १४) इन रूपों में उपलब्ध होती हैं, बाद में विकसित हुई हैं। 'अथर्वन्' और इससे व्युत्पन्न हुए शब्द पूरे साहित्य में उत्तरोत्तर अधिक संख्या में प्रयुक्त हुए हैं, जबकि 'अङ्गिरस्' शब्द केवल एक ही वैदिक अनुच्छेद में चतुर्थवेद के अभिधान के रूप में प्रयुक्त हुआ है; देखो तै० सं० ७. ५. ११.२[2] = काठक अश्वमेध ग्रन्थ (अङ्गिरोभ्यः स्वाहा)। 'अथर्वाङ्गिरसः' इस समास के पद अलग-अलग अनेकशः प्रयुक्त हुए हैं, फिर भी उनका पारस्परिक घनिष्ठ सांनिध्य सुव्यक्त है। बहुत संभव है कि 'अथर्वनों' और 'अङ्गिरसों' का पृथक् पृथक् अस्तित्व रहा हो, और इन दोनों से मिलकर अथर्ववेद का निर्माण हुआ हो। वस्तुतः अधिकतर साहित्य में, विशेषतः प्राचीन साहित्य में, अथर्वन्' शब्द का तात्पर्य वेद के माङ्गलिक विधानों अर्थात् भेषजानि से है (अथ० ११. ६. १४)[3]; दूसरे शब्दों में वेद के उन अङ्गों से है, जिन्हें आथर्वणिक कर्मकाण्डों और प्राचीन ब्राह्मणीय रचनाओं ने 'शान्त' (पवित्र) एवं पौष्टिक (माङ्गलिक) नाम से पुकारा है।

---

१. यस्मादृचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अ० १०।७।२०

२. अङ्गिरोभ्यः स्वाहा ॥ तै० सं० ७।५।११।२

३. यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा ॥ अ. ११।६।१४

आङ्गिरस शब्द वेद की घातक आभिचारिक क्रियाओं अर्थात् यातु (श० ब्रा० १०. ५. २. २०)[1] या अभिचार को सूचित करता है जो भयंकर (घोर) है।

अथर्ववेद के इन दो स्वरूपों का चित्रण गोपथ ब्राह्मण में अत्यन्त स्पष्ट और सरल रूप से किया गया है। उदाहरण के लिये देखिये गो० ब्रा० १. २. २१ और १. ५. १०[2] 'ऋचि यजुषि साम्नि शान्तेऽथ घोरे'। अन्तिम स्थल में गोपथ ब्राह्मण, श० ब्रा० १२. ३. ३. २[3], (जिस पर गो० ब्रा० आधृत है) में प्रयुक्त 'त्रयी' के स्थान पर पाँच वेदों का उल्लेख करता है। आथर्वणिक वेद के ये दो भेद गोपथ ब्राह्मणकार के मस्तिष्क में इस प्रकार जम जाते हैं कि वह इनमें से प्रत्येक को स्वतन्त्र व्याहृतियों से जोड़ देता है, जिससे कि वे 'त्रयी' के 'भूः' 'भुवः' और 'स्वः' की तुलना में आ सकें। यह 'अर्थवन्'=शान्त के लिये 'ओम्' और 'अङ्गिरस्'='घोर' के लिये 'जनत्' इस व्याहृति का प्रयोग करता है: गो० ब्रा० १. २. २४ और १. ३-३[4]। 'त्रयी' की व्याहृतियाँ, 'ओम्' और 'जनत्' के बीच में रक्षा के लिये (गुप्, देखिये गो० ब्रा० १. १. १३)[5] स्थापित की गई हैं। १. १. ५, ८ और १. ३. ४[6] से भी

---

१. तमेतमग्निरित्यध्वर्यव उपासते। यजुरित्येष हीदं सर्वं युनक्ति सामेति छन्दोगा एतस्मिन्हीदं सर्वं समानमुक्थमिति बह्वृचा एष हीदं सर्वमुत्थापयति यातुरिति यातुविद एतेन·······
शतपथ ब्रा० १०।५।२।२०

२. ······तां पञ्चस्वपश्यदृचि यजुषि साम्नि शान्तेऽथ घोरे······गो० ब्रा० १।२।२१
······या वेदे व्यष्टिरासीत्तां पञ्चस्वपश्यन्नृचि यजुषि साम्नि शान्तेऽथ घोरे······।
गो० ब्रा० १।५।१०

३. ······वाऽअस्य वेदा अयातयाम्न्या हास्य त्रय्या विद्ययार्त्विज्यं कृतं भवति······।
श० ब्रा० १२।३।३।२

४. ······ओमित्यथर्वणं शुक्रं जनदित्यङ्गिरसम्······गो० ब्रा० १।२।२४
······भूर्जनदिति गार्हपत्ये जुहुयाद्यदि यजुष्ट ओं भुवो जनदिति दक्षिणाग्नौ जुहुयात्······
गो० ब्रा० १।३।३

५. ······विश्वे देवा होत्रका अथर्वाङ्गिरसो गोप्तारस्तं ह······गो० ब्रा० १।१।१३

६. ······तानथर्वण ऋषीनाथर्वणांश्चार्षेयानभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः संतप्तेभ्यो यान्मन्त्रानपश्यत्स आथर्वणो वेदोऽभवत्तमाथर्वणं वेदमभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तस्माच्छ्रान्तात्तप्तात्संतप्तादोमिति मनश्चोर्ध्वमक्षरमुदक्रामत्स य इच्छेत्सर्वैरेतैरथर्वभिश्चाथर्वणैश्च कुर्वीयेत्येतयैव तन्महाव्याहृत्या कुर्वीत······गो० ब्रा० १।१।५
······तयाङ्गिरसं वेदमभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तस्माच्छ्रान्तात्तप्तात्संतप्ताज्जनदिति द्वैतमक्षरं व्यभवत्स य इच्छेत्सर्वैरेतैरङ्गिरोभिश्चाङ्गिरसैश्च कुर्वीयेत्येतयैव तन्महाव्याहृत्या कुर्वीत······
गो० ब्रा० १।१।८
······भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसो येऽङ्गिरसः स रसो येऽथर्वाणो येऽथर्वाणस्तद्भेषजम्······
गो० ब्रा० १।३।४

तुलना कीजिये। याज्ञिक अनुष्ठानों में, (वैतान-सूत्र ५. १०[१]; गो० ब्रा० १. २. १८[२]) वनस्पतियों के दो वर्गों में भी यही अन्तर दिखलाया गया है, जिनमें एक 'शान्त' या आथर्वण कही गई है और दूसरी, जो विनाशक अभिचार में प्रयुक्त होती है 'आङ्गिरस' कही गई है। 'आङ्गिरस' शब्द कौशिकसूत्र में आभिचारिक या घोर इस अर्थ में आता है, और अथर्ववेद का पञ्चम कल्प, आङ्गिरसकल्प, अभिचारकल्प और विधान कल्प इन नामों से प्रसिद्ध है। आङ्गिरस = आभिचारिक और प्रत्याङ्गिरस शब्दों का प्रयोग प्रत्यभिचरण अर्थ में अथर्ववेद से बाहर के विधान-ग्रन्थों में भी हुआ है, जैसे ऋग्विधान ४. ४०[३] के अभिधान में। इस शब्द के निन्दापरक प्रयोग पर इस तथ्य से भी प्रकाश पड़ता है कि पुराण आङ्गिरस वेद को पर्सिस (मग) के चार वेदों में से एक बताते हैं; अन्य तीन वद, विश्ववद और विदुत् नामों में विदेशी धर्म के धार्मिक ग्रन्थों के प्रति छिपी-छिपी घृणा की भावना प्रकट की गई है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आथर्वणवेद एवं आङ्गिरसवेद के पारस्परिक विभेद को अनाथर्वणिक ब्राह्मणों एवं सूत्रों ने भी स्वीकार किया है और इनका संबन्ध भी क्रमशः 'शान्त' एवं 'घोर' नामों के साथ जोड़ा गया है। श० ब्रा० १३. ४. ३. ३[४] आ० श्रौ० सू० १०. ७. १;[५] शांखायन श्रौ० सू० १६. २. ९[६] में अश्वमेध के पारिप्लव के अवसर पर इन दोनों वेदों के अंशों के पाठ का विधान है। आश्व० श्रौ० सूत्र और शां० श्रौ० सूत्र कहते हैं कि 'भेषजम्' (शान्तम्) का पाठ आथर्वणवेद से और घोरम् (आभिचारिक) का पाठ आङ्गिरसवेद से करना चाहिये। देखो पञ्चविंश ब्राह्मण

---

१. उषसि शान्त्युदकं करोति चित्यादिभिराथर्वणीभिः कपुर्विपर्वारोदाकावृक्कावतीनाडानिर्दहन्तीभिराङ्गिरसीभिश्च चातनैर्मातृनामभिर्वास्तोष्पत्यैरनुयोजितैः। वैता० सू० ५।१०

२. ......शंयुमाथर्वणं गच्छतेति ते शंयुमाथर्वणमासीनं प्राप्योचुर्नमस्ते अस्तु भगवन्नश्वः शम्यतेति......स खलु शान्त्युदकं चकाराथर्वणीभिश्चाङ्गिरसीभिश्च चातनैः......गो०ब्रा० १।२।१८

३. तस्याभिचरतः साक्षादङ्गिरसोप्यृषेः स्वयम्। प्रत्यङ्गिरसकल्पेन सर्वं तत्प्रतिबाधते॥
ऋग्विधान ४।४०

४. मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह......अथर्वाणो वेदः सोऽयमित्यथर्वणामेकं पर्व व्याचक्षाणः........
श० ब्रा० १३।४।३३

अथ चतुर्थेऽहन्।...ता उपदिशत्यङ्गिरसो वेदः सोयमित्यङ्गिरसामेनम्...श० ब्रा० १३।४।३८
तृतीयेऽहनि वरुण आदित्यस्तस्य गन्धर्वा विशस्त इम आसत इति।

५. युवानः शोभना उपसमानीताः स्युस्तानुपदिशत्यथर्वाणो वेदः सोऽयमिति यद्भेषजं निशान्तं स्यात्तन्निगदेत्। चतुर्थेऽहनि सोमो वैष्णवस्तस्याप्सरसो विशस्ता इमा आसत इति युवतयः शोभना उपसमानीताः स्युस्ता उपदिशत्याङ्गिरसो वेदः सोयमिति यद् घोरं निशान्तं स्यात्तन्निगदेत्। आ० श्रौ० सू० १०।७।१

६. अथर्ववेदो वेदः सोऽयमिति भेषजं निगदेत्। शां० श्रौ० १६।२।९

१२. ९. १०; १६. १०. १०[१] और 'तुलना करो' घोर आङ्गिरस के विपरीत भिषज् आथर्वण, शंयु आथर्वण और अथर्वन् की पत्नी 'शान्ति' जैसे नामों की। हो सकता है कि आदित्यों और अङ्गिरसों के संघर्ष के ब्राह्मणीय आख्यानों में अङ्गिरसों की हीनता की कल्पना भी उनके असभ्य एवं अशिष्ट चरित्र की ओर संकेत करती हो। देवों के साथ युद्धों में पराजित होने वाले असुरों की भाँति अङ्गिरस् भी सदा पराजित ही होते दिखाये गये हैं।

अथर्ववेद-संहिता इस भेद को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करती है। ११. ६. १४[२] में चार प्रकार के वैदिक मन्त्र, ऋचः, सामानि, भेषजा, और यजूँषि इन शब्दों द्वारा बताये गये हैं। यहाँ 'भेषजा' शब्द का प्रयोग एकाङ्गी है। शत० ब्रा० १०. ५. २. २०[३] में इसकी पूर्ति कर दी गई है जहाँ तीन वेदों और उनके प्रतिनिधि पुरोहितों के पार्श्व में यातु और यातुविदः को जोड़ दिया गया है। 'भेषज' और 'यातु, एक दूसरे के पूरक हैं, यह बात अथर्व० ६. १३. ३ के नमस्ते (मृत्यो) यातुधानेभ्यो, नमस्ते भेषजेभ्यः' इस मन्त्र से प्रकट हो जाती है। अथर्व ११. ६. ९४ का 'भेषजा' और श० ब्रा० के अनुच्छेद का 'यातु' दोनों मिलकर उसी अर्थ को व्यक्त करते हैं, जो अथर्वाङ्गिरसः (अथ० १०. ७. २०[४]) इस नाम से व्यक्त होता है। स्वयं अथर्व संहिता 'आङ्गिरस' शब्द को स्पष्ट रूप से विनाशक यातु क्रियाओं और आभिचारिक जोड़-तोड़ (कृत्या) के साथ जोड़ती दीख पड़ती है। इसी दृष्टि से ८. ५. ९, 'कृत्या आङ्गिरसीः, १०. १. ६, प्रतीचीन आङ्गिरसः......प्रतीचीः कृत्या आकृत्याऽमून् कृत्याकृतो जहि' को देखिये और १२. ५. ५२ एवं ६. ४५. ३[५] = ऋ० १०. १६४. ४[६] की तुलना कीजिये। आथर्वणिक और आङ्गिरस वनस्पतियों

---

१. भेषजं वा आथर्वणानि भेषजमेव तत्करोति। पं० ब्रा० १२।९।१०
भेषजं वै देवानामथर्वाणो भेषज्यायैवारिष्ट्यै। पं० ब्रा० १६।१०।१०

२. यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा। यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चत्वंहसः॥ अ० ११।६।१४

३. तमेतमग्निरित्यध्वर्यवऽउपासते। यजुरित्येष हीदं सर्वं युनक्ति सामेति च्छन्दोगाऽएतस्मिन्हीदं सर्वं समानमुक्थमिति बह्वृचाऽएष हीदं सर्वमुत्थापयति यातुरिति यातुविदऽएतेन···
श० ब्रा० १०।५।२।२०

४. सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्। अ० १०।७।२०

५. आददानमाङ्गिरसि ब्रह्मज्यमुप दासय। अ० १२।५।५२
प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात्पात्वंहसः। अ० ६।४५।३

६. प्रचेता न आङ्गिरसो द्विषतां पात्वंहसः। ऋ० १०।१६४।४

का पारस्परिक भेद ११. ४. १६[1] (देखो ८. ७. १७[2]) में देखने को मिलता है; और संभवतः यह भेद उसी दृष्टि से है जिस दृष्टि से कि आथर्वण अनुष्ठान में भेद है, अर्थात् पहली कोटि के वनस्पति 'पवित्र' हैं जब कि दूसरी कोटि के 'आभिचारिक'। अन्त में बाद में बने परिशिष्ट सूक्त अथर्ववेद १९. २२ और २३[3], जो उत्तम पटल अथ० परिशिष्ट ४६-९ और १०[4] में फिर से दिये गये हैं, आङ्गिरस और आथर्वण ग्रन्थों का विवेचन और उनके उपविभागों का वर्णन अलग-अलग करते हैं। देखिये गो० ब्रा० १. १. ५[5], ८ और १. ३. ४।

८. *अथर्वन् और अङ्गिरस् के अन्तर का कारण*—जहाँ तक अथर्वन् और अङ्गिरस् के पारस्परिक भेद के समय और कारण का प्रश्न है इसके संबन्ध में ग्रन्थ प्रायः चुप्पी साधे हुए हैं। इन दोनों का (भृगु के नाम का भी) चतुर्थवेदीय ग्रन्थों और अनुष्ठानों के साथ संबन्ध इस नाम के आख्यानोक्त अग्नि-पुरोहितों और अग्नि-मन्थकों में देखा जा सकता है। निश्चय ही अथर्ववेदीय गृह्य अनुष्ठान अग्नि-पुरोहितों की देखरेख में होते रहे होंगे, जो सोम-पुरोहितों से संभवतः भिन्न कोटि के रहे होंगे। जहाँ तक अथर्वनों की तुलना में अङ्गिरसों के भयावह स्वरूप का प्रश्न है, हम ऋ० १०. १०८. १०[6] की ओर संकेत सकते हैं, जहाँ सरमा पणियों को 'अङ्गिरसः—घोराः' कह कर डराती है। इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य है दैवी पुरोहित बृहस्पति का आङ्गिरस स्वरूप। कौशि० १३५.९[7] में बृहस्पति आङ्गिरस अभिचार के देवता या प्रतिनिधि के रूप में उभरते हैं; और महाभारत में वे अनेक स्थानों पर 'अङ्गिरसां श्रेष्ठः' कहलाये हैं। देव-पुरोहित के रूप में वे विद्वेषी शक्तियों के विरुद्ध उन भयानक तत्त्वों का प्रयोग करते हैं, जो बाद में अपने विस्तृत अर्थ

---

१. आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत । ओषधयः प्र जायन्ते । अ० ११।४।१६

२. या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।
ता नः पयस्वतीः शिवाः ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥ अ० ८।७।१७

३. आङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा । अ० १९।२२।१ इत्यादि
आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा ॥ अ० १९।२३।१ इत्यादि

४. ओं आङ्गिरसानाम् आद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा ॥ अथ० परि० उत्तमपटल ९।१ इत्यादि
आथर्वणानाम् चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा ॥ अथ० परि० उत्तमपटल १०।१ इत्यादि

५. तमथर्वाणमृषिमभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तस्माच्छ्रान्तात्तप्तात्संतप्ताद्दशतयानथर्वण ऋषीन्निरमिमत……गो० ब्रा० १।१।५ इत्यादि

६. नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः ।
गोकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीयः ॥ ऋ० १०।१०८।१०

७. ……बृहस्पतिराङ्गिरसो ब्रह्मणः पुत्रो विश्वेदेवाः प्रददुर्विश्वमेजत् । स इमं दूतं नुदत वंशपृष्ठात्स स मे गच्छतु द्विषतो निवेशं बृहस्पतय आङ्गिरसाय स्वाहा ॥ कौ० सू० १३५।९

में 'आङ्गिरस' कहाए हैं। देखो ऋ० १०. १६४. ४[1]=अथ० ६. ४५. ३[2], जहाँ बृहस्पति को प्रतीचीन (पृष्ठघातक) आङ्गिरस कहा गया है। अथर्वन् शब्द को शान्त और भेषज इन दोनों के साथ क्यों जोड़ा गया था इसके विषय में निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है। किंतु हो सकता है कि जब 'आङ्गिरस' शब्द अमङ्गल-सूचक अर्थ में प्रचलित हो चुका हो, तब उसके विपरीत 'शान्त' अर्थ में 'अथर्वन्' शब्द का प्रयोग चल पड़ा हो। कुछ भी हो अत्यन्त प्राचीन काल में ही पवित्र अभिचार के लिये प्रयुक्त 'अथर्वाणः' शब्द और आसुरी अभिचार के लिए प्रचलित 'अङ्गिरसः' शब्द ब्राह्मणों के पौरोहित्य-संबन्धी 'ऋचः', यजूंषि', और 'सामानि' की पंक्ति में जा बैठे थे और ब्राह्मणों की साहित्यिक निधि के विशेष अङ्ग बन गये थे। किंतु कालवशात् अथर्वन् और 'अङ्गिरस्' का पारस्परिक भेद मिटता गया और अन्त में अथर्वन् नाम और इससे व्युत्पन्न शब्द (अथर्वाणः आथर्वणानि, आथर्वणाः, आथर्वणिक। अथर्वन्, अथर्वा और अन्ततः अथर्ववेद) चतुर्थवेद के अनुष्ठानों और अभिचारों के लिये प्रयुक्त होने लगे; और उनका पारस्परिक भेद धीरे धीरे जनता के मन से सुतरां उतर गया।

६. *भृग्वङ्गिरसः, ब्रह्मवेद पद और आथर्वण पुरोहितों के अभिधान*—अथर्ववेद के दो अन्य अभिधान उपर्युक्त अभिधानों से इसलिये भिन्न हैं कि वे बाद के आथर्वण युग में बने हैं। उनमें से एक भी संहिता में नहीं मिलता; अलबत्ता ये दोनों आथर्वण याज्ञिक ग्रन्थों में अवश्य मिलते हैं। ये नाम हैं—'भृग्वङ्गिरसः और ब्रह्मवेद'। जहाँ तक हमें मालूम है, 'भृग्वङ्गिरसः' शब्द केवल आथर्वण ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। यद्यपि इस समास में 'भृगु' शब्द अथर्वन् शब्द के स्थान पर है, तथापि 'भृगवः' या 'भृगुवेद' शब्द चूलिका-उपनिषद्-११ को छोड़कर—जो मन्त्रों के आथर्वण संग्रह को 'भृगुविस्तर' (भार्गवग्रन्थाः) इस नाम से पुकारती है—अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। आथर्वण याज्ञिक ग्रन्थों में 'भृग्वङ्गिरस्' शब्द का प्रयोग और वह भी प्रायः 'भृग्वङ्गिरोविद्' इस समस्त पद में अथर्ववेद के लिये हुआ है। भृग्वङ्गिरस पद से अथर्वन् शब्द पर आधृत अभिधानों के बहिष्कार की सूचना-सी मिलती है। समय के साथ-साथ अन्य नामों की अवहेलना करके, भृगु नाम की महत्ता को अतिरञ्जित करने की प्रवृत्ति उभरती जाती है; उदाहरण के लिए लीजिये गोपथ ब्राह्मण १. १. ३[3] को, जहाँ भृगु की उत्पत्ति 'अथर्वन्'

---

१. यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि।
प्रचेता न आङ्गिरसो द्विषतां पात्वंहसः॥ ऋ० १०।१६४।४

२. पृष्ठ १३ पर देखिये। अ० ६।४५।३

३. ......तस्माद् भृगुः समभवत्तद् भृगोर्भृगुत्वं भृगुरिव वै स सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद॥
गो० ब्रा० १।१।३

से पहले बताई गई है, अथवा गो० ब्रा १. २. २२[1], जिसमें 'अथर्वन्' और अङ्गिरस् को भृगु की दो आँखें बताया गया है, और अन्त में चूलिकोपनिषद् १० का यह कथन कि अथर्वणों में भृगु अग्रगण्य है (अथर्वाणो भृगूत्तमाः) किंतु इस बात से अथर्वन् के स्थान पर 'भृगु' के चलन का कारण स्पष्ट नहीं होता; और सचमुच इस बात के लिये कोई वैध कारण दीख भी नहीं पड़ता कि क्यों भृगु शब्द अथर्वन् के ऊपर इतना हावी हो गया। फिर भी निम्न बातें इस विषय में ध्यान देने योग्य हैं : सामान्यतः अथर्वन्, अङ्गिरस् और भृगु ये तीनों शब्द समानार्थक अथवा परस्पर-संबद्ध आख्यानात्मक नाम हैं और इनका संबन्ध अग्नि के उत्पादन और पूजा के साथ है। कभी-कभी मन्त्रों में (ऋ० १०. १४. ६)[2] ये सब एक साथ आते देखे जाते हैं, और कहीं-कहीं तो भृगु का प्रयोग अथर्वन् (ऋ० १०. ९२. १०.)[3] अथवा अङ्गिरस् के साथ (ऋ० ८. ४३. १३[4]) भी पाया जाता है। यजुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में इनका पारस्परिक संबन्ध चलता रहा और भृगु एवं अङ्गिरस् का सांनिध्य अधिकाधिक दृढ़ होता गया, यहाँ तक कि अन्त में शतपथ ब्राह्मण के ४. १. ५. १[5] संदर्भ में ये दोनों शब्द पर्यायवाची बन गये, जहाँ कि महर्षि च्यवन को भार्गव या आङ्गिरस यह नाम दिया गया है। संभवतः अथर्ववेदियों ने पिष्टपेषित समास 'अथर्वाङ्गिरसः' में नवीनता लाने के विचार से ऐसा किया हो। कुछ भी हो अथर्वन् के स्थान पर 'भृगु' शब्द के प्रयोग का इसके सिवाय और कोई कारण आथर्वण ग्रन्थों में नहीं मिलता।

इसी प्रकार 'ब्रह्मवेद' शब्द का भी (प्र० ३३) आथर्वण अनुष्ठान के साथ संबन्ध स्पष्ट है। अथर्वन् से बाहर केवल एक ही स्थान पर (शाङ्खायन गृ० सू० १. १६. ३)[6] इस शब्द का असंदिग्धार्थक उल्लेख मिलता है। बाह्य ग्रन्थों का क्या

---

१. अथर्वाणश्च ह वा अङ्गिरसश्च भृगुचक्षुषी तद्ब्रह्माभिव्यपश्यंस्तदजानन्वयं वा इदं सर्वं यद् भृग्वङ्गिरस इति। गो० ब्रा० १।२।२२

२. अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ऋ० १०।१४।६

३. ते हि प्रजाया अभरन्त वि श्रवो बृहस्पतिर्वृषभः सोमजामयः।
यज्ञैरथर्वा प्रथमो वि धारयद्देवा दक्षैर्भृगवः सं चिकित्रिरे ॥ ऋ० १०।९२।१०

४. उत त्वा भृगुवच्छुचे मनुष्वदग्न आहुतः।
अङ्गिरस्वद्धवामहे ॥ ऋ० ८।४३।१३

५. ···यत्र वै भृगवो वाऽङ्गिरसो वा स्वर्गं लोकं समाश्नुवत तच्च्यवनो वा भार्गवश्च्यवनो वाऽऽङ्गिरसस्तदेव जीर्णिः कृत्यारूपो जहे ॥ शत० ब्रा० ४।१।५।१

६. ······चन्द्रेण देवेन दिशां लोकेन लोकानां ब्रह्मवेदेन वेदानां तेन त्वा शमयाम्यसौ स्वाहा।
शां० गृ० सू० १।१६।३

कहना स्वयं अथर्व-उपनिषदों में भी इस शब्द के प्रयोग का आश्चर्यजनक रूप से अभाव खलता है। शा० गृ० सू० के अतिरिक्त इसके प्राचीनतम उल्लेख वैतानसूत्र १. १[1]; गोप० ब्रा० १. १. २२; २. १६, १९; ५. १५, १९; २. २. ६[2] में मिलते हैं। परिशिष्टों में भी यह शब्द मिल जाता है। यह कल्पना कि शत० ब्रा० (१४. ८. १४. १–४[3] बृहदा० उप० ५. १३. १–४)[4] अपनी 'उक्थ (ऋ०), यजुः, साम, क्षत्र' इस सूची में अथर्ववेद को क्षत्रियों का वेद बताता है, इस समय भी उसी संदिग्ध अवस्था में है जिसमें कि यह तब थी जब कि ब्लूमफील्डने इसे सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट ४२. पृ० २५; में प्रस्तुत किया था। (देखो वेबर, फेत्र्सा० पृ० १२०३ से) ऋग्वेद प्रातिशाख्य १६. ५४ (५५)[5] में एक वैदिक ग्रन्थ का उल्लेख 'सुभेषज' (अभिचार-विधि का संग्रह) नाम से आता है। संभवतः, यह 'भेषजानि' (मङ्गलमय आथर्वणिक अभिचार) का ही प्रकारान्तर से कथन हो (तुलना करो गो० ब्रा० १. ५. २३[6] के कथन 'सुभेषजं छन्दः से)। अल्बेरुनी का यह कथन चिन्तनीय है (इण्डिया, सखाउ का अनुवाद भाग १. पृ० १२९) कि अथर्ववेद उस प्रकार का संग्रह नहीं है जिस प्रकार के ऋग्वेद अथवा यजुर्वेद हैं, अपितु यह तो तीसरी ही प्रकार का संग्रह है, जिसे 'भर' या 'स्तुतिगीत' कहा जाता है।

अथर्ववेद से संबद्ध पुरोहितों के अभिधानों का अथर्व संहिताओं में कम ही निर्देश मिलता है, यदि हम 'भृगु' और 'अङ्गिरस्' (अथ० ५. १९. १, २)[7] इन दोनों को इस अर्थ में न लें। आथर्वण याज्ञिक ग्रन्थ 'अथर्वन्' शब्द से व्युत्पन्न शब्दों के साथ-साथ 'ब्रह्मन्' और 'भृग्वङ्गिरोविद्' इन शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। 'पञ्चकल्प' और 'पञ्चकल्पिन्' (अथर्ववेद के पाँच कल्पों का प्रयोग करने वाला) इन शब्दों का अथर्वण ग्रन्थों के संकलयिताओं के नाम के रूप में होने वाला

---

१. अथ वितानस्य ब्रह्मा कर्मणि ब्रह्मवेदविद्दक्षिणतो विधिवदुपविशति वाग्यतः। वैतानसूत्र १।१

२. सैषैकाक्षरग्ब्रह्मणस्तपसोऽग्रे प्रादुर्बभूव ब्रह्मवेदस्याथर्वणं शुक्रमत एव मन्त्राः प्रादुर्बभूवुः। गो० ब्रा० १।१।२२
'''चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति'''वही २।१६
'''स इन्द्र उष्णीषी ब्रह्मवेदो भूत्वा'''वही २।१९
ऋग्वेद एव भर्गो यजुर्वेद एव महः सामवेद एव यशो ब्रह्मवेद एव सर्वं'''वही ५।१५
ब्रह्मवेदं वेदानां ब्रह्मत्वं होत्रकाणां मन इन्द्रियाणाम्। वही ५।१९

३. ''''''प्राणो वै क्षत्रम्प्राणो हि वै क्षत्रन्त्रायते हैनम्प्राणः क्षणितोः प्र क्षत्रमात्रमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यं सलोकताञ्जयतियऽएवं वेद। शत० ब्रा० १४।८।१४।१–४

४. बृहदारण्यक उपनिषद् में भी ये ही शब्द दुहराये गये हैं।

५. ''''''उत्तरास्तु सुभेषजे। ऋक्प्रा० १६।५४

६. सौभेषजं छन्द ईप्सन्यदग्नौ चतुःशतं बहुधा हूयते यत्। गो० ब्रा० १।५।२३

७. भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन्। अ० ५।१९।१
ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन्ब्राह्मणं जनाः। अ० ५।१९।२

प्रयोग बहुत बाद का है; महाभारत १२. ३४२, ९९[1]=१३२५८; १३. १४. ३०९=९०१। महाभाष्य (इं० स्तू० १३. ४५५) के 'मातृकल्पिन्' शब्द का अथर्ववेद से कोई संबन्ध है या नहीं यह तो आज भी अनिश्चित ही है; देखिये कौशिक सूत्र भूमिका पृ० ५८।

(घ) अथर्ववेद की शाखाएं

१०. *अथर्व-शाखा-संबन्धी विवरणों का स्वरूप और स्रोत*—परंपरा के अनुसार अथर्ववेद की ९ शाखाएं बताई जाती हैं, जिनमें कि आथर्वण संकलन विभक्त है, अथवा जिन ९ विधाओं (शाखा, चरण, भेद) में आथर्वण पुरोहित इस वेद के विभिन्न संकलनों का अपने अनुष्ठानों में उपयोग करते थे। इस प्रकार के संख्या-विषयक कथन असंदिग्ध नहीं कहे जा सकते; और वे विभिन्नताएं जिनके आधार पर हिन्दू लोग किसी संकलन को एक स्वतन्त्र वैदिक शाखा स्वीकार करते हैं अपने क्षेत्र एवं महत्त्व में एक दूसरी से भिन्न हैं। हो सकता है कि शाखाओं का आधार स्वयं सूक्त-संग्रहों के परिमाण एवं क्रम का भेद रहा हो; अथवा एक ही सूक्तसंग्रह का याज्ञिक अनुष्ठाताओं द्वारा विभिन्न प्रकार से प्रयोग में लाना रहा हो, अथवा एक ही श्रुति को मानने वालों में उस श्रुति की अनेक उपनिषदों का प्रचलन रहा हो, अथवा इसीसे मिलता-जुलता और कोई कारण रहा हो। शाखा-भेद के वास्तविक आधार का पता चलाना आज एक दुःसाध्य काम है। ऊपर कहे गये छोटे-बड़े सभी प्रकार के कारण अथर्ववेद को ९ शाखाओं में विभक्त करने में समवेत हो गये हैं। साथ ही समय के दौरान में इन शाखाओं के नामों में आ जाने वाले परिवर्तन ने एतद्विषयक संदेह को और भी बढ़ा दिया है; और इससे भी अधिक संग्रह-कर्ताओं के भ्रान्तिमय विवरणों ने; और सबसे अधिक तो इस बात में आथर्वण नामों से सुतरां अपरिचित आथर्वणिक लिपिकों के अज्ञान का हाथ रहता आया है।

अथर्व-शाखाओं के विषय में निम्न स्रोतों से सहायता मिलती है : १. दो चरण व्यूह : प्रथम, जो शुक्ल यजुर्वेद का पञ्चम परिशिष्ट माना गया है, प्रथम अध्याय में अथर्ववेद की शाखाओं को बतलाता है; दूसरा जो अथर्ववेद का ४९ वाँ परिशिष्ट है, इसी विषय का संक्षेप में विवेचन करता है। २. अष्टाध्यायी, महाभाष्य एवं अन्य व्याकरण ग्रन्थों में प्रासङ्गिक उल्लेख। ३-बहुत बाद परिनिष्ठित हुए पुराणों एवं साहित्य में मिलने वाला क्रमबद्ध विवरण, जैसे कि रामकृष्ण का संस्कार-गणपति। ४. अथर्व-साहित्य में प्रासङ्गिक उल्लेख जिसमें कि सायण की अथर्ववेद-भाष्य-भूमिका में दी हुई शाखाओं की सूची भी संमिलित है। सायण द्वारा दिया गया विवरण अथर्ववेद-चरणव्यूह से मिलता है; और प्रतीत होता है कि

---

१. यस्मिन्शाखा यजुर्वेदे सोऽहमाध्वर्यवे स्मृतः।
पञ्चकल्पमथर्वाणं कृत्याभिः परिबृंहितम्॥ महाभारत १२।३४२।९९ इत्यादि

इन दोनों ने अपने समय में ज्ञात शाखाओं की सही सूची प्रस्तुत की है। दूसरे ग्रन्थों में मिलने वाले विभिन्न पाठ भ्रान्तियों के कारण हैं; और अल्पाधिक रूप में उन लेखकों द्वारा जान बूझकर की गई, विकृतियों एवं परिवर्धनों के कारण उत्पन्न हुए हैं, जो लेखक अथर्व-क्षेत्र से बहुत दूर जा पड़े थे। इस प्रकार प्राप्त हुई अथर्ववेद की परंपरागत ९ शाखायें ये हैं :—

११. अथर्ववेद की ६ शाखाएँ—१. पैप्पलाद (पैप्पलादक, पैप्पलादि, पिप्पलाद, पैप्पल, पैप्पलायन आदि भी)-यह गोत्र नाम है, जो आचार्य पिप्पलादि पर आधृत है। स्वयं अथर्वन् साहित्य में भी ये नाम परिशिष्टों और उपनिषदों से पूर्व नहीं मिलते, यहाँ तक कि कौशिकसूत्र, वैतानसूत्र और गोपथ ब्राह्मण में भी ये अज्ञात हैं। पैप्पलाद यह नाम उन मन्त्रों के संकलन का अभिधायक बनकर आता है, जो नक्षत्रकल्प का परिशिष्ट है, जब कभी नक्षत्रकल्प परिशिष्ट के रूप में दीख पड़ता है। पर वस्तुतः ये मन्त्र अथर्ववेद पैप्पलादशाखा से लिये गये हैं। साथ ही शौनक-शाखीय अथर्ववेद के १९. ५६–५८[१] को अथर्ववेद के अष्टम परिशिष्ट के अन्त में 'पैप्पलाद मन्त्राः'[२] इस नाम से पुकारा गया है। यह बात अथर्ववेद के १९ वें काण्ड का अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा से घनिष्ठ संबन्ध होने के कारण अत्यन्त महत्त्व की है। तथाकथित 'पिप्पलादि शान्तिगण' अथर्व परिशिष्ट ३३. २०[३]; शं नो देवीः (प्रचलितअवे १. ६) इस प्रतीक से आरम्भ होता है, जो निश्चित ही काश्मीरी शाखा का पहला मन्त्र है। साथ ही देखिये अथर्व परिशिष्ट २. ३. ६; २३. १०; २३. १४; ४१.१.[४] कैलेण्ड ने अपने आह्नेन कुलुस के पृ० ९६, १०७, २४३ पर एक पैप्पलाद श्राद्धकल्प के बहुतर भाग का पुनर्निर्माण किया है और अनुमान किया है कि पैप्पलाद शाखा शौनकीय शाखा से पहले की है। आथर्वण उपनिषदें भी अधिकांशतः शौनकीय और पैप्पलाद इन दो शाखाओं में विभक्त हैं। प्राचीनतम उपनिषदों में से एक प्रश्नोपनिषद् हमेशा से पैप्पलाद शाखा की मानी गई है। गर्भ-उपनिषद् के अन्तिम अंश की तुलना कीजिये।

---

१. यमस्य लोकादध्या बभूविथ। अ० १९।५६।१ इत्यादि

२. यमस्य लोकाद् यथाकालं यो न जीवोऽसि'''अथ० परि० ८।१।४
''''''घृतवेक्षण–मध्ये पैप्पलादमन्त्राः। अथ० परि० ८।२।५

३. शं नो देवी शं न इन्द्राग्नी शं नो वातो'''अथ० परि० ३२।२०

४. पैप्पलादं गुरुं कुर्याच्छ्रीराष्ट्रारोग्यवर्धनम्। अथ० परि० २।३।५
गुरुणा पैप्पलादेन वेदमन्त्रविपश्चिता॥
वर्धते धनधान्येन राष्ट्रमेवं न संशयः॥ अथ० परि० २।६।१
एतदेवं समाख्यातं पिप्पलादेन धीमता।
द्विजानां बालवृद्धानां पुरश्चरणमुत्तमम्॥ अथ० परि० २२।१०।४
पिप्पलादेन महता समाख्यातमिदं शुभम्।
ब्राह्मणानां हितार्थाय पुत्रशिष्यहिताय च॥ अथ० परि० २३।१४।३

ब्रह्मोपनिषद् शौनक और पैप्पलाद के शास्त्रार्थ से प्रारम्भ होती है। यह नाम आथर्वणिक ग्रन्थों के अन्त में बहुधा आता है और शाखाओं के सभी क्रमबद्ध विवरणों में—चाहे वे आथर्वणिक हों और चाहे अन्यवेद-संबन्धी—में पाया जाता है।

२. तौद या तौदायन—यह नाम प्रायः स्तौद या स्तौदायन इस रूप में मिलता है। यह केवल अथर्व-परिशिष्ट २२. २. ३ में ही उपलब्ध है—'आ स्कन्धात उरसो दाऽपीति स्तौदायनैः स्मृता (अरणिः)'। शाखाओं के विवरणों में ये नाम भिन्न-भिन्न रूपों में मिलते हैं; और हो सकता है कि बहुत अंशों में इस भेद का कारण लिपिकों का अज्ञान रहा हो।

३. मौद या मौदायन: इन नामों का परिशिष्टों में अनेक बार उल्लेख हुआ है; विशेषकर एक रुचिकर अंश २. ५. २[१] के अनुसार केवल शौनक और पैप्पलाद शाखाओं के ब्राह्मण ही पुरोहित बनाये जाने योग्य होते हैं, जब कि जिस राज्य में जलद या मौद पुरोहित होता है वह जल्दी नष्ट हो जाता है। अन्यथा यह नाम अथर्व परिशिष्ट २२. २. ४[२] (मौद) में २३. १०. ५[३] (मौदायन) में और अन्य सभी शाखा-विवरणों में सामान्य हेर-फेर के साथ उपलब्ध होता है।

४. शौनकीय या शौनकिन्—शौनकिन् शब्द 'देवदर्शिन्' इन नाम के साथ कौशिक सूत्र ८५. ८[४] में मिलता है। वैतान सूत्र ४३. २५[५] में एक शौनक यज्ञ का विधान अभिचार में प्रवीण होने के लिये बताया गया है (शौनकयज्ञोऽभिचारकामस्य): इस कथन की शक्ति और मौलिकता इसी प्रकार के एक अन्य विवरण (कौषीतकि ब्राह्मण ४. ७[६] (तुलना शां० श्रौ० सू० ३. १०. ७[७]) से कुछ मन्द पड़ जाती है, क्योंकि हमें इस बात में संदेह है कि यहाँ एक ऋग्वेदीय ब्राह्मण के मन में अथर्वन् चिकित्सक रहा हो। कौशिक सूत्र १. ६ में अथर्व-पद्धति में वैतान सूत्र को शौनकीय सूत्र नाम से बताया गया है। प्रकाशित अथर्ववेद-प्रातिशाख्य का नाम 'शौनकीया चतुराध्यायिका' है; और शौनक, शौनकि, तथा शौनकीय शब्द अथर्व परिशिष्टों में जहाँ तहाँ प्रयुक्त हुए हैं। अथर्व-उपनिषद् भी शौनक को अपने बड़े आचार्यों में से एक मानती है (मुण्डक १. १. ३[८], ब्रह्म .१[९]) इन

१. पुरोधा जलदो यस्य मौदो वा स्यात् कदाचन।
अब्दाद् दशभ्यो मासेभ्यो राष्ट्रभ्रंशं स गच्छति ॥ अथ० परि० २।५।२ इत्यादि
२. चारणवैद्यैर्जङ्घे च मौदेनाष्टाङ्गुलानि च। अथ० परि० २२।२।४
३. मौदायनास्तथेच्छन्ति शौनकेयास्तथैव च। अथ० परि० २३।१०।५
४. अयुग्ममानानि परिमण्डलानि चतुरस्राणि वा शौनकिनाम्। कौ० सू० ८५।८
५. शौनकयज्ञोऽभिचारकामस्य ॥ वैतान० ४३।२५
६. अथातः शौनकयज्ञस्य शौनकयज्ञेनैष्यन्नेतस्यामेव पौर्णमास्यां प्रयुङ्क्ते··········शां० ब्रा० ४।७
७. न शौनकयज्ञे साकं प्रस्थाय्ये च विकारो होतुरस्ति। शा० शौ० सू० ३।१०।७
८. शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। मुण्डकोप० १।१।३
९. ॐ शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं भगवन्तं पिप्पलादमपृच्छत्। ब्रह्मो० १

उपनिषदों में एक 'शौनकोपनिषद्' नाम की भी है (एनकेतील का अनुवाद शवनक) और इन ग्रन्थों के व्याख्याकार भी प्रायः इन्हें या तो शौनक शाखा का बताते हैं, और या पैप्पलाद शाखा का। अन्ततः शाखाओं के विषय में प्राप्त होने वाले सभी क्रमबद्ध विवरणों में इस नाम का उल्लेख मिलता है, भले ही वह इसे इतना भ्रष्ट कर देते हैं कि हमारे लिए इसका पहचानना ही कठिन हो जाता है।

५. जाजल—यह नाम शाखा विवरणों की अशुद्धियों के कारण अस्पष्ट एवं संदिग्ध बन गया है; फिर भी अथर्व परिशिष्ट २२. २ के आधार पर इसे पक्की तौर से माना जा सकता है : 'बाहुमात्रा देवदर्शैर्जाजलैरुरुमात्रिका (अरणिः) तुलना करो सायण-भूमिका पृष्ठ २५। महाभाष्य के अनुसार इस शाखा के प्रवर्तक आचार्य जजलि प्रतीत होते हैं।

६. जलद का उल्लेख अथर्व-परिशिष्ट २. ५ के संदिग्धार्थक विररण में मिलता है, जो ऊपर मौद के नीचे दिया गया है। इसके अतिरिक्त जलदायन इस नाम का उल्लेख अथर्व-परिशिष्ट २२. २ में मिलता है 'जलदायनैर्वितस्तिर्वा (अरणिः) षोडशेति तु भार्गवः।'

७. ब्रह्मवद—चरणव्यूह के अतिरिक्त और कहीं भी इसका उल्लेख नहीं मिलता। शाखा-विषयक बाह्य विवरणों में यह नाम अल्पाधिक पाठभेद के साथ पाया जाता है।

८. देवदर्श या देवदर्शिन्—ये नाम कौशिक सूत्र ८५.७ में शौनकिन् के साथ मिलते हैं। व्याकरण के शौनकादि गण में 'देवदर्शनिनः' रूप में और अथर्व-परिशिष्ट २२. २ में इन नामों का उल्लेख आया है। देखिये ऊपर ५. के नीचे।

९. चारण वैद्य— कौशिक सूत्र ६. ३७[1] में केशव द्वारा और अथर्वपरिशिष्ट २३. २ में इस नाम का उल्लेख किया गया है : 'चारणवैद्यैर्जङ्घे च मौदेनाऽष्टाङ्गुलानि च' (अरणि का विस्तार)। सभी शाखा-सूचियों में यह नाम पाया जाता है।

१२. शाखाओं का ऐतिहासिक मूल्याङ्कन और उनका सूत्रों के आचार्यों से संबन्ध—कौशिकसूत्र ८५. ७[2], ८ में माप के मामूली से प्रश्न पर शौनकिन् एवं देवदर्शिन् के बीच मतभेद, तथा मौद और जलद के साथ शौनकिन् और पैप्पलाद—के विवाद के अतिरिक्त इन शाखाओं के विषय में एकमात्र स्पष्ट विवरण यह है कि कौशिक सूत्र का चलन शौनकीय, जाजल, जलद और ब्रह्मवद इन चार शाखाओं में आम था। कौशिक (-किन्) और देवदर्श (-शिन्) इन नामों को छोड़कर इन शाखा-नामों का न तो कौशिक और वैतान सूत्र और न गोपथ ब्राह्मण ही उन आचार्यों के साथ

---

१. एकादशिभिर्देवदर्शिनाम्। कौ० सू० ८५।७
.........चतुरस्राणि वा शौनकिनाम्॥ वही ८५।८

२. ....ओं भूर्भुवः स्वर्जनदो इमित्याचार्याः। वै० सू० १।३
यत्वा क्रुद्धा इत्युपोद्धरन्त्याचार्याः.........॥ वै० सू० ५।१३
अग्निहोत्रं नित्यमित्याचार्याः॥ वै० सू० ७।१६

संबन्ध दिखाता है, जिसका स्थान-स्थान पर इनमें उल्लेख मिलता है। गोपथ-ब्राह्मण के ऋषि और आचार्य प्रधानतः अनाथर्वणिक हैं और आथर्वण साहित्य के इतिहास के पुनर्निर्माण में उनका उपयोग नहीं किया जा सकता; क्योंकि इस बाद में बने ब्राह्मण ने अशेष ब्राह्मण-साहित्य से ही मनचाही सामग्री का विचयन किया है। दूसरी ओर कौशिक और वैतानसूत्र[1] अच्छा-खासा क्रम प्रस्तुत करते हैं: युवा कौशिक, भागलि, माठर, शौनक (कौशिक और वैतान) गार्ग्य पार्थश्रवस्, काङ्कायन, परिबभ्रव, जातिकायन, कौरुपथि, इशुफालि और देवदर्श (कौशि०)। इसके अतिरिक्त कौशिक १४०. १८ और वैतान[2] १. ३; ५. १३; ७. १६ में 'आचार्याः' का बहुवचन में प्रयोग करते हैं। दोनों ग्रन्थ नामहीन ग्रन्थकर्ताओं का भी उल्लेख करते हैं ('एके इत्याहुः')। इन नामों का इसी ग्रन्थ की शाखा-सूचियों में अभाव है; फलतः ये सूचियाँ बाद की उपज प्रतीत होती हैं। ये सूचियाँ पाँच आथर्वण कल्पों के सिद्धान्त के समय से पीछे की या उससे भी बाद की होनी संभव हैं। जिस प्रकार यह बताना कठिन है कि महत्त्वहीन शान्तिकल्प को ऊँचा उठाकर पाँचों कल्पों के अन्तर्गत अथर्ववेद के वास्तविक सूक्तों के साथ क्यों रख दिया गया, जब कि उसके समान ही अल्प महत्त्व वाले आसुरी कल्प को परिशिष्टों के अन्तर्गत रखा गया है, उसी प्रकार यह कहना भी कठिन है कि चारणवैद्य[3], मौद और जलद को शाखा क्यों मान लिया गया, और उन्हीं के साथ अथ० परि० २२. २. ४ में उल्लिखित भार्गव[4] को इस प्रतिष्ठा से क्यों वञ्चित कर दिया गया। कतिपय शाखा-नाम गोत्रवाचक नहीं हैं। वे शाखा-भेदों की अपेक्षा आथर्वणिक जीवन के व्यावसायिक पहलुओं पर ही आधृत प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि से देखने पर ब्रह्मवद शब्द का संकेत श्रौत अनुष्ठानों के समय आथर्वण कर्मकाण्डियों के ब्रह्मन् (चतुर्थ ऋत्विक्) के रूप में कृत्य करने की ओर हो सकता है, जब कि चारणवैद्य भ्रमण करने वाले वैद्यों के व्यवसाय को और जलद (जलदाता) जल से संबद्ध अभिचारों को सूचित कर सकते हैं। अस्तु, शाखा-सूचियों में अल्पाधिक महत्त्व वाले विभिन्न विषयों का संकलन है; और यह परंपरा कि कौशिक सूत्र इनमें से चार शाखाओं का विधान ग्रन्थ है, इस बात को सूचित करती है कि शाखा-संबन्धी भेद न तो संहिताओं में ही पूरी तरह घर कर पाये थे और न किसी एक संहिता के विभिन्न सूत्रों में ही घुस पाये थे।

१३. संहिता की शौनकीय एवं पैप्पलाद शाखाएं—प्रचलित अथर्ववेद और कश्मीरी अथर्व-संहिता के अतिरिक्त अब तक अन्य कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं

१ मन्त्रानादेशे लिङ्गवतेति भागलिः। प्रजापते न त्वदेतान्यन्य इति युवा कौशिकः। यथादेवतमिति माठरः। ओं भूर्भुवः स्वर्जन दो ३ मित्याचार्याः। व० १।३

२. यत् त्वा क्रुद्धा इत्युपोद्धरन्त्याचार्या आहवनीयदक्षिणाग्न्योर्लक्षणान्तम्। वै० ५।१३ अग्निहोत्रं नित्यमित्याचार्याः। वै० ७।१६

३. चारणवैद्यैर्जङ्घे च मौदेनाष्टाङ्गुलानि च। देखो महाभाष्य ४।१।८६ और शावरभाष्य १।१।३०

४. जलदायनैर्विसस्तिर्वा षोडशेति तु भार्गवः॥ अथ० परि० २२।२।४

मिला है जो अथर्ववेद की संहिताशाखा अथवा सूत्रशाखा का प्रतिनिधित्व कर सकता हो। यह बात निश्चय के साथ कही जा सकती है कि कौशिकसूत्र, वैतानसूत्र और गोपथ-ब्राह्मण के सहित प्रचलित अथर्ववेद शौनक शाखा का है। अथर्ववेद-प्रातिशाख्य का नाम 'शौनकीया चतुरध्यायिका' भी इस बात की पुष्टि करता है। यह स्पष्ट रूप से प्रचलित अथर्ववेद का ही स्वर एवं ध्वनि-संबन्धी प्रातिशाख्य है। कौशिकसूत्र १. ६ अथर्वपद्धति 'वैतानसूत्र' को शौनकीयसूत्र बताती है। वैतानसूत्र तो निश्चित रूप से कौशिकसूत्र पर आधृत है, अतः कौशिकसूत्र भी शौनकिन् का ही गृह्यसूत्र है। ऊपर निर्दिष्ट परंपरा, अर्थात् कौशिकसूत्र 'चतसृषु शाखासु शौनकादिषु संहिताविधिः' है, स्वतन्त्र रूप से उसी निष्कर्ष को पुष्ट करती है जिसकी ओर कौशिकसूत्र ८५. ७, ८[1] में इशारा मिलता है, जहाँ कि यह सूत्र 'देवदर्शिन्' के विपरीत शौनकिन् का पक्ष लेता है। कौशिक-सूत्र प्रचलित अथर्ववेद के आद्यसूक्त ('ये त्रिसप्ताः') को 'पूर्वम्' (या 'त्रिसप्तीयम्') सूक्त में उद्धृत करता है और आम तौर से इसके सूक्तों को प्रतीकों के रूप में उद्धृत करता है। साथ ही यह इसी संहिता के अक्षर-विन्यास एवं पाठ-संबन्धी भ्रमों को भी प्रस्तुत करता है। दोनों ग्रन्थों का शाखा-तादात्म्य नितरां असंदिग्ध है। इसके विपरीत कौशिक और वैतानसूत्र कश्मीरी अथर्ववेद से सूक्तों को सकल-पाठेन उद्धृत करते हैं; जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे पैप्पलाद के सूत्र नहीं हैं। प्रत्यक्षतः शौनकीय होते हुए भी प्रचलित आथर्वण संहिता और सूत्र इस अचूक साम्य के कारण भी शौनकीय ठहरते हैं; क्योंकि इस बात के मान लेने के लिये प्रमाण नहीं मिलता कि यह शब्द किसी अन्य सूत्र-शाखा-विशेष का अभिधान रहा था।

कश्मीरी अथर्व-संहिता पैप्पलाद शाखा की है, जैसा कि उस वेद की तुबिंगन प्रति में साफ तौर से बताया गया है। इस हस्तप्रति में इस संहिता को आथर्वणिका पैप्पलाद-शाखा कहा गया है। इस विषय पर परिशिष्टों का साक्ष्य पहले पैप्पलाद के नीचे दिया जा चुका है। इसमें 'पिप्पलादि-शान्ति-गण' अथ० परिशिष्ट ३२. २०[2] (कौशि० ९-७[3] टिप्पणी) विशेष महत्त्व का है। निःसंदेह इसका यह नाम इस लिये पड़ा था कि यह 'शं नो देवीः' इस मन्त्र-प्रतीक से प्रारम्भ होता है, जो संभवतः पैप्पलाद अथर्ववेद का पहला मन्त्र है। और यह बात कि पैप्पलाद यह नाम सामान्य आथर्वण साहित्य के साथ ढीलेढाले तौर से संबद्ध है, वैदिक शाखाओं के इतिहास में बहुधा अन्यत्र भी मिल जाती है; इसलिये उससे प्रस्तुत निर्णय पर किसी प्रकार का विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा का न तो ब्राह्मण ही मिलता है और न इसके सूत्र

१. एकादशभिर्देवदर्शिनाम्। कौ० सू० ८५।७
अयुग्ममानानि परिमण्डलानि चतुरस्राणि वा शौनकिनाम्। कौ० सू० ८५।८

२. ....शं नो वातो वातु शान्ता द्यौः पिप्पलादिशान्तिगणः॥ अथ० परि० ३२।३०

३. उभयतः शान्तिगणस्य प्रारम्भे समाप्तौ च॥ कौ० सू० ९।७ पर टिप्पणी

ही सुरक्षित हैं; साथ ही न तो वैदिक साहित्य में और न ही आथर्वण साहित्य में ही इस प्रकार की रचनाओं का कहीं नाम के लिये भी उल्लेख ही मिलता है[1]। इस संहिता की एकमात्र भोजपत्र प्रति के रूप में इस शाखा का ढूँढ़ निकालना प्रो० रॉथ की दक्षता और परिश्रम का परिणाम है। उनके इस अन्वेषण के विषय में और शोध के सामान्य इतिहास पर लिखते हुए ब्लूमफील्ड ने प्रचलित अथर्ववेद के साथ पैप्पलाद प्रति की संक्षिप्त तुलना, १८७५ में तुबिंगन योजना के अन्तर्गत 'देर अथर्ववेद इन काश्मीर' नाम की रचना में की थी। इस विषय में लेखक के अत्तिदेल ४ और कांग्रेसो इन्टरनेशनल देग्ली ओरियेण्टलिस्टि भाग २ पृष्ठ ८९-९६ को पढ़िये। ब्लूमफील्ड ने तुबिंगन प्रति की फोटो करने का प्रस्ताव भी किया था। प्रचलित अथर्ववेद के शौनकीय मन्त्रों से मिलने वाले समानान्तर पैप्पलाद पाठ ह्विटनी के निधनोपरान्त प्रकाशित हुए अथर्ववेद के अंग्रेजी अनुवाद और आलोचनात्मक विवेचन में उद्धृत कर दिये गए हैं। पैप्पलाद अथर्ववेद के समानान्तर अंश स्थान-थान पर कौशिक और वैतानसूत्र में ध्यान के साथ उद्धृत किये गये हैं। अथर्ववेद ११. २ का पैप्पलाद पाठ काठकशाखा के एक ऋचक में मिलता है, जिसका उल्लेख फोन श्रोदेर ने किया है। सायणाचार्य अपनी अथर्व-टीका में जगह-जगह पैप्पलाद से पाठ ग्रहण करते देखे जाते हैं।

१४. पैप्पलादशाखा का संक्षिप्त विवरण—शौनकीय अथर्ववेद की तरह पैप्पलाद अथर्व भी २० काण्डों में विभक्त है। अनुवाक और सूक्त इसके उपविभाग हैं। पैप्पलादशाखा का प्रचलित अथर्ववेद के साथ संबन्ध (जिसके समान अंश कोष्ठक में अङ्कों द्वारा निर्दिष्ट हैं) निम्न हैं: अथर्ववेद-पैप्पलाद का आद्य मन्त्र 'शं नो देवीः' (१. १. ६) है। शौनकीय अथर्व का आद्य मन्त्र 'ये त्रिसप्ताः' अथर्ववेद पैप्पलाद के प्रथम काण्ड के द्वितीय अनुवाक के प्रारम्भ में आता है। अवशिष्ट काण्डों के प्रतीक हैं:—२. अरसं प्राच्यम् (४. ७. १); ३. आ त्वा गन् (३. ४. १); ४. हिरण्यगर्भः (४. २. ७); ५. पिशङ्गबाह्वे सिन्धुजातायै; ६. तद् इद् आस (५. २. १); ७. सुपर्णस्त्वा (५. १४. १); ८. कथा दिव असुराय (५. ११. १); ९. ऊर्ध्वा अस्य (५. २७. १); १०. न तद्विदो यद्; ११. वृषा तेऽहम्; १२. इमं स्तोममर्हते (२०. १३. ३) १३. अग्निस्तक्मानम् (५. २२. १) १४. इन्द्रस्य नु (२. ५. ५); १५. सम्यग् दिग्भ्यः; १६. अन्तकाय (८. १. १); १७. सत्यं बृहद् ऋतम् (१२. १. १); १८. सत्येनोत्तभिता (१४. १. १); १९. दोषो गाय (६. १. १) २०. धीती वा ये (७. १. १)

शौनकीय अथर्व के काण्ड १—७ पैप्पलाद अथर्व में बहुत कुछ मिल जाते हैं, जब कि ८—१४ तो लगभग पूर्णरूप से पाये जाते हैं। १५ का केवल

1. प्रपञ्चहृदय—'तथाथर्वणिके पैप्पलादशाखायां मन्त्रो विंशतिकाण्डः। तद्ब्राह्मणमध्याष्टकम्' द्रष्टव्य है।
'ऐतरेयमस्माकं पैप्पलादमथर्वणाम्' वेंकटमाधव, ऋग्भाष्य ८।१

प्रारम्भ का अंश मिलता है और १६ और १७ दोनों काण्ड अधिकांशतः मिल जाते हैं। किंतु अन्त्येष्टिसूक्त, काण्ड १८ का अभाव खलता है। दो पूरक काण्डों १९ और २० में से कुन्तापसूक्त-सहित २० वाँ काण्ड पैप्पलाद अथर्व में नहीं मिलता। जो मन्त्र कुन्ताप में नहीं हैं, और जो ऋग्वेद से भी नहीं लिये गये, वे इस बात के अपवाद हैं। १९ वें काण्ड के ७२ सूक्तों में से १२ को छोड़कर शेष सारा काण्ड पैप्पलाद अथर्ववेद में विखरा पड़ा है; और इससे अनुमान हो सकता है कि शौनकीय अथर्व का यह पूरक अंश अधिकांशतः इस संहिता की पैप्पलाद शाखा से लिया गया है। किसी हद्दतक दोनों वेदों का विन्यास समानान्तर रूप में हुआ है। शौनकीय अथर्व के काण्ड १—५ पैप्पलाद अथर्व के १—९ काण्डों में मिलते हैं; काण्ड ८—११ बड़े काण्ड १६ में, काण्ड १२ काण्ड १७ में, और काण्ड १३, १४, १६ और १७ काण्ड १८ में मिल जाते हैं। एक बात जिसपर ध्यान देना उचित है यह है कि शौनकीय अथर्ववेद के काण्ड ६, ७ पैप्पलाद अथर्ववेद के काण्ड १९ और २० में मिलते हैं। दोनों शाखाओं के अथर्ववेदों में नगण्य पाठ-भेदों के साथ-साथ पूर्णतः विभिन्नार्थक पाठ आम हैं। दोनों शाखाओं के समान सूक्तों और मन्त्रों में पाठ की पूर्णतः समानता कम ही देखने को मिलती है। पैप्पलाद अथर्व का अष्टमांश या नवमांश मौलिक है; क्योंकि यह न तो शौनकीय अथर्व में मिलता है और न ही उपलब्ध होने वाले अन्य मन्त्र-संग्रह में।

(ङ) आथर्वण साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा

१५. संहिताएं, सूत्र एवं ब्राह्मण—आथर्वण साहित्य के दो सूक्त-संग्रह मिलते हैं, जो परंपरया क्रमशः शौनक और पैप्पलाद की शाखाओं से संबद्ध हैं। पैप्पलाद की प्रति में पदपाठ एवं भाष्य नहीं मिलते और आज तक इसका शुद्ध प्रामाणिक संस्करण भी नहीं प्रकाशित हो पाया है। पहली शाखा के संहिता एवं पदपाठ दोनों की अनेक हस्त-प्रतियाँ उपलब्ध हैं। केवल कुन्ताप सूक्त का पाठ अब तक प्रकाश में नहीं आ पाया है; कदाचित् यह प्राप्य ही न हो। प्रचलित अथर्ववेद का संपादन रॉथ और ह्विटनी ने किया है (बर्लिन १८५५). वेबर ने शौनकीय पद-पाठ का दूसरे पद-पाठों की समीक्षा में दिग्दर्शन कराया है (इ० स्तू० १३. ६) यह पदपाठ १९ वें काण्ड में अशुद्धियों से भरा पड़ा है। अन्य काण्डों में भी खलने वाली अशुद्धियाँ पाई जाती हैं; उदाहरण के लिये : 'स्तुवन्नेमि' का 'स्तुवन् एमि' के स्थान पर 'स्तुवन् नेमि' ४. २८. ३ b, तथा 'यद्यामम्' का 'यदि आमम्' के स्थान पर 'यद् यामम्' यह विच्छेद किया गया है (६. ११६. १ a)। प्रमुख सहायक ग्रन्थों के उपयोगी विवरण से संवलित, एवं अथर्ववेद के महत्त्व एवं स्वरूप के विषय में आथर्वण दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाली विस्तृत भूमिका से सुरोचित शौनकीय अथर्व का एक अपूर्ण भाष्य सायण का बनाया बताया जाता है और इसे एस. पी. पंडित ने प्रकाशित कराया है। अथर्ववेद का सबसे अधिक महत्वपूर्ण सहायक ग्रन्थ कौशिक सूत्र है। इसमें अनेक फुटकर विषयों के

साथ-साथ वे विषय भी आ गये हैं जो सामान्यतः गृह्यसूत्रों में पाये जाते हैं। कौशिक सूत्र का शौनकीय शाखा अथवा उससे अत्यल्प अन्तरवाली किसी आथर्वण शाखा के साथ संबन्ध है; और इसके विषय में आम धारणा तो यह है कि यह ४ आथर्वण शाखाओं के गृह्यसूत्र के रूप में प्रचलित था; जिनमें शौनकीय शाखा सर्वोपरि मानी जाती थी। प्रतीत होता है कि दारिल की टीका, केशव की पद्धति, एवं अन्य छोटी-मोटी पद्धतियों के अतिरिक्त कौशिकसूत्र पर भद्र और रुद्र ने भी भाष्य लिखे थे। इन लेखकों के उद्धरणों से (कौशि० पृ० १२, ३३८, ३५२) यह जाना जा सकता है कि इनकी रचनाएँ बाद की स्मृतियों के समान ही श्लोकों में निबद्ध थीं। अथर्ववेद से संबद्ध एक श्रौतसूत्र, वैतानसूत्र नाम का है जिसके रचयिता का आज तक पता नहीं लग पाया है। वैतान का शौनकीय शाखा से संबन्ध प्रत्यक्ष है। प्रकाशित वैतानसूत्र में ८ अध्याय हैं। इसका एक परिशिष्ट भी है, जिसका नाम 'यज्ञप्रायश्चित्तसूत्र' या 'वैतायन' है। इसमें ६ अध्याय हैं। किंतु इसका प्रामाणिक संस्करण आज भी दुष्प्राप्य है। शङ्कर पण्डित ११. २ की भूमिका में वैतान पर सोमादित्य के 'आक्षेप' नामक भाष्य का उल्लेख करते हैं। वैतानसूत्र का कौशिक तथा अथर्ववेद संहिता के साथ संबन्ध दूसरी शाखाओं के इन्हीं ग्रन्थों के पारस्परिक संबन्ध को देखते हुए विचित्र-सा प्रतीत होता है। सामान्यतया गृह्यसूत्रों का आधार श्रौतसूत्र माने जाते हैं और ये उनका उल्लेख भी करते हैं। साथ ही जो विधान श्रौतसूत्रों में विहित हो चुके होते हैं उनका गृह्यसूत्र फिर दुबारा वर्णन नहीं करते। अथर्ववेदके इन दोनों सूत्रों में इस संबन्ध को उलट दिया गया है; क्योंकि किसी भी दृष्टिसे कौशिक सूत्र वैतान सूत्र पर आधृत नहीं है; इसके विपरीत वैतानसूत्र का कौशिक सूत्र पर आधृत होना स्थल-स्थल पर उभर आता है। वैतानसूत्र कौशिकसूत्र को संहिता के तुल्य मानता है। कौशिकसूत्र की याज्ञिक क्रियाएँ और उसके स्वतन्त्र मन्त्र वैतान को मान्य हैं और उसमें उनका निर्देश इस प्रकार से किया गया है मानो वैतानसूत्र के श्रौत पुरोहित इन्हें भली भाँति समझते और जानते रहे हो। अन्य श्रौतसूत्रों को ध्यान में रखते हुए वैतानसूत्र पर इस प्रकार विचार किया जा सकता है: यह श्रौत संस्कारों में होने वाले उन अनुष्ठानों से उद्‌भूत नहीं है, जो उच्च ब्राह्मण पुरोहितों के संप्रदाय-विशेष में शनैः-शनै विकसित हुए थे, अपितु इसका अथर्ववेदियों द्वारा उस युग में संकलन किया गया प्रतीत होता है जब वे अथर्ववेद को एक तन्त्र एवं उच्चकोटि के आनुष्ठानिक ग्रन्थ का गौरव प्रदान करने के लिए उससे संबद्ध एक पृथक् श्रौत-सूत्र की आवश्यकता का अनुभव करने लगे थे। वैतान-सूत्र १. ८[1] इसका आधार यजुर्वेद को स्वीकार करता है। अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण गोपथ भी शौनक शाखा का है, जो वैतान से बाद का है; और हो न हो उसी पर आश्रित है (देखिये कण्डिका ६४)।

१. देवता हविर्दक्षिणा यजुर्वेदात्। वै० सू० १।८

१६. *कल्प और परिशिष्ट*—उपरिनिर्दिष्ट सूत्रों के साथ ३ ग्रन्थ और संबद्ध हैं। हिन्दू-परंपरा के अनुसार अथर्ववेद से संबद्ध याज्ञिक साहित्य ५ कल्पों का बना है। पूर्वमीमांसाचार्य उपवर्ष तो यहाँ तक कह डालते हैं कि ये ५ श्रुतियाँ (वेदतुल्य) हैं और अन्य स्मृति। इन पाँच कल्पों का प्रयोग करने वाले पुरोहित 'पञ्चकल्प' या 'पञ्चकल्पिन्' कहलाते हैं। इन ग्रन्थों के कुछ अदल-बदल के साथ नाम हैं: १. कौशिकसूत्र, संहिता-विधि या संहिता-कल्प; २. वैतान-सूत्र अथवा वैतान-कल्प; ३. नक्षत्र-कल्प; ४. शान्ति-कल्प; ५. आङ्गिरस-कल्प, अभिचार-कल्प अथवा विधान-कल्प। अन्तिम तीनों परिशिष्ट हैं; और इस कोटि के अन्य आथर्वण ग्रन्थों से अधिक रुचिकर नहीं हैं। पता नहीं क्यों उन्हें यथार्थ सूत्रों के पार्श्व में रखे जाने योग्य समझ लिया गया था। आङ्गिरस कल्प की कोई हस्तप्रति न तो उपलब्ध हुई है और न हस्तप्रतियों की सूचियोंमें इसका निर्देश ही मिलता है। हमारे इस अनुमान की कि यह ग्रन्थ कौशिक सूत्र के षष्ठ खण्ड पर आधृत है, सायण के संक्षिप्त वर्णन से पुष्टि होती है, (सायण; भूमिका पृ० २८)। नक्षत्रकल्प को परिशिष्ट बताया गया है, और यह परिशिष्ट कतिपय हस्तप्रतियों के प्रारम्भ में मिलता है। यह ग्रन्थ और साथ ही इससे कम महत्त्व का शान्तिकल्प, नक्षत्रविद्या और ज्योतिष के ग्रन्थ हैं। हेटफील्ड के अनुसार परिशिष्टों की संख्या ७२ है, जिनमें से बहुत से विभिन्न विषयों का विवरण देते हैं। नक्षत्र कल्प (निरुक्त १) और इसके पूरक पैप्पलाद मन्त्रों (नि० १) को छोड़कर ये राजकर्माणि सदृश लम्बे पाठों से आरम्भ होते हैं और 'अद्भुतानि' के विवरणों से कुछ ही कम विभिन्न वर्ग के पाठों के साथ समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार ये भी कौशिक सूत्र (१४—१७[1] और अध्याय १३) की परंपरा को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं। इन ग्रन्थों में बहुत से व्याकरण, इतिहास, और नक्षत्रविद्या विषयों पर है और वे इतने अधिक रुचिकर हैं कि इन सबके संग्रह का एक आलोचनात्मक संपादन वाञ्छनीय है। इनमें से कुछ का तो सम्यक्तया संपादन हो चुका है। 'पैप्पलादाः मन्त्राः' का प्रकाशन ब्लूमफील्ड ने किया है[2]। इन्द्र-महोत्सव (१९) कौशिक सूत्र के इसी नाम के अध्याय १४० के समान है। स्कन्दयाग या धूर्तकल्प का, जो चौर विद्या का ग्रन्थ है, गुडविन ने संपादन और अनुवाद किया है। गणमाला का कार्य उससे साम्य रखने वाले कौशिक सूत्र के साथ हो चुका है। आसुरि-कल्प का, जो आसुरी वनस्पति से संबद्ध यातु-क्रिया की छानबीन करता है, संपादन एवं अनुवाद मैगोन ने टीका के आधार पर कर दिया है। श्राद्धकल्प का अनुवाद एवं संपादन कैलेण्ड ने किया है। उत्तम पटल के अंशों का वेबर ने निरूपण किया है। कौत्सव्य (या कौत्सवय) निरुक्त निघण्टु (४८) की टीका और उसकी यास्क के निघण्टु से तुलना ब्लूमफील्ड ने प्रस्तुत की है।

---

१. पूर्वस्य हस्तित्रसनानि। कौ० सू० १४।१ इत्यादि

२. अब डी. भट्टाचार्य कर रहे हैं।

चरण-व्यूह (४९) की विवेचना एवं ग्रहयुद्ध (५१) का संपादन वेबर ने किया है। अद्भुत शान्ति (६७) के बहुतर भाग का प्रकाशन और अनुवाद भी वेबर ने कर दिया है। 'औशनसाद्भुतानि' का संपादन और अनुवाद हेटफील्ड ने किया है। परिशिष्टों एवं पद्धतियों की अपेक्षा कम महत्त्ववाली और संभवतः इनके बाद के समय में बनी कुछ प्रार्थनाओं की और कतिपय याज्ञिक ग्रन्थों की हस्तप्रतियाँ भी मिली हैं; यथा 'अथर्वतर्पणम्, वासुदेवकृत 'आथर्वण-प्रमिताक्षरा', षोडशोपचारपूजा और रहस्यग्रन्थ। 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' के व्रत-खण्ड में हेमाद्रि एक आथर्वण विधान को प्रस्तुत करते हैं। किसी पञ्चकलिपन् द्वारा लिखित अथर्ववेदोक्तं ज्यौतिषम्' के लिये देखिये वेबर, फेर्त्सा ०२. पृष्ठ ९६। इसी प्रकार के एक अन्य ग्रन्थ 'आरण्यक-ज्यौतिषम्' के लिये देखिये हॉग इ० स्तू० ९. १७४।

१७. पैठीनसि-स्मृति –ब्लूमफील्ड द्वारा उठाये गए इस प्रश्न का कि क्या धर्म के मान्य लेखक पैठीनसि का अथर्ववेद के साथ संबन्ध है, पिशेल, कैलेण्ड, जॉली और हिलेब्राण्ट ने हाँ में उत्तर दिया है। पिशेल पैठीनसि को गद्य और श्लोकमिश्रित धर्मग्रन्थ का रचयिता मानते हैं। कैलेण्ड और जॉली उसे एक धर्मसूत्र के लेखक के रूप में स्वीकार करते हैं। कैलेण्ड इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पैठीनसि हर सूरत में एक आथर्वण लेखक थे; क्योंकि इनका लिखा श्राद्धकल्प, जिसका संकलन हेमाद्रि के उद्धरणों के आधार पर किया गया है, आथर्वण श्राद्धग्रन्थों से संबद्ध है। यह संभव है कि पैठीनसि अनेक रहे हों। आथर्वण पद्धति उन्हें एक पद्धति का रचयिता बताती है। आथर्वण टीकाओं के उद्धरण विशेष प्रकारकी आथर्वण विधियों के ज्ञान का उल्लेख करते हैं, जिससे सूचित होता है कि कोई पैठीनसि सीधे कौशिक सूत्र पर आधृत एक परवर्ती छन्दोमय संकलन के रचयिता थे। परिशिष्टों में पैठीनसि 'मौसलीपुत्र' कहलाये हैं; किंतु प्रस्तुत धर्मसूत्र के लेखक वे नहीं प्रतीत होते। कुछ भी हो यह स्मरणीय है कि यदि पैठीनसि को इन उल्लेखों के अनुसार धर्मसूत्रों का रचयिता मान लिया जाय, तो उन्हें बहुत बाद के समय का बताना अनुचित होगा।

१८. आथर्वण उपनिषद्—परंपरा के अनुसार अथर्ववेद के साथ उपनिषदों की एक बहुत बड़ी संख्या संबद्ध है। वस्तुतः उन उपनिषदों को छोड़कर जो निश्चित रूप से अन्य तीन वेदों से संबद्ध हैं, शेष सभी उपनिषद् इसी वेद की बताई जाती हैं। इनमें से भी कुछ आथर्वण पाठों में भी मिल जाती हैं : यथा केन (सामवेद), भृगुवल्ली, आनन्दवल्ली, (तैत्तिरीय उपनिषद् = तै० आ० ८ और ९) और बृहन्नारायण (= महानारायण = तै० आ० १०)। ४९वें परिशिष्ट चरणव्यूह के द्वारा प्रस्तुत २७ उपनिषदों की सूची आथर्वण उपनिषदों की संख्या और उनके नाम के विषय में एक प्रामाणिक विवरण है। इस विवरण

में आई उपनिषदें ये हैं : १. मुण्डक २. प्रश्न ३. ब्रह्मविद्या ४. क्षुरिका ५. चूलिका ६. अथर्वशिरस् ७. अथर्वशिखा, ८. गर्भ, ९. महा, १०. ब्रह्म, ११. प्राणाग्निहोत्र, १२. माण्डूक्य, १६. नादबिन्दु, १४. ब्रह्मबिन्दु, १५. अमृतबिन्दु, १६. ध्यानबिन्दु १७. तेजोबिन्दु, १८. योगशिखा, १९. योगतत्त्व, २०. नीलरुद्र २१. पञ्च-तापिनी (—तापनीय), २२. एकदण्डिसंन्यास; २३ अरुणि, ९४. हंस २५. परमहंस, २६. नारायण, २७. वैतथ्य। इस सूची में आये अधिकतर नामों की व्याख्या अनावश्यक-सी है। 'पञ्चतापनीय' निश्चित रूपसे 'नृसिंह-पूर्वतापनी' है; एक हस्तप्रति में इसका नाम द्वितापनीय बताया गया है और कदाचित् लेखक के ध्यान में 'नृसिंहोत्तरतापनीय' यह नाम रहा हो। 'एकदण्डिसंन्यास' शब्द उपनिषद् के अभिधान के रूप में अन्यत्र नहीं मिलता। इसका आधार शब्द एकदण्डिन् (पञ्चविंश ब्रा० १९-४७)[1] ब्रह्म ३; परमहंस ३, और गोपीचन्दन ५[2] में मिलता है। तुलना कीजिये—शौनक में 'एकदण्डिसंन्यासविधिः' शीर्षक के अन्तर्गत धर्मशास्त्र रूप में सूचित हस्तप्रति की—स्टाइन्स कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स् ऐट जम्मू पृ० ८४। यह मानना कठिन है कि यह ग्रन्थ और सुप्रसिद्ध 'संन्यास उपनिषद्' दोनों एक हैं। वैतथ्य, माण्डूक्य पर मिलने वाली गौडपाद कारिका के उन चार भागों में से दूसरे भाग का स्वतन्त्र अभिधान है, जो प्रायः स्वतन्त्र उपनिषद् माने गये हैं। इस सूची में एक व्यक्तिक लेखक का नाम आ जाने से यह विश्वास हो जाता है कि अन्य उपनिषद्-सूचियों की भाँति यह भी परवर्ती है और अन्य स्थानों से संकलित है और किसी एक विद्वान् या विद्वानों के एक वर्ग के पाण्डित्य को प्रस्तुत करती है। इसका किसी अन्य ऐतिहासिक संग्रह से साम्य नहीं है, जैसे कि मुक्तिकोपनिषद् के संग्रह से, फारसी उपनेखत के एन्क्वेतिल डुपोरेन्सकृत लैटिन अनुवाद से; नारायण के संग्रह से, कोलब्रुक के संग्रह से, या वैम्बर के संग्रह की सूची से। जीवानन्द की आथर्वणोपनिषद् (कलकत्ता १८९१) में २९ उपनिषद् आई हैं, किंतु वे निश्चय ही 'बिब्लियोथिका इण्डिका' के अन्तर्गत प्रकाशित पाँच खण्डों वाले अपूर्ण संस्करण से नकल की गई हैं। वे भी छोटी-छोटी उपनिषदों के स्वतन्त्र संग्रह हैं और ग्रन्थ-पाठ के चुनाव तथा क्रम में परिशिष्टों से भिन्न हैं। सच पूछो तो उपनिषदों का कोई सकल संग्रह नहीं हो पाया है; क्योंकि उपनिषद् शब्द किसी एक सीमित या निश्चित ग्रन्थ का नाम न होकर साहित्यकी अनिश्चित प्रकार से विकसित हुई एक विधा को सूचित करता है 'जिसका अवसान नहीं हुआ है और जिसका तारतम्य वर्तमान या भविष्य में भी बनाये रखा जा

१. इन्द्रो यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छत्तमश्लीला वागभ्यवदत्सोऽमन्यत स एते शुद्धाशुद्धीये अपश्यत्ताभ्यामशुध्यत् ॥ पं० ब्रा० १९।४।७

२. गोपीचन्दनलिप्ताङ्गं पुरुषं य उपासते। एवं ब्रह्मादयो देवास्तन्मुखास्तानुपासते।

•गोपीचन्दन ५

सकता है। वेबर ने १८७६ में उपनिषदों की सकल संख्या, इनमें संदिग्ध ग्रन्थों को भी जोड़कर २३५ बताई थी। एक मुसलमानी अल्लोपनिषद् भी इनमें गिन ली गई थी। आथर्वण उपनिषदों का ऐतिहासिक महत्त्व उनके किसी एक संग्रह में मिल जाने पर आधृत नहीं है अपितु उनका महत्त्व–और असल में तो ऐतिहासिक महत्त्व—उपनिषदों के सभी संग्रहों में उनके नियमतः आने पर आधृत है। कहना न होगा कि परस्पर-विरुद्ध स्वभाव वाली रचनाएँ भी (तुलना करो 'गारुड' से, जो सर्प-विद्या है) उपनिषदों के प्रमुख संग्रहों में समाविष्ट हो गई हैं जो कि प्रायः सभी अपेक्षाकृत बाद के संग्रह हैं। अतः उपनिषदों के काल और मूल्य का निर्धारण, इनकी शैली, विषय और इसी प्रकार के अन्य आन्तरिक मापदण्डों से निश्चित किया जाना चाहिये।

डायसन, वेबर के एक सुझाव पर चलते हुए आथर्वण उपनिषदों को पाँच वर्गों में बाँटते हैं। १. शुद्ध वेदान्त-उपनिषद्—जो प्राचीन वेदान्त के सिद्धान्तों को, योग या संन्यास की भावनाओं एवं शिव तथा विष्णु के प्रतीकवाद के अनावश्यक विकास के बिना, चालू रखती हैं। २. योग उपनिषद्—ये वेदान्त-सिद्धान्तों की पूर्व-पीठिका को सामने रखती हुई उनकी मात्राओं—विशेषतः अन्तिम अर्धमात्रा (नाद)—के ध्यान का उपदेश देती हैं। ३. संन्यास-उपनिषद्—ये उपनिषदों की शिक्षाओं के परिणामभूत तापस-जीवन का विधान एवं वर्णन करती हैं) ४. शिव उपनिषद्— ये प्रभूत देवता शिव या उनकी मूर्तियों (ईशान, महेश्वर, महादेव आदि) में से किसी एक की आत्मा का मूर्त रूप में व्याख्यान करती हैं। ५. विष्णु उपनिषद्—ये विष्णु या उनके अवतारों (नारायण, नृसिंह, राम, कृष्ण) को आत्मा की मानवमूर्तियों के रूप में परिवर्तित करती हैं। इन वर्गों में से प्रथम (तुल० अथ० १० ७ और ८; ११. ४. और ८[1]), तृतीय (तुल० अथ० ११. ५[2]), और चतुर्थ (तुल० अथ० ४. २८,

१. कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम्।
क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम्॥ अ० १०।७।१ इत्यादि
यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ अ० १०।८।१ इत्यादि
प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ अ० ११।४।१ इत्यादि
यन्मन्युर्जायामावहत्संकल्पस्य गृहादधि।
क आसन् जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत्॥ अ० ११।८।१ इत्यादि

२. ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं१ तपसा पिपर्ति॥ अ० ११।५।१ इत्यादि

११. २ [1]) अथर्ववेद के सूक्तों से संबद्ध कही जा सकती हैं। परंतु बात ऐसी है नहीं; आथर्वण उपनिषदों का जिन बातों की दृष्टि से सामान्य वैदिक मन्त्रों के साथ संबन्ध है, उन्हीं बातों की दृष्टि से इनका अथर्ववेद के साथ भी संबन्ध है। इस बात का अपवाद चूलिका-उपनिषद् है, जो मन्त्रोपनिषद् के रूप में अथर्ववेद के सृष्टिसंबन्धी और आध्यात्मिक सूक्तों को—जिनमें ब्रह्मचारिन् (११. ५), स्कम्भ (१२. ७[2] और ८) और उच्छिष्ट (११. ७)[3] से संबद्ध सूक्त प्रमुख हैं— प्रस्तुत करती है। इसके सिवाय अन्य उपनिषदों में आथर्वण सूक्त छिट-पुट रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं और अन्य वेदों के मन्त्रों की अपेक्षा अधिकता से या अधिक जानकारी के साथ उद्धृत नहीं हुए हैं। इनबातों के सिवाय इन ग्रन्थों का अथर्ववेद के साथ संबन्ध शिथिल-सा ही है। प्राचीन उपनिषदों की अपेक्षा इन उपनिषदों में अधिकता के साथ अथर्ववेद का नाम त्रयी के साथ जोड़ा गया है। इनमें आये ऋषियों के नाम भी बहुधा आथर्वण परंपरा के अनुसार ही हैं; जैसे कि अथर्वन्, अङ्गिरस् (जिससे मुण्डक १. १. २;[4] अङ्गिरस् शब्द लेता है) भृगु, शौनक, पिप्पलादि। अन्तिम दो नाम आथर्वण शाखाओं के हैं; और ये ही परंपरागत दो शाखाओं के नाम अथर्ववेद की उपनिषदों में मिलते हैं। टीकाकार इन दोनों आखाओं में से किसी एक के साथ स्वतन्त्र उपनिषदों को स्वतन्त्र शाखाग्रन्थों के रूप में जोड़ देते हैं। उदाहरणार्थ कोलब्रुक कहते हैं कि उनकी सूची की पहली १५ उपनिषद् शौनक शाखा की हैं; अथवा स्वयं प्रश्नोपनिषद् की शब्दावली इस उपनिषद् को 'पिप्पलादार्थवणशाखायाम्' से संबद्ध बताती है। किंतु चूलिका को छोड़कर—जो स्पष्टतः शौनकीय का उल्लेख

---

१. भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद्विरोचते।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ अ० ४।२८।१ इत्यादि
भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥ अ० ११।२।१ इत्यादि

२. कस्मादङ्गाद्दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात्पवते मातरिश्वा।
कस्मादङ्गाद्वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा महः स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥ अ० १०।७।२ इ० मन्त्र
स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राणन्निमिषच्च यत् ॥ अ० १०।८।२ इत्यादि मन्त्र

३. उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥ अ० ११।७।१ इत्यादि २७ मन्त्र

४. अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भरद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भरद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ मुण्डकोप० १।१।२

करती है—अन्य उपनिषदों में ऐसा कोई विवरण नहीं मिलता जो उन्हें अथर्ववेद की एक या दूसरी शाखा के साथ अथवा पूरे अथर्ववेद के साथ संबद्ध कर पाता हो। पहलेपहल तो यह बात कुछ अजीब-सी लगती है; क्योंकि अथर्ववेद के आध्यात्मिक सूक्त अन्य वेदों के आध्यात्मिक सूक्तों की अपेक्षा उपनिषदों के विचारों की कहीं अधिक उच्च स्वर से घोषणा करते दिखाई पड़ते हैं, और अथर्ववेद का परवर्ती याज्ञिक साहित्य—विशेषतः गोपथ-ब्राह्मण—ब्रह्मज्ञान में लीन हुआ दीख पड़ता और दूसरों को भी उसमें लीन होने का उपदेश देता है। साथ ही गोपथ-ब्राह्मण का—विशेषतः प्रथमप्रपाठक में—भाषा और शैली की दृष्टि से उपनिषदों के साथ साम्य प्रत्यक्ष है। खास करके 'ओम्' अक्षर के विषय में तो इसके विचार योग-उपनिषदों की याद दिला देते हैं। सच पूछो तो गोपथब्राह्मण के ओम्-सृष्टि-खण्ड को तो फारसी अनुवादक एक अलग उपनिषद् ही मानते थे: एन्क्वेतील के अनुवाद में प्रनाउ (प्रणव) उपनिषद् तो सुतरां गोपथ ब्रा० १. १. १६-३०[1] से मिलती है और यह विषय वेबर तथा डायसन के लिये विशेष रुचिकर सिद्ध हुआ था। दूसरा अंश, जो गायत्री (गो० ब्रा० १. १. ३१-३८)[2] से संबद्ध है, अन्त में अपने को साफ तौर से उपनिषद् कह ही देता है। यह एन्क्वेतिल के ओपेनखत के शवनक की ओर भी कुछ इसी प्रकार का संकेत करता है। कुछ भी हो अन्य वेदों की अपेक्षा अथर्ववेद के मन्त्रों और इसकी उपनिषदों के मध्य पर्याप्त समय का व्यवधान दीख पड़ता है। यथर्ववेद की प्राचीन उपनिषद् तो निःसंदेह उन पुरोहित वर्गों में उभरी थी जो आथर्वण विधि का प्रयोग किया करते थे, किंतु अपेक्षाकृत गौण एवं नवीन उपनिषद् बाद के रहस्यवादी सन्तों की रचनाएँ हैं, जो उस कोटिकी मीमांसाओं को प्रस्तुत करती हैं, जो अथर्ववेद के साथ अपना संबन्ध जोड़ने पर बाध्य हो गई थीं; क्योंकि अथर्ववेद में शाखाओं का भेद आरम्भ से ही कुछ कम कठोर रहा है, जब कि अन्य वेदों के शाखा-संबन्धी नियम अधिकाधिक जटिल हो चुके थे। जाबाल और नीलरुद्र उपनिषद् (तुल० राज० सं० १६ और १३) कुछ दृष्टियों से एक ही संग्रह के परस्पर-विरोधी अङ्ग हैं जो अपने को आथर्वण बताती हैं। डायसन के प्रगल्भ अनुवाद के विषय में वेबर द्वारा प्रस्तुत मार्के के विवरण का सहारा न लेते हुए भी आथर्वण उपनिषदों की सूची और विषयों का अध्ययन आसानी के साथ किया जा सकता है।

१६. *व्याकरण और इतिहास-संबन्धी रचनाएँ*—व्याकरण एवं इतिहास-संबन्धी रचनाओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अथर्ववेद-प्रातिशाख्य है। इसे ह्विटनी द्वारा संपादित संस्करण में 'शौनकीया चतुराध्यायिका' इस नाम से

---

१. ब्रह्म ह वै ब्राह्मणं पुष्करे ससृजे स खलु ब्रह्मा सृष्टश्चिन्तयापेदे।···गो० १।१।१६ से ३० तक

२. एतद्ध स्मैतद्विद्वांसमेकादशाचं मौद्गल्यं ग्लावो मैत्रेयोऽभ्याजगाम········ गो० ब्रा० १।१।३१ से ३८ तक

पुकारा गया है। ब्युहलर ने इससे भिन्न एक दूसरे अथर्ववेद-प्रातिशाख्य का भी उल्लेख किया है, जिसका संपादन सूर्यकान्त ने १९४३ में कर दिया है। पाणिनीय 'आथर्वणसूत्र' नाम का व्याकरण ग्रन्थ त्रिकाण्डमण्डन को ज्ञात प्रतीत होता है। कौत्सव्य या कौत्सवय (अथ० परिशिष्ट ४८)[1] का तथा-कथित निरुक्त-निघण्टु यास्क के निघण्टु के समान ही टिप्पणशब्दों का संकलन हैं, किंतु यह वास्तव में निरुक्त ग्रन्थ नहीं है। अथर्व परिशिष्ट ४९[2] के वर्णपटल पर भी ध्यान दीजिये। आथर्वण ग्रन्थों के इतिहास के लिये चरण-व्यूह और उत्तम पटल का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अथर्ववेद की बृहत्सर्वानु-क्रमणिका इस वर्ग की बहुत ही बाद की एक गौण रचना है। इसके विवरण—विशेषतः सूक्तों के रचयिताओं के विषय में (जिन्हें यह देव या अर्ध-देव बताती हैं)—कम महत्त्व के हैं। अनुक्रमणी के ही ढंग की दूसरी पुस्तक 'पञ्चपटलिका' है, जो अधिकांशतः छन्दोबद्ध है। चरणव्यूह चार संबद्ध ग्रन्थों को 'लक्षणग्रन्थाः' कहता है, जिनके नाम हैं : चतुरध्यायिका, प्रातिशाख्यम्, पञ्चमपटलिका दन्त्योष्ठ्यविधिर्बृहत्सर्वानुक्रमणी च'। 'स्वरशास्त्र' नाम का एक स्वर-संबन्धी ग्रन्थ शङ्कर पण्डित के एक मित्र को परंपरा से ज्ञात था।

(च) आर्यों के साहित्य में अथर्ववेद का स्थान

२०. *अथर्ववेद का सामान्य मूल्याङ्कन*—अथर्ववेद अनेक दृष्टियों से पवित्र ग्रन्थ है। उन विषयों की बात जाने दीजिये जो कि अन्य वेदों की तरह इसमें भी पाये जाते हैं; इसके अधिकतर सूक्त उदार एवं उदात्तकोटि के धार्मिक एवं आध्यात्मिक हैं। ये हरगिज भी उचित संमान से वञ्चित नहीं किये जा सकते। अथर्ववेदीय अभिचारों के भी दो पक्ष हैं :—वे एक व्यक्ति के लिये लाभदायक हैं तो दूसरे के लिये हानिकारक हैं। इस प्रकार अथर्ववेद में भावों का एक द्वन्द्व-सा उठता दीख पड़ता है, जो लिखित हिन्दू विचारों के सकल इतिहास में व्याप्त है और अन्ततः इस रूढ़िजन्य धारणा में संनिहित है कि अथर्ववेद का विनियोग शान्त करने, आशीर्वाद देने, और शाप देने के लिये विहित किया जाता है। समय आया और इस वेद के प्रतिकूल—जिसकी प्रधान धारा अभिचार के रूप में बहती है—जनता में घृणा की लहरें उठ खड़ी हुई जिनका आभास हमें इस वेद की पवित्रता के विषय में मिलनेवाले विवादों से, परवर्ती आथर्वण साहित्य में इसके महत्त्व की पुनः प्रतिष्ठा के लिये किये गये सतत प्रयत्नों से, आथर्वण पुरोहित को क्षीणकाय, क्रोधी एवं कामुक मनुष्य के रूप में चित्रित करने से और वैदिक एवं लौकिक ग्रन्थों के प्रासङ्गिक विवरणों से मिल जाता है।

---

१. कौत्सव्यनिरुक्तनिघण्टुः अथ० परि० ४८
२. वर्णपटलम् " अथ० परि० ४९

२१. *ऋग्वेद में अथर्वन्*—ऋग्वेद में आथर्वण अभिचारों के लिये कोई विशेष नाम नहीं आया है, यद्यपि ऐसे अभिचार तो इस वेद में भी पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। किंतु ऋग्वेद के एतद्विषयक मौन को विशेष महत्त्व देना अनुचित होगा क्योंकि बृहत्सोम यज्ञों के अनुष्ठान के समय की जाने वाली देवताओं की स्तुतियों में अभिचार या अन्य प्रकार के सामान्य दैनिक कृत्यों के लिये अवसर ही कहाँ मिल पाता है। किंतु यह बात निःसंदिग्ध है कि अभिचार एवं गृह्यकार्य इस देश में सदा से प्रचलित रहते आए हैं। ऋग्वेद का, इन अभिचारों को 'अथर्वाङ्गिरसः' जैसे नाम से अभिहित न करने का एक कारण यह भी हो सकता है कि इस वेद को एक विशिष्ट वैदिक संकलन के रूप में उल्लेख करने के अवसर ही कहाँ आते थे। इस बात को मानने के लिये प्रमाण नहीं मिलता कि प्राचीनतम ऋग्वेदिक युग ने अथवा प्राचीनतम ऐतिहासिक परंपरा ने ऐसे ग्रन्थों के उल्लेख का बहिष्कार कर दिया था, जिन्हें वर्ण्यविषय, छन्द एवं शैली की दृष्टि से आथर्वण अभिचार की संज्ञा दी जा सके। साथ ही भेषजानि, अथर्वाणः, अङ्गिरसः आदि वर्णक नामों से इस वेद का निर्देश न मिलने का कारण भी आकस्मिक मौन ही हो सकता है। अथर्ववेद के वर्तमान संस्करण कई दृष्टियों से ऋग्वेद संस्करण के बाद के ठहरते हैं; विशेषतः उन मन्त्रों के पाठभेदों की दृष्टि से, जो ऋग्वेद में भी पाये जाते हैं। यह बात निश्चित है कि अथर्ववेद के बहुत से सूक्त ऋग्वेद के अधिकांश सूक्तों से बाद में बने हैं। फिर भी हम इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकते कि आथर्वण ढंग के सूक्त ऋग्वेदीय (श्रौत) ढंग के मन्त्रों के साथ ही साथ या उनसे पहले भी निबद्ध हो रहे थे।

२२. *स्वयं अथर्ववेद में अथर्वन्*—स्वयं अथर्ववेद ही अपने वर्ग की रचनाओं को यदाकदा सूचित कर देता है, उदाहरण के लिए देखिये १०. ७. २०[1] (अथर्वाङ्गिरसः) ११. ६. १४[2] (भेषजा) को और तुलना करो १९. ५४. ५[3] और १९. २२. १; २३. १[4] की। एक सिलसिलेवार विकास वहाँ देखने को मिल जाता है, जहाँ

१. यस्मादृचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अथ० १०।७।२०

२. यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा।
यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ अ० ११।६।१४

३. काले३ यमङ्गिरा दिवोऽथर्वा चाधि तिष्ठतः।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान्विधृतीश्च पुण्याः ॥ अ० १९।५४।५
अ० १९।२२।१ पीछे दे०

४. आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा ॥ अथ० १९।२३।१

अथर्वन्, अङ्गिरस् एवं भृगु आदि नामों का साहचर्य उन विधानों एवं क्रियाओं के साथ दिखाया गया है जो इन सूक्तों की प्रतिपाद्य हैं; उदाहरणार्थ देखिये ४. ३७. १[1] जहाँ अथर्वनों को राक्षसहन्ता के रूप में उपस्थित किया गया है। साथ ही देखिये ४. ३. ७; ५. १९. १; १०. ६. २०[2] को भी। विशेष ध्यान के योग्य है अङ्गिरस् शब्द का अभिचार और तन्त्रों के साथ सीधा संवन्ध और आथर्वण का मङ्गलकारी अभिचारों के साथ संवन्ध (देखिये ऊपर)। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद का दृष्टिकोण प्रायः वही है जो कि याजुष संहिताओं का है। श्रौतयज्ञों के क्षेत्र में प्रतिवन्ध लगाने के लिये ही तीन वेदों का उल्लेख चतुर्थ वेद को छोड़कर किया जाता था। फलतः वेदों के ज्ञान के लिये प्रयुक्त अभिचार (७. ५४[3] कौशि० ४२. ९[4]) में यदि ऋक्, सामन्, यजुष् और हविस् का उल्लेख है तो इससे अथर्ववेद का तिरस्कार हुआ नहीं समझना चाहिये। एक व्यक्ति जो वैदिक स्वाध्याय का इच्छुक है आथर्वण पौरोहित्य की शिक्षा नहीं लेता है; फलतः इस (आथर्वण) विशिष्ट विद्या को इस प्रसङ्ग में गिनाने की आवश्यकता नहीं समझी जाती है। फिर भी एक ऋक् सूत्र (आश्व० गृ० सू० ३. ३. १-३[5]) अपने एक अनुच्छेद में, ऐसे ही अवसर पर, अथर्ववेद को भी अपनी गिनती में सम्मिलित करता पाया जाता है। स्वयं गोपथ-ब्राह्मण जिस पर कि अथर्ववेद का अवमान करने का दोष नहीं मढ़ा जा सकता (देखिये प्रक० ६६) एक या दो बार इस विषय में भूल कर बैठता है और प्रचलित वैदिक संग्रहों के उल्लेख में अथर्ववेद को छोड़ देता है :

---

१. त्वयापूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे ।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ अ. ४. ३७. १

२. यत्संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः ।
इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम् ॥ अथ० ४. ३. ७
अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन् ।
भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥ अ० ५. १९. १
अथर्वाणो अवध्नताथर्वणा अबध्नत ।
तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां विभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ अथ १०. ६. २०
ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते ।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥ अथ० ७. ५४. १

३. ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम् ।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद्वेदः पृष्टः शचीपते ॥ अथ० ७. ५४. २

४. ऋचं सामेत्यनुप्रवचनीयस्य जुहोति । कौ० सू. ४२. ९

५. देवतास्तर्पयति ।१। प्रजापतिर्ब्रह्मा वेदा देवा ऋषयः सर्वाणि चच्छन्दांस्योंकारो
इत्यादि आश्व. गृ. सू. ३।३।१-३

१. १. २३ और २४[1]। सच पूछो तो अथर्ववेद के नामों के उल्लेख का अभाव ही इस बात को सूचित करता है कि अथर्ववेद-संहिता अपने याज्ञिक अनुबन्धों (प्र० ३०) से बाहर जाकर न तो आत्म-प्रशंसा में ही लगी है और न दूसरे वेदों के विरुद्ध उठे विवादों में। निश्चय ही आथर्वण ऋषि अपने ग्रन्थों के दोषों अथवा दूसरे वेदों के अनुयायियों द्वारा अथर्ववेद के प्रति व्यक्त की गई तिरस्कार की भावना के प्रति सजग नहीं दीख पड़ते।

२३. *श्रौत पाठों में अथर्वन्*—श्रौत पाठों में अथर्ववेद का निर्देश बहुत कुछ इन पाठों के महान् वैदिक क्रियाकलाप के साथ संबद्ध होने के कारण उभरी इनकी क्रियालुता पर निर्भर रहता है : और ये अपने इस स्वभाव के कारण ही 'भेषजानि' और 'आभिचारिकाणि' के मन्त्र-तन्त्रों की ओर इशारा नहीं कर पाते। और यातुविद्या का वह अंश जो श्रौत-अनुष्ठानों में पूरी तरह पच चुका है, उन छन्दोबद्ध मन्त्रों और याजुष गद्यों द्वारा मुखरित होता है जो कि भीतर-बाहर समान रूप से आथर्वण हैं। किंतु श्रुति में तो अथर्वन् का क्षेत्र केवल प्रासङ्गिक एवं गौण विषयों तक ही सीमित है, जिनका उद्देश्य है इसके विषयभूत देवताओं के लिये सफलता पूर्वक हविष् प्रेषण करना और पुरोहितों की सम्यक् संतुष्टि (इष्टि और पूर्ति) के लिये मार्ग प्रशस्त बनाना। ऐसी परिस्थितियों में अथर्ववेद के प्रति उठने वाला विरोध, जो बाद के अनुशीलन-प्रवण युग में परिनिष्ठा को प्राप्त होता है, याजुष ग्रन्थों एवं ब्राह्मणों तक के लिये एक मूर्खतापूर्ण समस्या बन जाती है। अथर्ववेद में कठोर संवेदन की आशा करना वृथा है; क्योंकि अभिचारों में एक ही साथ परस्पर-विरोधी बातें देखने को मिलती हैं। आथर्वण अभिचार कभी तो मानवी एवं दानवी घातक शक्तियों के ऊपर और कभी अन्य द्वारा स्वयं अपने ऊपर प्रयुक्त किये जाने के कारण एक साथ कल्याणकारी एवं विनाशकारी बन जाते हैं। अथर्ववेद का अपना ऐसा ही विचार है। उदाहरण के लिये मिलाइये २. १२[2] के साथ ७. ७०[3] को या २. ७[4] को

१.⋯⋯तस्मादोंकार ऋच्यृग्भवति यजुषि यजुः साम्नि साम सूत्रे सूत्रं ब्राह्मणे ब्राह्मणं⋯⋯गो. ब्रा. १।१।२३

⋯⋯ब्राह्मणमृग्यजुः साम कस्माद्ब्रह्मवादिन ओंकारमादितः कुर्वन्ति⋯गो. ब्रा. १।१।२४

२. द्यावापृथिवी उर्व १ न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ अथ० २।१२।१ इत्यादि ८ मन्त्र

३. यत्किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा।
तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य ॥ अ० ७।७०।१ इत्यादि

४. अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान्मच्छपथाँ अधि ॥ अ० २।७।१ इत्यादि

६. १३[1] और ३७[2] को। यह तो खरे शब्दों में मेरे या तेरे अभिचार का प्रश्न है। ऋग्वेद ७. १०४. १५, १६[3] में ऋषि कहता है कि 'यदि मैं आभिचारिक होऊँ तो आज ही मर जाऊँ'; और वह अपने शत्रु की, जो उसे उसके पवित्र होने पर भी आभिचारिक कहता है, भर्त्सना करता है और अपने आप को पवित्र समझने वाले यथार्थ आभिचारिक को भी खरी-खोटी सुना देता है। यद्यपि ऋग्वेद में भी अथर्ववेद १. ७ और ८[4] की भाँति 'यातु' को आसुरी माना गया है, तथापि शतपथ ब्राह्मण १०. ५-२. २०[5] खुले शब्दों में यातुविद् अर्थात् अभिचारकुशल व्यक्ति को बह्वृचों की परिपूत पंक्ति में बिठा देता है। दूसरी ओर अथर्ववेद का मङ्गलकारी पक्ष 'भेषजम्' (उपचार या ओषधि) भी, जिसे सामान्यतः क्षेमकारी समझा गया है, निन्दा से अछूता नहीं रह पाया है। और हम कह सकते हैं कि उन लोगों की सामाजिक स्तरसंबन्धी एवं शास्त्रीय ज्ञान-संबंधी मान्यताएँ, जिन्होंने एक उचित ढंग के वैदिक साहित्य को मुखरित किया था, गर्हित 'भेषजानि' का उचित मूल्यांकन करने में असफल नहीं रहीं, भले ही वैदिक युग ने शारीरिक आमयों को मिटाने के लिये जो भी रचनाएँ की थीं, उनमें आथर्वण 'भेषजानि' सर्वोत्तम थीं। सच समझिये कि तन्त्र एवं अभिचारों के बिना वेद, वेद ही नहीं बन पाता, और श्रौत पाठ भी तन्त्र एवं अभिचारों के बिना पङ्गु के तुल्य रह जाते हैं जब कि इन्हीं बातों के कारण आथर्वणों पर कीचड़ उछाली जाती है। अस्तु, श्रुति में अथर्ववेद के स्थान का समुचित समीक्षण करने के बाद कहा जा सकता है कि यद्यपि यह वेद वैदिक धर्म के सामान्य क्षेत्र के अन्दर नहीं

---

१. नमो देववधेभ्यो नमो राजवधेभ्यः।
अथो ये विश्यानां वधास्तेभ्यो मृत्यो नमोऽस्तु ते ॥ अ० ६।१३।१ इत्यादि

२. उप प्रागात्सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम्।
शप्तारमन्विच्छन्मम वृक इवाविमतो गृहम् ॥ अ० ६।३७।१ इत्यादि

३. अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य।
अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥
ऋ. ७।१०४।१५

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ॥ ऋ० ७।१०४।१६

४. स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम्।
त्वं हि देववन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥ अथ० १।७।१ इत्यादि
इदं हविर्यातुधानान्नदी फेनमिवा वहत्।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ अ० १।८।१ इत्यादि

५. यजुरित्येष हीदं सर्वं युनक्ति सामेति च्छन्दोगाऽएतस्मिन्हीदं सर्वं समानमुक्थमिति बह्वृचाऽएष हीदं सर्वमुत्थापयति यातुरिति यातुविदऽएतेन हीदं सर्वं यतं विषमिति…
श० ब्रा० १०।५।२।२०

आता, तथापि अपने विशेष क्षेत्र में इसे अत्यन्त खुले शब्दों में दृढ़ता के साथ वेद माना गया है। इसके आपेक्षिक महत्त्व, प्रामाण्य एवं मान्यता के प्रश्न पर अभी पूरी तरह विचार नहीं हो पाया है।

परिणामस्वरूप आख्यानोक्त अथर्वन्, अङ्गिरस, एवं भृगु और उनकी संतानों (आथर्वणादि) के नाम, जो समय के साथ-साथ अधिकाधिक रूप में अथर्व-क्षेत्र में सीमित होते चले गये, श्रुति में अर्धदेवों और ऋषियों के अभिधान के रूप में प्रयुक्त होते मिलते हैं। निश्चय ही ये नाम अन्य गोत्र-नामों से न तो कम और न अधिक संमान के आस्पद थे, क्योंकि बाद के आथर्वण ग्रन्थों ने इनकी अत्यधिक प्रशंसा करने की आदत अपनाई और वैदिक ऋषियों के रूप में इन्हें विशिष्ट स्थान देने का दावा उभारा। यह सच है कि श्रुति कभी-कभी इन नामों का अथर्व-क्षेत्र से संबन्ध जोड़ती है, जैसे कि जब काठक-संहिता १६. १३[1] एक भिषज् आथर्वण ऋषि का उल्लेख करती है और कौ० ब्रा० ३०. ६[2] एक घोर आङ्गिरस ऋषि का संकेत करता है, या जब पंचविंश ब्राह्मण १२–८. ६[3] कहता है कि दध्यञ्च् आङ्गिरस देवों का पुरोहित (पुरोधानीय) था। जिस ढंग से अथर्ववेद के सूक्तों का श्रुति में उल्लेख किया गया है उससे यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। सामान्यतः ये ग्रन्थ यज्ञीय प्रक्रियाओं में व्यस्त रहते हैं और इसी कारण त्रयीविद्या के उल्लेख और उसी की प्रशंसा में संलग्न रहते हैं। किंतु जब कभी श्रौतग्रन्थ दूसरी साहित्यिक विद्याओं का—जैसे कि इतिहास, पुराण, गाथा, सूत्र, उपनिषद् और अनेक अन्य ग्रन्थों का—उल्लेख या वर्णन करते हैं, तब वे सदा अथर्वन् को भी अपनी सूची में संमिलित कर लेते हैं और वह भी सदा इस क्रम में : सबसे पहले तीन वेद, चौथा अथर्ववेद, और फिर अदल-बदल के साथ इतिहास आदि आते हैं। उदाहरण के लिये देखिये : तैत्तिरीय सं० ७. ५. ११. २[4] काठक संहिता अश्वमेध ग्रन्थ ५. १[5] (केवल आङ्गिरस); शतपथ ब्रा० १०. ५. २.

---

१. विप्रस्स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः···काठ० सं० १६।१३

२. आदित्याङ्गिरसीरुपसंशंसत्यादित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्चास्पर्धन्त वयं पूर्वं स्वर्गं लोकमेष्याम इत्यादित्या वयमित्यङ्गिरसस्तेऽङ्गिरस आदित्येभ्यः प्रजिघ्युः श्वःसुत्या नो याजयत न इति तेषां हाग्निर्दूत आस त आदित्या ऊचुरथास्माकमद्यसुत्या तेषां नस्त्वमेव होतासि बृहस्पतिर्ब्रह्मायास्य उद्गाता घोर आङ्गिरसोऽध्वर्युरिति तान्ह प्रत्याचचक्षिरे···
कौ० ब्रा० ३०।६

३. दध्यङ् वा आङ्गिरसो देवानां पुरोधानीय आसीदन्नं वै ब्रह्मणः पुरोधान्नाद्यस्यावरुद्ध्यै ॥
पं० ब्रा० १२।८।६

४······अङ्गिरोभ्यस्स्वाहा वेदेभ्यस्स्वाहा······। तै० सं० ७।५।११।२

५······अङ्गिरोभिर्देवेभिर्देवतया पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा युनज्मि। का० सं० अश्वमेध ५।१।१३

१०; ११. ५. ६. ४–८; १३. ४. ३. ३;[1] तै० ब्रा० ३. १२. ८. २,[2] तै० आ० २. ९. २; १०. ७. ८, ११. २;[3] आश्व० श्रौ० सू० १०. ७. १[4] शां० श्रौ० सू० १६. २. २[5]।

२४. *उपनिषदों में अथर्वन्*—आम तौर से उपनिषदों में भी अथर्ववेद का स्थान वही है जो श्रुति में। अथर्ववेद का खुला उल्लेख करने वाली आथर्वण उपनिषदों के अलावा भी इस वेद का यत्रतत्र उल्लेख वैसे ही मिल जाता है जैसे कि श्रौत ग्रन्थों में; अर्थात् त्रयी इसके पूर्व आती है और बाद में अदल-बदल के साथ अन्य ग्रन्थ। उदाहरण के लिये देखिये : बृहदारण्यक उप०. २. ४. १०; ४. १. २; ५. ११.[6], छान्दोग्य उप० ३. १–४; १. २, ४; २. १; ७. १[7] मैत्रा० उप० ६. ३२

---

१. पय आहुतयो ह वाऽएता देवानाम्। यदृचः स य एवं विद्वानृचोऽहरहः स्वाध्याय-मधीते।……। यदथर्वाङ्गिरसः स य एवं विद्वानथर्वाङ्गिरसोऽहरहः स्वाध्यायमधीते।

शत० ब्रा० ११।५।६।४।८

२. ऋचो यजूंषि सामानि। अथर्वाङ्गिरसश्च ये।
सर्वास्ताः। इतिहासपुराणं च। तै० ब्रा० ३।१२।८।२

३. यदृचोऽध्यगीषत ताः पय आहुतयो देवानामभवन्यद्यजूंषि घृताहुतयो यत्सामानि सोमाहुतयो यदथर्वाङ्गिरसो मध्वाहुतयो…… तै० आ० २।९।२

४. प्रथमेऽहनि मनुर्वैवस्वतस्तस्य मनुष्या विशस्त इम आसत इति गृहमेधिन उपसमा-नीताः स्युस्ता उपदिशत्यृचो…… आ० श्रौ० सू० १०।७ (१ संपूर्ण)

५. मनुर्वैवस्वत इति प्रथमे।१। तस्य मनुष्या विशस्त इम आसत इति गृहमेधिन उपदिशति। शां० श्रौ० सू० १६।२ पूर्ण (पूर्ण)

६. ……अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इति-हासः पुराणं विद्या उपनिषदः……। बृह० उ० २।४।१०……वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः……

बृहदा० उप० ४।१।२ इत्यादि

७. ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः-इत्यादि छान्दोग्य उप० ३।१।२ से ३।४ तक

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं…।

छा० उ० ७।१।२

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थः……। छा० ७।१।४ वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं……। छा० उप० ७।२।१

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूय विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं……छा० ७।७।१

और ३३[1]। ऐसे उदाहरण भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं जहाँ केवल त्रयी ही का उल्लेख किया गया है। ऐसे उदाहरणों से सूचित हो सकता है कि सूत्रात्मक सूक्ष्मता का निर्वाह करने के लिये ही ऐसे स्थलों पर अथर्ववेद एवं अन्य ग्रन्थों को छोड़ दिया गया है। कहना न होगा कि उपनिषद्, जिनकी आँखें मन्त्रों याज्ञिकसूत्रों और आसुरी अभिचारों इन सभी के ऊपर से समान रूप से हट गई हैं, कहीं भी अथर्ववेद की निन्दा का अवसर नहीं पातीं, भले ही वे उस एक वेद की हिजो कर देती हैं जो कि ब्रह्मविद्या से इतर है। और यह बात यहाँ तक है कि स्वयं आथर्वण उपनिषद् भी अथर्ववेद के याज्ञिक ग्रन्थों का मण्डन या खण्डन नहीं करतीं। बाद के युग में बनी प्रणव-उपनिषद् अथर्ववेद की श्रेष्ठता को स्वीकार करती है, परंतु यह (प्रणव) तो स्वयं गोपथ-ब्राह्मण का ही एक भाग है (प्र० ६८)। इसके अतिरिक्त प्रश्नोपनिषद् में केवल एक ही प्रक्षिप्त अंश ऐसा है, जो सर्वोच्च ब्रह्म के साथ अथर्वन् का येन-केन प्रकारेण साम्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। सनत्कुमार, अङ्गिरस्, पैप्पलाद आदि आथर्वण आचार्यों का प्रामाण्य वस्तुतः उन ग्रन्थों को सुव्यवस्थित शाखा-ग्रन्थों का रूप देने के लिये ख्यापित किया गया है। किंतु सामान्य-दृष्ट्या कहा जा सकता है कि ये उपनिषद् अन्य शाखीय उपनिषदों की अपेक्षा अधिकता से अन्य तीन वेदों के साथ चतुर्थ वेद का उल्लेख करती हैं, अर्थात् अथर्ववेद को त्रयी के साथ जोड़ देती हैं। फिर चाहे इतिहास, पुराण आदि अन्य प्रकार की रचनाएँ बाद में आएँ या न भी आएं। इस प्रकार चारों वेद ही नृसिंह पूर्वतापनी १. २[2] और ४; २. १; अथर्वशिरस् १[3]; मुक्तिक १२-१४[4], महा० ३[5], में, अन्य साहित्यिक विधाओं के साथ; मुण्डक १. १. ५;[6] में उल्लिखित

---

१. महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्योपनिषदः······मैत्रायण्युप० ६।३२
······सैषोऽग्निस्तस्येमा इष्टका यदृग्यजुः सामाथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं······ मैत्रा० उ० ६।३३

२······ऋग्यजुः सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादाः भवन्ति। ···नृ० पू० ता० उ० १।२
······प्रथमं पादं जानीयादृग्यजुः सामाथर्वरूप ·····नृसिं० पू० ता० उ० १।४
······ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री······नृ० पू० ता० २।१

३···ऋगहं यजुरहं सामाहमथर्वाङ्गिरसोऽहं···अथर्वशिरस् इप उ० १।१

४. ऋग्वेदादि विभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः।···मुक्ति उ. १।११। से १४ तक।

५···सोऽध्यायत पूर्वामुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्द ऋग्वेदः। ···इत्यादि महा. ३।

६. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डकोप० १।१।५

हैं। किंतु ध्यान रहे स्वयं ये उपनिषद् भी वैदिक साहित्य के विपुल भण्डार की तरह यदा-कदा अपनी सूचियों में अथर्ववेद का उल्लेख करना भूल जाती हैं। यह कहना कठिन है कि वे जानकर ऐसा करती हैं या अनजाने : देखो मुण्डक २. १. ६[1]; प्रश्न २. ६[2]; नृसिंहतापनी ५. २[3]; ब्रह्मविद्या ४-६[4]। एक वर्ग की दृष्टि से आथर्वण उपनिषद् न तो अथर्ववेद को बाह्य आक्रमणों से बचाने में संलग्न हैं और नहीं इस वेद के महत्त्व को ख्यापित करने में।

२५. *गृह्यसूत्रों में अथर्वन्*—गृह्यसूत्रों में अथर्वन् की चर्चा मिलना अपेक्षाकृत अधिक संभव प्रतीत होता है और इसी कारण उसके पाठों का इन सूत्रों में बहुशः उद्धरण पाने की आशा बल पा जाती है। क्योंकि गृह्यसूत्र तो अनेक दृष्टियों से स्वयमेव आथर्वणिक हैं। इनके बहुत से मन्त्र तो अथर्ववेद में उपलब्ध मन्त्रों के समान हैं अथवा उनके पाठ-भेद हैं। किंतु इन गृह्यकर्मों को भी, जो जनता में आमतौर से प्रचलित थे, या यों कहिये कि जो अपनी आरम्भिक अवस्था में अनिवार्य रूप से असंस्कृत रहे थे, ऋषियों के साथ टाँक दिया गया है। कालान्तर में ये कर्म शाखाओं में विभक्त होकर अथर्ववेद से अलग जा पड़े और मौके के अनुसार ऋग्वेद, सामवेद एवं यजुर्वेद के साथ जा मिले। उदाहरण के लिये आश्वलायन गृ० सू० ३. १२ में युद्ध-अभिचार को अथर्ववेद से एतद्विषयक प्रचुर मन्त्रों को न लेकर ऋग्वेद के एतत्संबद्ध विकीर्ण विवरणों को ही उद्धृत करके अलङ्कृत कर दिया गया है। यहाँ तक कि इस सूत्र में कहीं भी अथर्ववेद के साथ इसके संबन्ध का भान तक नहीं मिलता। कहीं-कहीं चालू रूप में ही अथर्ववेद का उल्लेख कर दिया गया है, अर्थात् त्रयी को इससे पहले और अन्य साहित्यिक विद्याओं को इसके बाद में रखा गया है; जैसे कि आश्व० गृ० सू० ३. २. ६[5]; शां० गृ० सू० १. २४. ८[6], हिरण्यकेशी

---

१. तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः। मु० उ० २।१।६

२. अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च॥
प्रश्नोप० २।६

३⋯तद्वा एतत्सुदर्शनं महाचक्रं सर्वकामिकं मोक्षद्वारमृङ्मयं यजुर्मयं साममयं ब्रह्ममयममृतमयं भवति⋯⋯नृसिं० पू० ता० ५।२

४. ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च। अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः।
यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च। विष्णुश्च भगवान्देव उकारः परिकीर्तितः॥
सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च। ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः।
ब्रह्मविद्योप० ४-६

५. ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीति। आ० गृ. सू. ३।२।६

६. भूरृग्वेदं त्वयि दधाम्यसौ स्वाहा भुवो यजुर्वेदं त्वयि दधाम्यसौ स्वाहा भूर्भुवः स्वर्वाकोवाक्यमितिहासपुराणमोंसर्वान्वेदांस्त्वयि दधाम्यसौ स्वाहेति वा—शां. गृ. सू. १।२४।८

गृ० सू० २. १९. ६[1] में। किंतु देखो शां० गृ० सू० १. १६. ३[2] (ब्रह्मवेद), पारस्कर गृ० सू० २. १०. ७[3] (अथर्ववेद), २. १०. २१[4] (अथर्वणाम्) और हिरण्यकेशी गृ० सू० २. ३. ९; १८. ३; २०. ९[5] (अथर्ववेद)। ज्यों-ज्यों विकास होता गया त्यों-त्यों चतुर्थवेद के उल्लेख में भी अधिकता आती गई। इस कथन को उन उद्धरणों के साथ नहीं पढ़ा जा सकता, जहाँ केवल 'त्रयी' का (शां० गृ० सू० १. २२. १५, २४. २[6], हिरण्यकेशी गृ० सू० १. ५. १३; २. १३. १[7]) या दो वेदों का ही (आश्व० गृ० सू० १. ७. ६[8] = शां० गृ० सू० १. १३. ४[9] = पारस्कर गृ० सू० १. ६. ३[10]; गोभिल गृ० सू० १. ६. १९; ३. २. ४८[11]) उल्लेख आता है; क्योंकि ये अंश तो बहुधा उद्धरण हैं अथवा श्रुतियों से अपनाये गये मन्त्र हैं। इस साक्ष्य का असली मूल्य कालक्रम से संबद्ध है, न कि भावना से। गृह्यसूत्र, जहाँ तक उनका विषय अथर्ववेद से मिलता है, श्रौत ग्रन्थों की अपेक्षा अथर्ववेद को अधिक महत्त्व नहीं देते। वे अपने विषयों का विवेचन सर्वथा अपने ही ढंग से करते हैं। उनका अथर्ववेद-निर्देश हर जगह पर सूत्रात्मक है; और जितनी ही अथर्व-निर्देश में अधिकता आती गई उतनी ही देर से गृह्यसूत्रों की विधानग्रन्थ के रूप में रचना हुई समझी जानी चाहिये। ऋग्वेद के गृह्यसूत्रों में

१…वेदेभ्यश्च पृथक्पृथगृग्वेदाय यजुर्वेदाय सामवेदायाथर्ववेदायेतिहासपुराणायेति ॥
हिरण्यके० गृ. सू. २।१९।६

२…चन्द्रेण देवेन दिशां लोकेन लोकानां ब्रह्मवेदेन वेदानां तेन त्वा शमयाम्यसौ स्वाहा ॥
शां. गृ. सू. १।१६।३

३. दिग्भ्यश्चन्द्रमस इत्यथर्ववेदे ॥ पारस्कर गृह्य सू० २।१०।७

४. सूक्तान्यथर्वणाम् । पार० गृ० सू० २।१०।२१

५…भूर्भुवः सुवरथर्वाङ्गिरसस्त्वग्नि जुहोमि स्वाहा । हिरण्यके० गृ० सू० २।३।९

६. सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरोगायनं चक्षुश्छन्दांस्यङ्गानि यजूंषि नाम साम ते तनूः । शां० गृ० सू० १।२२।१५ इत्यादि

७…भूर्ऋक्षु त्वाग्नौ पृथिव्यां वाचि ब्रह्मणि ददेसौ । भुवो यजुःषु त्वा वायावन्तरिक्षे प्राणे ब्रह्मणि ददेसौ । सुवः सामसु त्वा सूर्ये दिवि चक्षुषि ब्रह्मणि ददेसौ । हिरण्य० गृ० सू० १।५।१३

८. आश्व० गृ० सू० १।७।६ शां० गृ० सू० १।१३।४

९. अमोहमस्मि सा त्वमस्यमोहम् । द्यौरहं पृथिवी त्वमृक् त्वमसि सामाहं मामनुव्रता भव । तावेह विवहावहै प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान्विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टय इति । शां० गृ० सू० १।१३।४

१०…अमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमो अहम् । सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् । पार० गृ० सू० १।६।३

११. यद्ययज्ञियं वाचं वदेत् वैष्णवीमृचँय्यजुर्वा जपेत् । गो० गृ० सू० १।६–१९इत्यादि

तर्पण के अवसर पर पढ़ी गई ऋषियों की सूची से भी यह बात स्फुट हो जाती है। यहाँ सुमन्तु को ऊँचा स्थान दिया गया है, और इन्हें बहुत बाद की परंपरा अथर्व-साहित्य-पद्धति का स्रोत बताती है, किंतु अथर्वन्-ग्रन्थों में तो इनका उल्लेख तक नहीं मिलता। कहना न होगा कि इतने बाद के आथर्वणिक विकास के युग से गृह्यसूत्र अथर्ववेद के विषय में अपना ज्ञान प्राप्त करते हैं।

२६. *धर्मशास्त्रों में अथर्वन्*—साहित्य की एक दूसरी शाखा का मूल भी वेद तक पहुँचता है, और वह शाखा है धर्मशास्त्र। धार्मिक सूत्रों, शास्त्रों और स्मृतियों में—विशेषतः उनके व्यवहाराध्यायों में—आथर्वण कृत्यों के अभद्र पक्ष पर निर्णय दिये जाने अपेक्षित हैं। और इस प्रसङ्ग में उस महनीय नियम पर विचार करना आवश्यक हो जाता है, जिसके अनुसार 'दूसरों के प्रति वही व्यवहार करना उचित है जो मनुष्य दूसरों से अपने प्रति चाहता है'। जनता में आमतौर से प्रचलित विश्वासों से संबद्ध होने के कारण अथर्ववेद का धर्मग्रन्थों में भी अपना विशेष स्थान है; क्योंकि औषध एवं ज्योतिष जैसे महत्त्व के विज्ञान साफतौर से आथर्वणिक हैं, फिर आथर्वण पुरोहितों की अपने राजाओं के शत्रुओं की क्षति एवं पराजय के लिये अकथनीय सेवा तो ख्यात है ही। कहना न होगा कि राजा का पुरोहित अनिवार्यतः अथर्वन् आचार्य होता था (तुल० याज्ञ० १. ३१३[1])। फिर भी माया, यातु, प्रेमाभिचार एवं मोहन आदि से संबद्ध टोटके अन्त में हानिकर ही ठहरते हैं; और धर्मग्रन्थ स्पष्ट शब्दों में यह निर्णय देते हैं कि अथर्वन् चाहे कितना भी उपयोगी एवं महनीय क्यों न हो, चरमतः वह अपने स्वरूप एवं स्थान में अवर कोटि का ठहरता है; क्योंकि इसके अनुष्ठान अपावन हैं; और इसलिये या तो हमें कठोरता के साथ इन्हें नियमित कर देना चाहिये अथवा उचित दण्ड-विधान द्वारा इनका निषेध ही कर देना चाहिये।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि धर्मग्रन्थों में अथर्ववेद का नाम अधिक बार नहीं आता। जहाँ मिलता भी है वहाँ इसका उलेख सामान्य रीति से हुआ है—अर्थात् त्रयीविद्या इसके पहले आती है और अन्य साहित्यिक विधाएँ,—विशेषतः 'इतिहास पुराणम्'—इसके बाद आते हैं: उदाहरण के लिये देखिये विष्णु-स्मृति ३०. ३७[2]; बौधायन ध० सू० २. ५. ९. १४[3], याज्ञ० १. ४४[4] औसनस ३. ४४; और

---

१. पुरोहितं प्रकुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम्।
दण्डनीत्यां च कुशलमथर्वाङ्गिरसे तथा॥ याज्ञ० ध० शा० १'११३

२. यदाथर्वणं तेन मांसेन। विष्णुस्मृति ३०।३७

३···ओं ऋग्वेदं तर्पयामि। ओं यजुर्वेदं तर्पयामि। ओं सामवेदं तर्पयामि। ओं अथर्वाङ्गिरसं तर्पयामि। ओं इतिहासपुराणं तर्पयामि।···बौ० ध० सू० २।५।९।१४

४. मेदसा तर्पयेद्देवानथर्वाङ्गिरसः पठन्। पितृंश्च मधुसर्पिर्भ्यामन्वहं शक्तितो द्विजः॥
याज्ञ० १।४४

कर्म-प्रदीप २. ५. १०[१]। यह बात अपेक्षाकृत उन स्थलों पर कम है जहाँ किसी गौण साहित्य का उल्लेख नहीं किया गया। इसे चतुर्थवेद का स्थान दिया गया है; उदाहरण के लिये देखिये बौधायन ध० सू० ३. ९. ४., ४. ५. १,[२] वासिष्ठ ध० शास्त्र २२. ९;[३] औशनस ३. ८६; और वृद्ध हारीत ३. ४५। अथर्व-शिरस् नाम की आथर्वण उपनिषद् का उल्लेख आम मिलता है, देखो गौतम ध० सू० १९. १२;[४] वासिष्ठ ध० शा० २२. ९. बौधायन ध० सू० ४. १. २८[५], विष्णु स्मृति ५५. ९.[६] और औशनस ४. ५। अथर्ववेद के पवित्र ग्रन्थों को ब्राह्मणों के असली अस्त्र बताया गया है, जिनकी सहायता से वह अपने शत्रुओं को पछाड़ सकता है: मनु० ११. ३३ (श्रुतिरथर्वाङ्गिरसीः); राजा को पुरोहित के रूप में उसी का वरण करना चाहिये, जो अथर्वन् एवं अङ्गिरस में निष्णात हो; याज्ञ० १. ३१२; यही विधान गौतम ध० सू० में भी मिलता है ११. १५. १७[७] जहाँ राजा को ज्योतिषियों और शकुनवेत्ताओं के कथनों पर ध्यान देने के लिये कहा गया है, और पुरोहित को गृह्याग्नि में प्रायश्चित्त क्रिया (शान्ति) संपत्ति के लिये अनुष्ठान (मङ्गल) और शत्रुओं के प्रतिकूल तान्त्रिक विधान (अभिचार) करने का आदेश दिया गया है। निश्चय ही ऐसा पुरोहित एकमात्र अथर्वन् ही हो सकता है। बौ० ध० सू० २. ८. १५. ४;[८] और विष्णु स्मृति ७३. ११; ८१. ४[९] में यातुधान कहाने वाले

---

१. सामान्यपि पठन् सोमघृतकुल्याभिरन्वहम्। मेदः कुल्याभिरपि च अथर्वाङ्गिरसः पठन्॥
कर्मप्रदीप २।५।१०

२……ऋग्भ्यो यजुर्भ्यः सामभ्योथर्वभ्यः श्रद्धायै प्रज्ञायै मेधायै श्रियै ह्रियै……
बौ. ध. सू० ३।९।४

अथातः संप्रवक्ष्यामि सामर्ग्यजुरथर्वणाम्। कर्मभिर्यैरवाप्नोति क्षिप्रं कामान्मनोगतान्॥
बौ. ध. सू० ४।५।१

३. उपनिषदो वेदादयो वेदान्ताः सर्वच्छन्दःसंहिता मधून्यघमर्षणमथर्वशिरो रुद्राः पुरुषसूक्तं राजनरौहिणे सामनी कूष्माण्डानि पावमान्यः सावित्री चेति पावनानि।
वासिष्ठ ध. शा. २२।९

४. उपनिषदो वेदान्ताः सर्वच्छन्दःसु संहिता मधून्यघमर्षणमथर्वशिरो रुद्रा……
गौ. ध. सू० १९।१२

५. सव्याहृतिकां सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह। त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायाम स उच्यते॥
बौ० ध० शा० ४।१।२८

६. सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह। त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते॥
विष्णुस्मृ० ५५।९

७. यानि च दैवोत्पातचिन्तकाः प्रब्रूयुस्तान्याद्रियेत्। गौ० ध० सू० ११।१५ इत्यादि

८. यातुधानाः पिशाचाश्च प्रतिलुम्पन्ति तद्धविः। तिलादाने ह्यदायादास्तथा क्रोधवशेसुराः बौ० ध० शा० २।८।१५।४

९. अपयन्त्वसुरा इति द्वाभ्यां तिलैर्यातुधानानां विसर्जनं कृत्वा॥ विष्णुस्मृ० ७३।११ इत्यादि

राक्षसों को तिलों द्वारा हटाया जाता है और यह बात अथ० १. ७. २[1] से हर तरह मिलती है। अत्रिसंहिता (जीवानन्द का संग्रह भाग १ पृ० ४५) ज्योतिष में निष्णात अथर्वन पुरोहित का श्राद्धों और यज्ञों के लिये विधान करती है। इस विषय में विष्णु स्मृति ३. ७५; ७१. ६६;[2] मनु० ७. २१७;[3] याज्ञ० १. ३२२[4] भी द्रष्टव्य हैं।

यहाँ तक तो धर्मग्रन्थ अथर्ववेद के प्रति संमान और इसके साहित्य तथा विधानों पर अपनी आस्था प्रकट करते हैं, किंतु उनमें दूसरे प्रकार के विवरण भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं जिनसे पता चलता है कि अथर्ववेद के विषय में उनका मन भी डाँवाडोल रहा करता था। वैदिक सूचियों में अथर्ववेद का उल्लेख न करना श्रौतसूत्रों की विशेषता थी और इसी प्रकार बिना किसी स्पष्ट विरोध को प्रदर्शित किये धर्म शास्त्र भी अथर्ववेद का उल्लेख नहीं करते। इस प्रसङ्ग में ध्यान देने योग्य वे निषेध-स्थल हैं जहाँ सामवेद की आवाज आने पर केवल ऋग्वेद और यजुर्वेद के पाठ का ही निषेध विहित है: गौतम ध० सू० १६. २१.[5]; वासिष्ठ ध० शा० १३. ३०.[6]; विष्णु स्मृति ३०. ३६.[7], मनु० ४. १२३. १२४.[8]। अथर्ववेद का उल्लेख किये बिना त्रयी का निर्देश इन स्थलों पर मिलता है: बौधा० ध० सू० २. ८. १४. ४. ५, ४. ५. २९[9] मनु० १. २३; ३. १४५.; ११. २६३-६;

---

१. अग्ने तैलस्य प्राशान यातुधानान्वि लापय। अथ० १।७।२

२. राजा च सर्वकार्येषु संवत्सराधीनः स्यात्। विष्णुस्मृति ३।७५
न संवसेद्दैवहीने। विष्णुस्मृ० ७१।६६

३. तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारिकैः। सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः। मनु० ७।२१७

४. प्रेषयेच्च ततश्चारान्स्वेष्वन्येषु च सादरान्। ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैराशीर्भिरभिनन्दितः॥
दृष्ट्वा ज्योतिर्विदो वैद्यान्दद्याद्गां काञ्चनं महीम्।…………॥ याज्ञ० १।३३२–३३३

५. ऋग्यजुषं च सामशब्दो यावत्। गौ० ध० सू० १६।२१

६. ऋग्यजुषां सामशब्दे वा। वासि० ध० शा० १३।३०

७. यत्सामानि तेन पयसा। विष्णु-स्मृति ३०।३६

८. सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन। वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च।
ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः। सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः॥ मनु ४।१२३।१२४

९. ऋचो यजूंषि सामानीति श्राद्धस्य महिमा तस्मादेवंविदं सपिण्डमप्याशयेत्। बौ. ध. सू० २।८।४।४
रक्षोघ्नानि च सामानि स्वधावन्ति यजूंषि च। मध्वृचोथ पवित्राणि श्रावयेदाशयञ्छनैः॥ बौ० ध० सू० २।८।१४।५
ऋग्यजुःसामवेदानां वेदस्यान्यतमस्य वा। पारायणं त्रिरभ्यस्येदनश्नन्सोतिपावनः॥ बौ० ध० सू० ४।५।२९

१२. ११२[1]; याज्ञ० २. २११[2]। आप० ध० सू० २. ११. २९. १०, ११[3] में अथर्ववेद की हीनता का संकेत है और कहा गया है कि स्त्रियों और शूद्रों का ज्ञान अथर्ववेद का पूरक है। इससे भी अधिक तिरस्कार के साथ विष्णु-धर्मशास्त्र ५. १९१[4] अथर्ववेद के मारण तन्त्रों के उच्चारण करने वाले को सात पापियों में से एक वताता है। अथर्ववेद-संविहित कृत्यों की अनेक बार निन्दा की गई है और उनके लिये दण्ड का विधान किया गया है; भले ही इस संवन्ध में अथर्ववेद का नामोल्लेख न किया गया हो। शत्रुओं का निरास करने वाले तान्त्रिक अभिचारों और सामान्य अभिशापों से पाप उत्पन्न होता है, जिसके शमन के लिये घोर तपस्या का विधान किया गया है। इसके लिए देखिये : आप० ध० सू० १. ९. २६. ७[5], बौधा० ध० सू० २. १. २. १६.[6], गौतम ध० सू० २५. ७[7]; विष्णुस्मृति ३७. २६[8]; मनु० ९. २९०[9], याज्ञ० ३. २८९[10]। ब्राह्मणों की भाँति इन ग्रन्थों में भी ओषधि का व्यवहार अपवित्र माना गया है—आप० ध० सू० १. ६. १८. २१. विष्णुस्मृति ५१. १०[11], गौ० ध० सू० १७. १७[12]; वासिष्ठ ध० सू० १४. २, १९[13];

१. अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ मनु १।२३ इत्यादि

२. त्रैविद्यनृपदेवानां क्षेप उत्तमसाहसः। मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयोः। याज्ञ० २।२११

३. सा निष्ठा या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु च। आप० ध० सू० २।११।२९।११ इत्यादि

४. उद्यतासिविषाग्निं च शापोद्यतकरं तथा। आथर्वणेन हन्तारं पिशुनं चैव राजसु॥ विष्णुस्मृति ५।१९१

५. अनार्जवपैशुनप्रतिषिद्धाचारेष्वभक्ष्याभोज्यापेयप्राशने शूद्रायां रेतस्सिक्त्वाऽयोनौ··· पवित्रमन्यैर्यथाकर्माभ्यासः। आप० श्रौ० सू० १।९।२६।७

६. द्यूतमभिचारोनाहिताग्नेरुञ्छवृत्तिता समावृत्तस्य भैक्षचर्या तस्य गुरुकुले वास ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यस्तस्य चाध्यापनं नक्षत्रनिर्देशश्चेति॥ बौ० ध० सू० २।१।२।१६

७. अनार्जवपैशुनप्रतिषिद्धाचारानाद्यप्राशनेषु शूद्रायां च रेतः सिक्त्वा अयोनौ······ अप उपस्पृशेद्वारुणीभिरन्यैर्वा पवित्रैः। गौ० ध० सू० २५।७

८. अभिचारबलकर्मसु च प्रवृत्तिः। विष्णुस्मृति ३७।२६

९. अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः। मूलकर्मणि चानाप्तैः कृत्यासु विविधासु च॥ मनु० ९।२९०

१०. त्रीन्कृच्छ्रानाचरेद् व्रात्ययाजकोऽभिचरन्नपि।
वेदप्लावी यवाश्यब्दं त्यक्त्वा च शरणागतम्॥ या० ३।२८९

११. पुंश्चलीदाम्भिकचिकित्सकलुब्धकक्रूरोग्रोच्छिष्टभोजिनां च॥ विष्णुस्मृति० ५१।१०

१२. चिकित्सिकमृगय्वनिपुचार्युच्छिष्टभोजिगणविद्विषाणानाम्। गौ० ध० सू० १७।१७

१३. चिकित्सकमृगयुपुंश्चलीदण्डिकस्तेनाभिशस्तषण्ढपतितानामन्नमभोज्यम्। वासिष्ठधर्म० सू० १४-२

मनु० ३. १५२[1], याज्ञ० १. १६२[2]। सच पूछिये तो यह अभियोग अथर्ववेद पर लागू होता है। ज्योतिष एवं भविष्य-कथन अमाङ्गलिक व्यवसाय हैं : बौधा० ध० सू० २. १. २. १६; विष्णुस्मृति ८२. ७[3]; वासिष्ठ ध० सू० १०. २१[4]; मनु० ३. १६२[5]। और ये व्यवसाय आथर्वणिक हैं यह बात अवे० ६. १२८[6]; कौशिक ५०. १५[7] (तुल० ऊपर अत्रिसंहिता से) से झलक जाती है। मूल-क्रिया, मूलकर्म या 'जड़ों से उपचार' का निषेध करके विष्णुस्मृति २५. ७। और मनु० ९. २९०, ११. ६४ अथर्ववेद पर कटाक्ष करती हैं और इस प्रकार के प्रसङ्गों में इनकी चोट वस्तुतः अथर्ववेद पर पड़ती है, (देखिये अथ० १. ३४. १; ६. १३ ८. १[8]); भले ही इस प्रकार के टोटकों का अभाव इस वेद से बाहर के अन्य ग्रन्थों में भी नहीं रहा हो। (तुल० ऋ० १०. १४५[9] और गृह्यसूत्रों से)। अन्ततः गौतम ध० सू० १५. १६[10], विष्णु० ८२. १२[11]; मनु० ३. १५१; ४. २०५[12] में सामान्य जनता के लिये यज्ञ

---

१. चिकित्सका देवलका मांसविक्रयिणस्तथा। विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः। मनु ३।१५२

२. चिकित्सकातुरक्रुद्धपुंश्चलीमत्तविद्विषाम्। क्रूरोग्रपतितव्रात्यदाम्भिकोच्छिष्टभोजिनाम्॥ याज्ञ० १।१६२

३ नक्षत्रजीविनः। विष्णुस्मृति ८२।७

४. न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया। नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्। वासि० ध० सू० १०।२१

५. हस्तिगोऽश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति। पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च॥ मनु० ३।१६२

६. शकधूमं नक्षत्राणि यद्राजानमकुर्वत।
भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति॥ अथ० ६।१२८।१

७. उपोत्तमेन सुहृदो ब्राह्मणस्य सक्तुपिण्डान् पर्वस्वाधाय शकधूमं किमद्याहरिति पृच्छति॥ कौ० सू० ५०।१५

८. इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि।
मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि॥ अ० १।३४।१
त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे।
इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि॥ अवे० ६।१३८।१

९. इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्॥ ऋ० १०।१४५।१ इत्यादि ६ मन्त्र

१०. न भोजयेत्स्तेनक्लीबपतितनास्तिकतद्वृत्तिवीरहाग्रेदिधिषूपपतिस्त्रीग्रामयाजक……… गौ० ध० सू० १५।१६

११. बहुयाजिनः॥ विस्णुस्मृति ८२।१२

१२. जटिलं चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा। याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत्। मनु० ३।१५१

करने वाले (ग्रामयाजक) को अपवित्र बताया गया है; और इस तथ्य को तो हम देख ही चुके हैं कि इस प्रकार का व्यवसाय सर्वात्मना नहीं तो अधिकांशतः तो अथर्वन् पुरोहितों के ही हाथ में रहता आया था—(तुलना करो सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट ४२ पृ० ४० टिप्पणी)।

२७. *महाभारत में अथर्ववेद*—महाभारत में अथर्ववेद का स्थान केवल इतने ही से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पहुँच कर वेद-रूप में इसकी महत्ता एवं प्रामाण्य पूर्णरूप से स्वीकार कर लिये गये हैं; महाभारत को इसके विधान सम्यक्-तया विदित हैं; और सामान्यतः इस आर्षकाव्य ने इन विधानों पर आक्षेप नहीं किया है। महाभारत का विपुल संग्रह क्षत्रियों के हितों से इतना अधिक घुलमिल गया है कि यहाँ अथर्ववेद के विरुद्ध कोई आवाज़ सुनाई ही नहीं पड़ती, क्योंकि स्वयं अथर्ववेद भी खुले तौर पर 'राजकर्माणि' से ही संबद्ध है। इसमें संदेह नहीं कि वेदों को तीन मानने की प्रवृत्ति तो इस युग में भी चालू रही, किंतु जगदुत्पत्ति के प्रसङ्ग में जहाँ चारों वेदों का साकार कर्ता के साथ निकट संपर्क स्थापित किया गया है, वहाँ अथर्ववेद की महत्ता में प्रगाढ आस्था प्रकट की गई है। इस प्रकार ५. १०८. १०[1] = ३७७० में कहा गया है कि ब्रह्मा ने सर्वप्रथम चारों वेदों का उच्चारण किया और ३. २०३. १५[2] = १३५६० में तो ब्रह्मा का विशेषण ही 'चतुर्वेद' को बना दिया गया है। इस प्रकार के उल्लेख अन्यत्र भी मिल जाते हैं। स्वयं अथर्ववेद की खुले शब्दों में प्रशंसा की गई है और उसकी अकाट्य उपयोगिता का भी उल्लेख किया गया है; उदाहरण के लिए महा० २. ११. २०[3] = ४३७ में 'अथर्वाङ्गिरसः' का अन्य वैदिक ऋषियों के साथ आदर के साथ उल्लेख किया गया है : महा० ५. १८. ५[4] = ५४८ में अङ्गिरस् अथर्ववेद के मन्त्रों द्वारा इन्द्र की स्तुति करते हैं, जिस पर प्रसन्न होकर इन्द्र घोषणा करते हैं कि 'आज से आगे इस वेद का नाम अथर्वाङ्गिरस बजेगा।' महा० १२. ३४२. ९९[5] = १३२५८ में प्रजापति कहते हैं कि अथर्वन् महर्षियों ने उन्हें पाँच कल्पों के अनुष्ठान में संलग्न अथर्वन्

---

१. अत्र वेदान् जगौ पूर्वं भगवाँल्लोकभावनः ।
अत्रैवोक्ता सवित्राऽऽसीत् सावित्री ब्रह्मवादिषु ॥ महा० ५।१०८।१०

२. साक्षाल्लोकगुरुर्ब्रह्मा पद्मे सूर्यसमप्रभः ।
चतुर्वेदश्चतुर्मूर्तिस्तथैव च चतुर्मुखः ॥ महा० ३।२०३।१५

३. अथर्वाङ्गिरसश्चैव बालखिल्या मरीचिपाः ।
मनोऽन्तरिक्षं विद्याश्च वायुस्तेजो जलं मही ॥ महा० २।११।२०

४. ततः स भगवांस्तत्र अङ्गिराः समदृश्यत ।
अथर्ववेदमन्त्रैश्च देवेन्द्रं समपूजयत् ॥ महा० ५।१८।५ इत्यादि ३ श्लोक

५. यस्मिञ्शाखा यजुर्वेदे सोऽहमाध्वर्यवे स्मृतः ।
पञ्चकल्पमथर्वाणं कृत्याभिः परिबृंहितम् ॥ महा० १२।३४२।९९

पुरोहित (पञ्चकल्पम् अथर्वाणम्) बनाया। महा० ३. २०५.२०[1] = १७०६६ में कुन्ती उन अथर्वन् मन्त्रों को जानती बताई गई है (अथर्वाङ्गिरसि श्रुतम्) जो देवताओं को प्रकट होने के लिये बाध्य करते हैं। इसी प्रकार की बातें और जगह भी महाभारत में बिखरी पड़ी हैं। किंतु आर्षकाव्यों के लेखकों से उचित संमान पा जाने पर भी अथर्ववेद के लिये यह आशा करना भूल होगी कि महाभारत में उस पर ताने नहीं कसे गए हैं। हो न हो ऐसे भी व्यक्ति अवश्यमेव रहे होंगे जो इसकी अभिचारजन्य यातनाओं और इसके अभद्र विचारों से सताये गये होंगे। ऐसे स्थलों पर आर्षकाव्य में भी धर्मशास्त्रों की भावना झलक उठती है। उदाहरण के लिये यहाँ भी वैद्यों को अपवित्र बताया गया है; महा० १२. ३६. ३०[2] = १३२२; १३. ९०. १३[3] = ४२८२। स्त्रियों द्वारा मूल या अभिचार की सहायता से की जाने वाली आभिचारिक क्रियाओं की निन्दा की गई है; महा० ३. ३९. ६[4] = २२३७। 'माया' या 'अभिचार' को सामान्यतः तो भला कहा गया है, किंतु आर्षकाव्यों की राय में भद्र अभिचारों को भी अभद्र बनाया जा सकता है; धर्माभिचारीन् होना संभव है (१२. १४०. ४२. ४[5] = ५२८८) और घातक माया का प्रयोग करना (७. ३०. १५[6]=१३१६) भी संभव है। अथर्वन् की यह दुरंगी चाल उसका पल्ला यहाँ भी पकड़े ही रहती है।

२८. *संस्कृत, जैन और बौद्ध साहित्य में अथर्वन्*—यद्यपि संस्कृत साहित्य में अथर्वन् का उल्लेख बहुलता से नहीं हुआ, तथापि यहाँ भी इसकी स्थिति वैसी ही दृढ़ दीख पड़ती है जैसी कि वह महाभारत में थी। रामायण में तो केवल एक ही बार अथर्वन् का उल्लेख आया है (२. २८. २५)[7]; किंतु दशकुमारचरित दो

---

१. ततस्तामनवद्याङ्गीं ग्राहयामास स द्विजः।
मन्त्रग्रामं तदा राजन्नथर्वशिरसि श्रुतम् ॥ ३।३०५।२०

२. चिकित्सकस्य यच्चान्नमभोज्यं रक्षिणस्तथा।
गणग्रामाभिशस्तानां रङ्गस्त्रीजीविनां तथा ॥ महा० १२।३६।३०

३. पुरीषे तस्य ते मासं पितरस्तस्य शेरते।
सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् ॥ महा० १३।९०।१३

४. गावो नवतृणानीव गृह्णन्त्येता नवं नवम्।
शम्बरस्य च या माया माया च नमुचेरपि ॥ महा० ३।३९।६

५. धर्माभिचारिणः पापाश्चौरा लोकस्य कण्टकाः।
समागच्छन्ति तान् बुद्ध्वा नियच्छेच्छमयीत च ॥ महा० १२।१४०।४२

६. निहतौ भ्रातरौ दृष्ट्वा मायाशतविशारदः।
कृष्णौ संमोहयन् मायां विदधे शकुनिस्ततः ॥ महा० ७।३०।१५

७......वेदाः साङ्गास्तथादिव्या मन्त्रा आथर्वणाश्च ये ॥ वाल्मी० रामा० २।२८।२५

वार (उच्छ्वास २. पृ० ९४ और उच्छ्वास ३ पृ० १०८), किरातार्जुनीय १०. १०[1] और यहाँ-वहाँ मिलने वाली लोकोक्तियाँ इसका संमान के साथ नाम लेती हैं। सुश्रुत का आयुर्वेद स्वभावतः हिन्दू-ओषधि के प्राचीनतम स्रोत से परिचित है: १. ८९. १९; १२२. १०। पुराण बहुधा चारों वेदों का उल्लेख करते हैं और अथर्ववेद को उसके उस उदात्त स्वरूप में उपस्थित करते हैं, जिसमें कि स्वयं इसके अपने याज्ञिक ग्रन्थ। (देखिये दूसरा खण्ड) : 'पौरोहित्यं शान्तिपौष्टिकानि राज्ञामथर्ववेदेन कारयेद् ब्रह्मत्वं च' (विष्णुपुराण, प्रस्थानभेद पृ० १६, १. १०)। सायणाचार्य द्वारा अथर्ववेद की भूमिका पृ० ६ में उद्धृत मत्स्यपुराण आदेश करता है कि पुरोहित को अथर्ववेद के मन्त्र एवं ब्राह्मण में पारंगत होना चाहिये, जब कि मार्कण्डेय कहते हैं कि आथर्वण मन्त्रों से अभिषिक्त राजा समुद्रमेखला पृथ्वी का उपभोग करता है (सायण, पूर्वोक्त)। दूसरी ओर जैन और बौद्ध साहित्य वेद मात्र के प्रति अपनी अश्रद्धा घोषित करते हुए, अथर्ववेद के विधिविधानों पर समय-समय पर आक्षेप करते पाये जाते हैं। सूत्रकृताङ्गसूत्र २. २७[2] अथर्वन् अभिचारों (अथर्वाणि) का प्रत्याख्यान करता है, और सुत्तनिपात का अट्ठक वग्ग १४. १३ आथब्बण वेद के विधानों पर चोट करते हैं। तेविज्ज सुत्त के द्वितीय अध्याय में महासीलम् खुले आम आथर्वणिक विधानों की निन्दा करते हैं, और यही बात देखी जाती है विनय, कुल्लवग्ग ५. ३२. २ में।

२६. *व्याकरण, कोश एवं इतिहास-संबन्धी रचनाओं में अथर्ववेद*—व्याकरण-ग्रन्थों, कोशों एवं इतिहास-संबन्धी रचनाओं में अथर्ववेद का स्थान आज भी कुछ अनिश्चित-सा दीख पड़ता है। पाणिनि ४. ३. १३३[3]; ६. ४. १७४[4] में आथर्वणिक शब्द आया है (तुल० गण ४. २. ६३[5])। महाभाष्य 'विंशिनोऽङ्गिरसः' कह कर केवल इसकी संहिता (शौनकीय या पैप्पलाद) का ही उल्लेख नहीं करता, अपितु इसे या इसके प्रारम्भिक मन्त्र 'शं नो देवीः' को वैदिक ग्रन्थों की सूची का मूर्धन्य बजाता है। टीकाकार अथर्ववेद के इस असाधारण महत्त्व की इस आधार पर व्याख्या करता है कि सभी यज्ञों के आरम्भ में दानवों (राक्षस और पिशाच)

---

१. यमनियमकृशीकृतस्थिराङ्गः परिददृशे विधृतायुधः स ताभिः ॥
अनुपमशमदीप्ततागरीयान्कृतपदपंक्तिरथर्वणेव वेदः ॥ किरात० १०।१०

२. अहावरे एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिएत्ति आहिज्जइ, जे इमे भवंति गूढ़ायारा गपत्तलहुया पव्वयगुरुया······सूत्रकृता० सूत्र २।२७

३. आथर्वणिकस्येकलोपश्च ॥ पाणिनि ४।३।१३३

४. दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेयवाशिनायनिभ्रौणहत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयानि ॥ पाणिनि ६।४।१७४

५. वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् (शरद) हेमन्त, शिशिर, प्रथम, गुण, चरम, अनुगुण, अथर्वन्, आथर्वण, अपर्वन् इति वसन्तादिः (गणपाठ ४।२।६३)

को यज्ञभूमि से बाहर भगाने के उद्देश्य से अथर्ववेद के इस मन्त्र का प्रयोग आवश्यक होता है। वेबर का विचार है कि श्रौत-वेदों (त्रयीविद्या) का उस समय चलन बन्द हो गया था और केवल नाम के लिये उनका निर्देश किया जाता था। किंतु हो सकता है कि वैदिक यज्ञों में चतुर्थ पुरोहित ब्रह्मा के महत्त्व की वृद्धि और इन मन्त्रों पर अथर्व-पुरोहितों का आधिपत्य ही पतञ्जलि की इस असाधारण धारणा का हेतु रहा हो। यह भी संभव है कि इस अथर्व-मन्त्र का प्रातःकाल की दुरित-शोधक प्रार्थनाओं में व्यावहारिक महत्त्व रहा हो। इस बात की इस तथ्य से पुष्टि होती है कि बहुत सी शौनकीय हस्तप्रतियों के प्रारम्भ में भी यह मन्त्र पाया जाता है, जब कि वस्तुतः इस संहिता के साथ प्रस्तुत मन्त्र का मौलिक संबन्ध नहीं था। सामवेद के अनुपद (३. १२) और निदानसूत्र (२. १२)[1] में अन्य वैदिक शाखाओं के आचार्यों के साथ आथर्वणिकों का उल्लेख भी मिलता है। इसी प्रकार सायण-रचित महानारायण उपनिषद् की टीका में भी (इ० स्टू० २-१०० टिप्पणी २)। चरणव्यूह अथर्ववेद को उसी धरातल पर रख कर चतुर्थवेद मानता है, जिस पर कि वह अन्य वेदों को रखता है। बृहद्देवता ५. १६[2] 'अथर्वाङ्गिरसाः मन्त्राः' से परिचित है। कोशग्रन्थों में अमरकोश अथर्ववेद का उल्लेख नहीं करता। मेदिनीकोश में अथर्व-वेद का नाम है, किंतु हेमचन्द्र (२४९) परवर्ती लेखकों की न्याईं अथर्ववेद को त्रयी विद्या से उद्‌धृत मानता है।

(छ) अथर्ववेद अपने याज्ञिक साहित्य की दृष्टि में

३०. *अथर्ववेद और इसके पुरोहितों के प्रति याज्ञिक ग्रन्थों का दृष्टिकोण*—गत परिच्छेद में हम देख चुके हैं कि अथर्ववेद की संहिता और आथर्वण उपनिषद्, अपने ही वर्ग की रचनाओं, इनके आख्यानोक्त आचार्यों, और आथर्वणिक पुरोहितों का वर्णन पक्षपात और प्रशंसा के साथ करते हैं; और हमें तीन प्राचीन वेदों एवं उनके अनुयायियों के प्रतिकूल विरोध के स्पष्ट चिह्न नहीं मिलते। इसी प्रकार अथर्ववेद के याज्ञिक ग्रन्थ भी अपने वेद का प्राथमिकता के साथ समय-समय पर निर्देश करते हैं और अवसर के अनुसार इस वेद के आचार्यों एवं पुरोहितों को भी सर्वोपरि स्थान देते हैं; उदाहरण के लिये देखिये—कौशिक ६३. ३; १३९. ६[3];

१……कनीयानितीवैतद्भवत्यथाप्युद्ध्रियमाणेषूपसर्गान्तरेषु नैवार्थो हीयते न वृत्तिर्दुष्यत्यथापि शश्वदेना अनुपसृष्टा आथर्वणिका अधीयतेऽथापि। निदानसूत्र २।१२

२. सोऽथर्वाङ्गिरसान्मन्त्रान् दृष्ट्वा संजीव्य तं शिशुम्।
क्रोधात्संत्यज्य राजानम् अन्यदेशं समाश्रितः॥ बृहद्देवता ५।१६

३. श्रुतं त्वा हव्यमिति चतुर आर्षेयान् भृग्वङ्गिरोविद उपसादयन्नि॥ कौ० सू० ६३।३-इत्यादि

वैतान १. ५;[1] अथर्वपरिशिष्ट ४६. २[2] आदि। इतना ही नहीं; ये अथर्व-ग्रन्थ वेदों के बीच अथर्ववेद का विशिष्ट स्थान बताते हैं, और साफ-साफ तर्क देकर यह माँग करते हैं कि अथर्वन् पुरोहितों के लिये कुछ स्थान सुरक्षित होने चाहिएँ। इन ग्रन्थों की स्थिति का तीन शीर्षकों में वर्णन किया जा सकता है : प्रथम ये अनाथर्वणिक ग्रन्थों की ढुलमुल प्रकृति से संतुष्ट नहीं हैं, जिसके कारण ये विशेष अवसरों पर ही अथर्ववेद का सम्मानपूर्वक उल्लेख करते हैं, विशेषतः उन अवसरों पर जब त्रयी विद्या के अतिरिक्त अन्य वैदिक साहित्य, इतिहास, पुराण आदि के उल्लेख की आवश्यकता समझी जाती है। दूसरे, ये चतुर्थ ऋत्विज् ब्रह्मा का पद अथर्ववेदी को देते हैं, और वैतान एवं गोपथ ब्राह्मण भृग्वङ्गिरोविद् को ही इस पद का अधिकारी बताते हैं। तीसरे; इसी प्रकार की माँग पुरोहित के पद के विषय में भी की गई है : आथर्वण साहित्य में निष्णात अथर्वन् का ही एक राजा को गृह्य पुरोहित के रूप में वरण करना चाहिए; इसे इन ग्रन्थों में पुरोहित, गुरु अथवा ब्रह्मा आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया है। उनके इस दावे का समर्थन अथर्ववेद से बाहर के, बाद में बने ब्राह्मण-ग्रन्थों से भी हो जाता है।

३१. याज्ञिक ग्रन्थों में अथर्ववेद का महत्त्व, विस्तार, तथा ब्रह्मा का पद—जहाँ तक पहली बात का प्रश्न है गोपथ-ब्राह्मण १. १. ४–१०[3] स्पष्ट रूप से कहता है कि सृष्टि एवं वेदों का मूल स्रष्टा एक मात्र ब्रह्म है। वैदिक ग्रन्थ सामान्यतः इन सृष्टि-संबन्धी कल्पनाओं में अथर्ववेद की अवहेलना करते हैं, किंतु गोपथ-ब्राह्मण में अथर्वन् तथा आङ्गिरस-ग्रन्थों को सर्वोपरि दिखाया गया है। अन्य वैदिक ग्रन्थ (१. १. ५-६)[4] तथा अन्य गौण रचनाएँ (सर्पवेद आदि १. १. १०)[5] पीछे धकेल दी गई हैं। गोपथ-ब्राह्मण १. ३. ४ अथर्ववेद को सर्वश्रेष्ठ धार्मिक ग्रन्थ बताता है (एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः)। गोपथ-ब्राह्मण १. ५. २५[6] इस निर्णय के साथ समाप्त होता है कि त्रयीवेद के ज्ञाता सर्वोच्च स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, किंतु

---

१. वाचयति यजमानं भृग्वङ्गिरोविदा संस्कृतम् ॥ वैतान सू० १।५

२. आङ्गिरसान् समासान् हुत्वा भार्गवैः विपर्यस्तामाङ्गिरसीम् । अथ० परि० ४६।२।३

३……तस्य ह वा एतस्य भगवतोऽथर्वण ऋषेर्यथैव ब्रह्मणो लोमानि यथाङ्गानि यथा प्राण एवमेवास्य सर्व आत्मा समभवत्…गो० ब्रा० ११।४। से १।१।१० तक

४……तानथर्वण ऋषीनाथर्वणांश्चार्षेयानभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः संतप्तेभ्यो यान्मन्त्रानपश्यत्स आथर्वणो वेदोऽभवत्……श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः संतप्तेभ्यस्त्रीन्वेदान्निरमिमीत ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदम्…… गो० ब्रा० १।१।५—६

५……संतप्ताभ्यः पञ्च वेदान्निरमिमीत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदमिति…… । गो० ब्रा० १।१।१०

६. त्रिविष्टपं त्रिदिवं नाकमुत्तमं तमेतया त्रय्या विद्ययैति ।
अत उत्तरे ब्रह्मलोका महान्तोऽथर्वणामङ्गिरसां च सा गतिः ॥ गो० ब्रा० १।५।२५

अथर्वन् एवं अङ्गिरस् उनसे भी ऊपर टिके ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं (अत उत्तरे ब्रह्मलोका महान्तः)। गोपथ ब्राह्मण के रचयिताओं के मन में पहली बात अथर्ववेद और इसके अनुयायियों को प्रमुखता देनी थी; और कदाचित् ही कभी, शायद भूल से, यह ग्रन्थ अपनी वैदिक सूचियों में अथर्ववेद को छोड़ देता हो (ऊपर प्र० २२)। इसी प्रकार वैतानसूत्र ६. १[1] अथर्ववेद को चारों वेदों के ऊपर अधिष्ठित करता है। परिशिष्टों में अथर्ववेद को इससे भी उच्च स्थान दिया गया है। जहाँ तक ब्रह्मा का प्रश्न है—जो श्रौत यज्ञों का अधीक्षक होता था—वैतानसूत्र १. १; ११. २[2] (गो० ब्रा० १. २. १६[3]) कहता है कि उसे ब्रह्मवेद या अथर्वाङ्गिरसः में सुतरां निष्णात होना चाहिये। दूसरे अनुच्छेद में त्रयी के उद्गाता, होता और अध्वर्यु से उसकी भिन्नता दिखाई गई है। गोपथ-ब्राह्मण १. १. १८.[4] (अन्त) में ब्रह्मा का इन शब्दों में वर्णन है—'एष ह वै विद्वान् सर्वविद् ब्रह्मा यद् भृग्वङ्गिरोविद्'। इसमें अथर्ववेद का तादात्म्य सर्व-विद्या के साथ दिखाया गया है, जिसका महत्त्व त्रयी से कहीं बढ़कर है (नीचे प्र० ३३)। गोपथ-ब्राह्मण १. ३. १, २ के अनुसार भृग्वङ्गिरस में निष्णात ब्रह्मा के बिना यज्ञ निरर्थक हो जाता है। जैसे गौ, अश्व, खच्चर या रथ चार से कम पैर होने पर आगे नहीं बढ़ सकते उसी प्रकार यज्ञ में भी चार पैर, चार वेद। तथा चार ऋत्विज् अवश्यमेव होने चाहियें। विशेषतः गोपथ-ब्राह्मण २. २. १३[5] की तैत्तिरीय संहिता ३. ५. २. १[6] से उस स्थल पर तुलना कीजिये, जहाँ गोपथ-ब्राह्मण तैत्तिरीय संहिता के विवरण 'तस्माद् वासिष्ठो ब्रह्मा कार्यः' पर शङ्का करता है; क्योंकि गोपथ-ब्राह्मण तो सुतरां 'भृग्वङ्गिरोविद्' के लिये ही बनाया गया है।

३२. *याज्ञिक ग्रन्थों में पुरोहित का स्थान*—**पुरोहित (ब्रह्मा, गुरु) के पद के विषय में याज्ञिक ग्रन्थों की माँग और भी जोरदार है : 'देश के शासक को विज्ञ ब्रह्मा**

१···ऋग्भिः पूतं प्रजापतिरथर्वणोऽश्वं प्रथमं निनाय···इत्यादि। वै० सू० ६।१

२. अथ वितानस्य ब्रह्मा कर्मणि ब्रह्मवेदविद्दक्षिणतो विधिवदुपविशति॰वाग्यतः॥ वै० सू० १।१ ऋत्विजो वृणीते। अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्···वै० सू० ११।२

३. चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति चतस्रो वा इमा होत्रा हौत्रमाध्वर्यवमौद्गात्रं ब्रह्मत्वमिति······। गो० ब्रा० १।२।१६

४. यथा गौर्वाश्वो वाश्वतरो वैकपाद् द्विपात्त्रिपादिति स्यात्किमभिवहेत्किमभ्यश्नुयादिति तस्मादृग्विदमेव होतारं वृणीष्व यजुर्विदमध्वर्युं सामविदमुद्गातारमथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणं तथा हास्य यज्ञचतुर्षु लोकेषु चतुर्षु देवेषु चतुर्षु वेदेषु चतसृषु होत्रासु चतुष्पाद्यज्ञः प्रतितिष्ठति······॥ गो० ब्रा० १।३।१—२

५. ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यंस्तं वसिष्ठ एव प्रत्यक्षमपश्यत्सोऽबिभेदितरेभ्य ऋषिभ्यो मा प्रवोचदिति······॥ गो० ब्रा० २।२।१३

६······ततो वसिष्ठपुरोहिताः प्रजाः प्राजायन्त तस्माद्वासिष्ठो ब्रह्मा कार्यः प्रैव जायते···। तै० सं० ३।५।२।१

(ब्रह्माणम्) ढूँढना चाहिये। निःसंदेह वह बुद्धिमान् है जो भृगु एवं अङ्गिरस् में निष्णात है, क्योंकि भृगु और अङ्गिरस् सभी आपत्तियों के शमन के लिये अभिचार करते हैं और वेही अशेष वस्तुओं की रक्षा करते हैं'। कौशि० ९४. २—४ तुलना १२६. २. १[1]। पुरोहित, गुरु, एवं ब्रह्मा की तुल्यता अथर्वपरिशिष्ट ३. १ ('कुलीनम् श्रोत्रियं भृग्वङ्गिरोविदं गुरुं वृणीयाद्भूपतिः') और ३. ३ ('तस्माद् भृग्वङ्गिरोविदं···कुर्यात् पुरोहितम्') की तुलना से पुष्ट होती है। 'ब्रह्मा तस्मादथर्ववित्' २. २ की भी तुलना कीजिये। इसके विपरीत देवता, पितर्, और द्विजन्मा (पुरोहित) उस राजा के देय को नहीं ग्रहण करते जिसके घर में अथर्वन् में निष्णात गुरु न हो, (२. ३)[2]। कौशिकसूत्र १४०. ४[3] के अनुसार राजा और पुरोहित में सक्रिय सहयोग होना वाञ्छनीय है। परिशिष्ट अपने वेद के अनुयायियों की ऐसी दृढ़ स्वीकृतियों से ही संतुष्ट नहीं हैं; वरन् वे तो दूसरे वेदों के अनुयायियों एवं स्वयं अपने ही वेद की कुछ शाखाओं के अनुयायियों का पुरोहिति से बहिष्कार तक कर डालते हैं। 'अथर्वन् भयंकर विपत्तियों को दूर करता है और अभद्र वस्तुओं के प्रति अभिचार की कृत्याएँ करता है'···अध्वर्यु, छन्दोग, और बह्वृच् नहीं···बह्वृच् राज्य का नाश करता है, अध्वर्यु संतान को नष्ट करता है और छन्दोग धन का अपव्यय कराता है, अतः गुरु निश्चित रूप से आथर्वण ही होना चाहिए। पैप्पलाद गुरु सौख्य, सार्वभौमता और स्वास्थ्य में बढ़ोतरी करता है और इसी प्रकार देव एवं मन्त्रवित् शौनकिन् भी। वह राजा, जिसका पुरोधा किसी भी भाँति जलद या मौद हो एक वर्ष के भीतर ही राज्यच्युत हो जाता है (अथ० परि० २. ३-५)[4]।

---

१. एष ह वै विद्वान् यद्भृग्वङ्गिरोवित्। ३। एते ह वा अस्य सर्वस्य शमयितारः पालयितारो
यद्भृग्वङ्गिरसः॥ कौ० सू० ९४. २—४
तत्र राजा भूमिपतिर्विद्वांसं ब्रह्माणं वृणीयात्। कौ० सू० १२६।२

२. न हविः प्रतिगृह्णन्ति देवताः पितरो द्विजाः।
तस्य भूमिपतेर्यस्य गृहे नाथर्ववित् गुरुः॥ अथ० परि० २।३

३. संभृतेषु संभारेषु ब्रह्मा राजा चोभौ स्नातावहतवसनौ सुरभिणौ व्रतवन्तौ कर्ण्या-
नुपवसतः कौ० सू० १४०।४

४. समाहिताङ्गप्रत्यङ्गं विद्याचारगुणान्वितम्।
पैप्पलादं गुरुं कुर्याच्छ्रीराष्ट्रारोग्यवर्धनम्॥ अथर्वपरि० २।३।५
तथा शौनकिनं वापि वेदमन्त्रविपश्चितम्।
राष्ट्रस्य वृद्धिकर्तारं धनधान्यादिभिः सदा॥ अथर्वप० २।४।१
आथर्वणादृते नाऽन्यो नियोज्योऽथर्ववित् गुरुः।
नृपेण जयकामेन निर्मितोऽग्निरिवाध्वरे॥ अथर्वप० २।४।२
बह्वृचो हन्ति वै राष्ट्रमध्वर्युर्नाशयेत्सुतान्।
छन्दोगो धननाशाय तस्मादाथर्वणो गुरुः॥ अथर्वप० २।४।३

अन्तिम चार नाम अथर्वन् शाखाओं के ही प्रतिनिधि हैं (ऊपर देखिये)। यह उद्धरण इस बात का संकेतक है कि पुरोहित-पद की अभिलाषा कितनी बलवती थी। अन्त में इस पद के लिये अथर्वन् अपनी योग्यता का डंका बजवाने में सक्षम सिद्ध हुए (प्र० ३४)। हो सकता है इसका कारण उनका सर्वाधिक अभिचारों का ज्ञान ही रहा हो, जो आगे चलकर राजाओं एवं जनता की रक्षा के लिये सबसे अधिक व्यावहारिक एवं प्रबल साधन समझा जाने लगा।

३३. अथर्व-वेद और इसके पुरोहितों की महत्त्ववृद्धि के कारण—आथर्वणिकों की इन माँगों का उचित मूल्याङ्कन करने के लिये निम्न बातें विचारणीय हैं। वैदिक धर्म अथवा धार्मिक अभ्युत्थान में तीन प्रकार के साहित्यिक विभाग और इन विभागों के यज्ञ में प्रयोग की तीन याज्ञिक विधियाँ हिन्दू-धर्म और आचार के लिखित इतिहास से कहीं पहले विकसित हो चुकी थीं। ये प्रसिद्ध विधाएँ हैं—ऋचः, सामानि, एवं यजूंषि और इनके याज्ञिक पुरोहित हैं—होता, उद्गाता और अध्वर्यु। अलग-अलग ये शास्त्रीय विभाग धार्मिक अनुष्ठान के विभिन्न अङ्गमात्र हैं। ये पुरोहित केवल विशेष-विशेष क्रियाओं के कर्ता हैं और सभी सकल शास्त्रीय ज्ञान या याज्ञिक कला के भार को वहन करने में असमर्थ हैं। हिन्दू लोग हमेशा से इस बात से परिचित थे कि ये धार्मिक विभाग स्वतः अपूर्ण हैं; और एक-एक सकल की विभिन्न कलाएँ हैं। ऋग्वेद में अनेक ऐसे वचन हैं जो बताते हैं कि धार्मिक कार्यों के लिये अकेली 'ऋचः' अपर्याप्त है। सामानि का अभाव वैदिक धर्म को उसी प्रकार विकलित कर देगा, जैसे ऋचः का अभाव। ये वर्ग एक ही त्रिकुटी के विभिन्न अङ्ग हैं; इनमें से तीनों क्रम से अपने-अपने कार्य को करते हैं। विस्तृत दृष्टिकोण की कमी कभी नहीं रही, भले ही प्रारम्भ में धर्म या धार्मिक अनुष्ठान के लिये कोई शब्द न मिल पाया हो। ब्राह्मण ग्रन्थ समस्त वैदिक ज्ञान के लिये सर्वविद्या शब्द का प्रयोग करते हैं, किंतु धार्मिक साहित्य एवं कृत्यजात को व्यक्त करने के लिये सर्वाधिक सफल शब्द रहा था 'ब्रह्मन्'; कुछ इसी प्रकार से संपूर्ण धर्म का ज्ञाता 'ब्रह्मन्' कहाया था। इनमें से प्रत्येक शब्द चतुर्थ स्थान पर प्रयुक्त होता है, ब्रह्म (वेद) त्रयी के बाद और ब्रह्मा त्रयी के ऋत्विजों के बाद प्रयुक्त होता है। इस प्रकार तैत्तिरीय संहिता (७. ३. १. ४) कहती है : 'परिमिता वा ऋचः, परिमितानि सामानि, परिमितानि यजूंषि; अथैतस्यैवाऽन्ते नाऽस्ति यद् ब्रह्म'। एक अर्थ में ब्रह्म चतुर्थवेद है पर अन्य तीन वेदों के समरूप नहीं है। यह इन

अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा यस्य स्याद्बह्वृचो गुरुः।
देशराष्ट्रपुरामात्यनाशस्तस्य न संशयः ॥ अथर्वप० २।४।४
....
....

पुरोधा जलदो यस्य मौदो वा स्यात्कदाचन।
अब्दाद्दशभ्यो मासेभ्यो राष्ट्रभ्रंशं स गच्छति ॥ अथर्वप० २।५।२

तीनों में से तथा बहुत से अन्य ग्रन्थों में से अपनी सामग्री लेता है और इसे इन तीनों का ज्ञान है। अन्ततः ब्रह्म अपने पूरे रूप में एक धार्मिक अभिव्यक्ति है, धार्मिक कृत्य है, और देवताओं के स्वभाव एवं सकल यज्ञों के रहस्य का सुसंस्कृत ज्ञान है (दे० ब्रह्मोद्य और ब्रह्मवादिन् में 'ब्रह्म')। उपनिषदों का ब्रह्म वेदों के ब्रह्म से कुछ भिन्न है, इसे संपूर्ण ज्ञानों से ऊपर बताया गया है, और यह मूर्तिमान् रूप में उन प्रमुख विचारों में एक बन जाता है, जो अन्त में सर्वव्यापी ब्रह्म–आत्मन् में परिवर्तित हो जाते हैं। वहाँ तो इस ब्रह्म का ज्ञान ही 'ब्रह्मविद्या' है। यह कहना अनावश्यक है कि चतुर्थवेद ब्रह्मवेद का अथर्ववेद से किसी भी विषय में प्रारम्भिक संबन्ध नहीं है, न तो संहिता (अवे० ११. ८. २३; १५. ३. ७; ६. ३[1] तुल० ऐ० ब्रा० १. २२. १५[2]) में और न ही उस वेद की उपनिषदों में (यथा नृसिंहतापनी ५. २[3])। इस धारणा का कि अथर्वन् ब्रह्मवेद है, मूल अथर्वन् याज्ञिक ग्रन्थों में ढूँढा जा सकता है।

पुनः यह विपुल धार्मिक ज्ञान अत्यन्त प्राचीन काल से पाया जाता है। यह सूक्ष्म रूप में न रह कर उन व्यक्तियों में केन्द्रित पाया जाता है, जो व्यावहारिक ज्ञान में दक्ष थे एवं किसी एक विशिष्ट ज्ञान में संलग्न पुरोहितों के विपरीत, इस ज्ञान को समष्टि रूप में ग्रहण करते थे। त्रयी के साथ ब्रह्मवेद का जो स्थान है, होता, उद्गाता और अध्वर्यु के साथ ब्रह्मा का भी वही स्थान है। ऋग्वेद १०. ७१. ११[4] चारों ऋत्विजों के उत्तरदायित्व का चित्रण करता है; प्रथम तीन अपनी-अपनी शास्त्रीय रचनाओं अर्थात् 'ऋचः' आदि का प्रयोग करते हैं। चौथे पुरोहित का इन शब्दों में वर्णन है—'ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्'। इसका कोई विशेष वेद नहीं है और नहीं निश्चित रूप से इसके लिए अथर्ववेद का उल्लेख ही है। ऋग्वेद ७. ७. ५[5]

---

१. वि॒द्याश्च॒ वा अवि॑द्याश्च॒ यच्चा॒न्यदु॑प॒दे॒श्य॑म् ।
शरी॑रं॒ ब्रह्म॒ प्रावि॑श॒दृच॒ः सामा॑थो॒ यजु॑ः ॥ अथ० ११।८।२३
वेद॑ आ॒स्तर॑णं॒ ब्रह्मो॑प॒बर्ह॑णम् ॥ अ० १५।३।७
स उ॑त्त॒मां दिश॒मनु॒ व्य॑चलत् । तमृच॑श्च॒ सामा॑नि च॒ यजूं॑षि च॒ ब्रह्म॑ चानु॒व्य॑चलत् ।
ऋ॒चां च॒ वै स साम्नां॑ च॒ यजु॑षां च॒ ब्रह्म॑णश्च प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥
अथ १५।६।३

२. ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयो वेदमयो ब्रह्ममयोऽ–
मृतमयः संभूय देवता अप्येति······ ॥ ऐ० ब्रा० १।२२।१५

३······एकरसमेवाजरममरममृतमभयं ब्रह्मैवाप्यजयैनं चतुष्पादं मात्राभिरोंकारेण
चैकीकुर्यात्······नृसिंहतापनी उप० ५।२

४. ऋ॒चां त्व॒ः पोष॑मास्ते पुपु॒ष्वान् गा॑य॒त्रं त्वो॑ गायति॒ शक्व॑रीषु ।
ब्र॒ह्मा त्वो॒ वद॑ति जातवि॒द्यां य॒ज्ञस्य॒ मात्रां॒ वि मि॑मीत उ त्वः ॥ ऋ० १०।७१।११

५. अस॑दि वृ॒तो वह्नि॑राजग॒न्वान॒ग्निर्ब्र॒ह्मा नृ॒षद॑ने विध॒र्ता ।
द्यौश्च॒ यं पृ॑थि॒वी वा॑वृ॒धाते॒ आ यं होता॒ यज॑ति वि॒श्ववा॑रम् ॥ ऋ० वे० ७।७।५

में परवर्ती सत्र का संकेत करने वाले यज्ञ में अग्निदेव ब्रह्मा के रूप में वरण किये गये हैं (अग्निर्ब्रह्मा नृषदने विधर्ता)। 'ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्' में आत्मज्ञान ही ब्रह्मन् (नपुंसकलिंग) का अर्थ है, और ब्रह्मा उसका धारक है। 'वदति जातविद्याम्' ब्रह्मोद्य, 'पवित्र या कर्मकाण्डीय रहस्य अथवा पहेली' के साथ ही साथ परवर्ती श्रौतग्रन्थों के 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' इस वाक्य द्वारा सूचित याज्ञिक संशोधन को सूचित करता है। अनाथर्वणिक वैदिक साहित्य में यह कहीं नहीं आता कि अथर्वन् अन्य समस्त वस्तुओं के साथ-साथइस सर्वज्ञ कर्मकाण्डी के कार्यजात के लिए विशेष रूप से योग्य है। इसके विपरीत कौषीतकि ब्राह्मण का दावा है कि ऋग्वेदी ही वरणीय ब्रह्मा है। आपस्तम्ब, यज्ञपरिभाषा सूत्र १९, अधिक स्वतन्त्रता के साथ ब्रह्मा को तीनों वेदों के प्रयोग की अनुमति देता है, किंतु यह भी अथर्ववेद की उपेक्षा कर जाता है। वसिष्ठ एक विख्यात 'ब्रह्मा' और पुरोहित दोनों एक साथ थे और एक साथ ये विशेषण (कदाचित्, वसिष्ठ के वंशजों द्वारा ही) इसी परिवार में वंशानुगत रूप से चले आते रहे हैं। किंतु ब्राह्मण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यह एक अप्रचलित रीति है; उचित ढंग से कुशल प्रत्येक व्यक्ति पुरोहित बन सकता है। तथापि वसिष्ठ और अथर्ववेद में किसी प्रकार का मौलिक संबन्ध नहीं दीख पड़ता। और यह कहना अत्युक्ति न होगा कि ब्रह्मा के पद के लिये वाञ्छित अर्हताएँ बहुत कम व्यक्तियों में पाई जाती थीं, जिससे सभी का इस पद के लिये दावा करना स्वीकार नहीं किया जा सकता था।

निःसंदेह आथर्वणिक लोग यह कहते हैं कि ब्रह्मा उन्हीं में से होना चाहिए और इसके परिणामस्वरूप यह भी दावा किया गया है कि अथर्ववेद ब्रह्मवेद[1] है। जैसे ऋग्वेद आदि के लिए 'होता' आदि हैं, वैसे ही चतुर्थवेद के लिए 'ब्रह्मा' है; और अथर्ववेद के चतुर्थवेद होने से ब्रह्मज्ञान वाले चतुर्थवेद से इसका ऐक्य दिखाने में अधिक खींचतान की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। इस प्रकार अथर्ववेद ब्रह्मवेद बन गया और गोपथ ब्रा० १. २. १८ कहता है : 'एष ह वै विद्वान् सर्वविद् ब्रह्मा यद् भृग्वङ्गिरोविद्' (तुलना० १. ५. ११, १५[2], जहाँ 'सर्वम्' का भाव एक विशेष लक्ष्य को लिये हुए है)। यह बात कि श्रौतकर्मकाण्ड की योजना में आथर्वणिक के लिये कोई नियमित और निरिक्त स्थान नहीं था—क्योंकि यज्ञों में आभिचारिक क्रियाएँ अध्वर्यु के द्वारा यजुष् के रूप में प्रयुक्त होती थीं—बहुत दिनों तक खटकता रहा होगा, जब तक कि उनके संतोष के लिये यह व्यवस्था

---

१. देखो मुण्डकोपनिषद् १. १-२ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्। स भरद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भरद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

२……य एव सर्वविस्यात्तं ब्रह्माणं कुर्वीतैष ह वै विद्वांस्सर्वविद् ब्रह्मा यद् भृग्वङ्गिरोविदे ते ह वा अस्य सर्वस्य शमयितारः। गो० ब्रा० १।५।११।

पूरी न हो सकी होगी। अथर्ववेद में ही ब्रह्म शब्द के अभिचार और प्रार्थना इन दोनों अर्थों में बहुशः प्रयुक्त होने के बल पर ही अथर्ववेदियों ने ऐसी व्यवस्था करने का साहस किया होगा यद्यपि उनके ऐसा करने का खुले तौर से पता नहीं चलता है (देखो अवे० १. १०. १; १. १४. ४४; २३–४[1] आदि)। और यदि सचमुच ऐसा ही हुआ था तो यह अविहित था, और सर्वथा अनावश्यक था। अथर्ववेद में इस शब्द का अर्थ अभिचार उन्हीं स्थलों पर है, जहाँ मन्त्र आभिचारिक हैं। ऋग्वेद स्वच्छन्दतापूर्वक इस नाम से अपने सूक्तों को अभिहित करता है (यथा ऋवे० ५–८५. १; ७. २८. १[2])। 'ऋचः सामानि यजूँषि', अथर्वाङ्गिरसः, या अथर्वाणः (भेषजानि) और अङ्गिरसः (आभिचारिकाणि) के स्तर पर अथर्व-संग्रह के किसी रूप के अभिधान के रूप से 'ब्रह्माणि' इस बहुवचन का प्रयोग नहीं मिलता। आथर्वणिकों का यह भी निर्बन्ध है कि अन्य सब संहिताओं की अपेक्षा अथर्ववेद में (१०.२, ७[3]) दैवी ब्रह्मन् और ब्रह्म का निरूपण करने वाले आध्यात्मिक सूक्त अधिक हैं और कुछ सीमा तक, इसी कारण परवर्ती उपनिषदों का अथर्ववेद के साथ कुछ निकट-सा संनिकर्ष उभर आया है। उपनिषदों में भी (जैसा कि हम देख चुके हैं) इस प्रकार के आध्यात्मिक ज्ञान को ब्रह्मविद्या कहा गया है।

······ऋग्वेद एव भर्गो यजुर्वेद एव महः सामवेद एव यशो ब्रह्मवेद एव सर्वं होतैव भर्गोऽध्वर्युरेव मह उद्गातैव यशो ब्रह्मैव सर्वं वागेव भर्गः प्राण एव महश्चक्षुरेव यशो मन एव सर्वम् ॥ गो० ब्रा० ११५११५

१. अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ अ० ११११०११
असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च
अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥ अ० ११११४१४
अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत्त्वचि।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥ अ० ११२३१४

२. प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रह्म प्रियं वरुणाय श्रुताय।
वि यो जघान शमितेव चर्मोपस्तिरे पृथिवीं सूर्याय ॥ ऋ० ५१८५११
ब्रह्मा ण इन्द्रोप याहि विद्वानर्वाञ्चस्ते हरयः सन्तु युक्ताः।
विश्वे चिद्धि त्वा विहवन्त मर्ता अस्माकमिच्छृणुहि विश्वमिन्व ॥ ऋ० ७१२८११

३. केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।
केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥
अ० १०१२११ इत्यादि ३३ मन्त्र

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम्।
क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥
अ० १०१७११ इत्यादि ४४ मन्त्र

३४. अथर्ववेद के साथ पुरोहित का संबन्ध और पुरोहित तथा ब्रह्मा का पारस्परिक संबन्ध– इस संबन्ध में आथर्वणिक धारणाओं को अपेक्षाकृत प्राचीन समय में ही अन्य वैदिक शाखाओं के समर्थन से साहस मिला। इस विषय का पुरोहित के पद से संबन्ध है, जो राजा का आध्यात्मिक एवं लौकिक संबल, उसका पुरोहित एवं प्रधान सहारा होता था। इस संबन्ध में अनाथर्वणिक संहिता, ब्राह्मण, एवं सूत्र श्रौत यज्ञों में ब्रह्मा के पद के उल्लेख के प्रसंग को छोड़कर और कहीं भी अथर्ववेद का उल्लेख नहीं करते। फिर भी यह संभव नहीं प्रतीत होता कि आथर्वण विधानों का ज्ञान यदि पुरोहित के लिए आवश्यक नहीं तो अत्यन्त उपयोगी नहीं समझा गया होगा। पुरोहित, चाहे वे अथर्वन् हों या न हों, सर्वदा आथर्वण अनुष्ठानों में संलग्न दीखते हैं, भले ही ये लोग एक दूसरे के प्रतिकूल क्यों न हों। इस प्रकार राजा और उसके राज्य (क्षत्रिय और क्षत्रम्) का हित आभिचारिक टोटकों पर इतना अधिक आश्रित है कि यह माना नहीं जा सकता कि इन अभिचारों के ज्ञाताओं द्वारा इस पद के लिये दावे न किये गये हों। राजा की सुरक्षा, प्रजा की समृद्धि और विरोधी पड़ोसियों पर उसका प्रभुत्व उसके पुरोहित के आभिचारिक नैपुण्य पर ही आश्रित रहता था। ऐतरेय ब्रा० ८-२४-२८[1] में पुरोहित, उसके कार्य, एवं उसके राजा के साथ संबन्धों का वर्णन पाठक को अथर्ववेद के क्षेत्र और विचारों की ओर आकृष्ट करता है। वही ग्रन्थ (८. २५[2]) एक 'ब्रह्मणः परिमार' नाम के आभिचारिक टोटके का निर्देश करता है जो विरोधी राजाओं को मारने के लिये किया जाता था, और हो न हो यह अथर्वन् का ही अंश था। परवर्ती ग्रन्थों (गौतम ध० सू० ११. १५, १७[3]; याज्ञ १. ३१२. ४[4], तुल० मनु० ११.३३[5] से भी) में विधान है कि अथर्ववेदी ही पुरोहित होना चाहिए। अथ० भूमिका पृ० ५,६ में सायण भी यही विचार प्रस्तुत करते हैं ('पौरोहित्यम् चाऽथर्वविदैव कार्यम्') इसके समर्थन में वे केवल

---

१. अथातो ब्रह्मणः परिमरो यो ह वै
ब्रह्मणः परिमरं वेद पर्येनं द्विषन्तो
भ्रातृव्याः परि सपत्ना म्रियन्ते, इति ॥ ऐ० ब्रा० ८।२४

२. अथातः पुरोधाया एव, इति।
नह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्न-
मदन्ति तस्माद्राजा यक्ष्यमाणो ब्राह्मणं
पुरो दधीत देवा मेऽन्नमदन्निति ॥ ऐ० ब्रा० ८।२४, ८।२५ तक

३. यानि च दैवोत्पातचिन्तकाः प्रब्रूयुस्तान्याद्रियेत् ॥ गौ० ध० स० ११।१५

४. तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ ततः परम्।
पुरोहितं प्रकुर्वीत दैवज्ञं मुदितोदितम् ॥ याज्ञ० १।३१२
दण्डनीत्यां च कुशलमथर्वाङ्गिरसे तथा ॥ याज्ञ० १।३१३

५. यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूयन्ते द्विजातयः।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥ मनु० ११।३३

अथर्व-ग्रन्थों को ही उद्धृत नहीं करते, अपितु पुराणों एवं नीतिशास्त्र आदि के श्लोकों से भी उद्धरण देते हैं। दशकुमारचरित में विवाह-संस्कार तथा आभिचारिक क्रियाएँ दोनों राजभवन में साथ-साथ आथर्वण रीति से मनाई गई हैं। 'आथर्वणेन (आथर्वणिकेन) विधिना'। यह वर्णन प्रासङ्गिक होने से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

ब्रह्मा (चतुर्थ पुरोहित) अथर्ववेदी ही हो, इस धारणा के समर्थन में सुस्पष्ट प्रमाण नहीं हैं, फिर भी हमें इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अथर्ववेद और पुरोहिति के बीच बढ़ती हुई एकता से इस माँग को आंशिक सफलता अवश्य मिली होगी। इस विषय के विवेचन के लिये पुरोहित और ब्रह्मन् का मौलिक संबन्ध स्पष्ट करना आवश्यक नहीं है; क्योंकि इन दोनों की एकता अपेक्षाकृत प्राचीन हिन्दू साहित्य में मिल जाती है। दोनों में से हर एक के स्वरूप और नामों के परीक्षण से उनके स्वरूप में एक विवेचनीय अन्तर प्रकट होता है। तथापि दोनों में एक समानता यह है कि दोनों अपने-अपने मार्गों के अनुसार अपने योग्य प्रयोक्ताओं के हितों का ध्यान रखते हैं। दूसरी ओर अन्य अभिधान वाले पुरोहित बहुत प्राचीन समय से—आथर्वणिक भावनाओं की स्वीकृति से पहले ही–अपने ज्ञान और व्यवसाय के विशिष्ट प्रकार का होने के कारण सामान्य व्यवहार में केवल गौण विषयों से ही संबद्ध रहे थे। ऋग्वेद १०. ७१. ११[1] (तुल ७. ७. ५)[2] सूक्तों के गान एवं उच्चारण में नैपुण्य तथा यज्ञसंबन्धी क्रिया—कलाप (होता, उद्गाता, अध्वर्यु) से बाह्य विस्तृत धार्मिक विषयों के अस्तित्व का संकेत करता है। यही ब्रह्मत्व बाद में दो दिशाओं में विभक्त हो जाता है: एक ओर याज्ञिक क्रिया कलाप का सामान्य ज्ञान (ब्रह्मा=चौथे ऋत्विज् के रूप में) और उससे संबद्ध धार्मिक चिन्तन; दूसरी ओर इससे भी उच्चकोटि की आध्यात्मिकता, जो अन्त में उपनिषदों की ब्रह्मविद्या में परिनिष्ठा को प्राप्त होती है। और यह बात स्वाभाविक है कि इन गुणों से युक्त पुरोहित, बहुत पहले समय में ही, अपने राजन्य अभिभावकों के साथ, धार्मिक एवं याज्ञिक क्रिया कलाप के लिये स्थायी एवं गहरे संबन्धों में बँध गये हों। ब्रह्मा के कार्य उत्कृष्ट पुरोहित के कार्य हैं। यह असंभव-सा प्रतीत होता है कि यह ब्रह्मा, राजा के राज्य की सुरक्षा से संबद्ध उसके लौकिक एवं व्यावहारिक कृत्यों में, उसकी प्रजा की राजभक्ति, और उसके शत्रुओं के दमन में एक साथ समर्थ रहा था। इन कार्यों के लिये—जिन्हें अथर्व-ग्रन्थ 'राजकर्माणि' कहते हैं—विभिन्न प्रकार के शिक्षण एवं बुद्धिवैभव की आवश्यकता पड़ी होगी—क्योंकि ये क्रियाएँ उच्च पुरोहित के कर्तव्यों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व वाले युद्धचालक पुरोहित के कार्यों का प्रतिनिधित्व करती है। इस बात के मान लेने का कोई कारण नहीं है

१. ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्। ऋ० १।७१।११ इत्यादि

२. ऋङ्मयो···आप्येति ॥ ऐ. ब्रा. १।२२।१५

कि प्रत्येक ब्रह्मा में कर्मकाण्ड के साथ-साथ ये अपेक्षणीय अर्हताएँ भी विद्यमान रहती थीं। दूसरी ओर ऐसे भी पुरोहित अवश्य रहे होंगे, जो विविध वैदिक विधानों (श्रौत) का सही संपादन करने में असमर्थ होते थे; नहीं तो हमें मानना पड़ेगा कि ब्रह्मा नाम-मात्र का प्रधान पुरोहित था, और उसके पद का कोई कार्य विशेष नहीं था। तो भी हमें आथर्वणिकों के इस दावे के औचित्य में कि अधीक्षक पुरोहित 'ब्रह्मा' को अथर्ववेद का ही अनुयायी होना चाहिये संदेह है। बहुधा एकजातीय स्वामी या राजा केवल एक ही पुरोहित रखता होगा; और यह पुरोहित राज्य की सब प्रकार की यातु-संबन्धी, आभिचारिक, एवं तान्त्रिक क्रियाओं में निपुण होता होगा, और इस प्रकार स्वयं अथर्ववेदी होने के कारण पौरोहित्य की समस्त यातु-संबन्धी क्रियाओं को पूरा करता होगा। यदि राजा के यहाँ जातविद्या में निपुण कर्मकाण्डी नहीं होता था, या 'त्रयी' के ऊपर प्रभासमान सर्वविद्या वाले चतुर्थवेद में, जिसमें श्रौत क्रियाओं का वास्तविक नए जीवन के लिये विधान है, निष्णात कर्मकाण्डी नहीं होता था, अथवा यदि उसका होता, अध्वर्यु और उद्गाता में उनके कार्य के सही संपादन की दृष्टि से विश्वास नहीं होता था, तो वह सारी ही श्रौत क्रियाओं के अधीक्षण का कार्य अपने विश्वसनीय अथर्व-पुरोहित को सौंप देता था। इस दृष्टि से देखने पर अथर्ववेदी पुरोहितों का उक्त दावा आंशिक रूप से सही ठहरता है। और एक बार प्रधानता प्राप्त करके बाद में अथर्व-पुरोहितों ने ब्रह्मा के कार्यों का संमानपूर्वक संपादन करने के लिये पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया होगा। इसके प्रमाणस्वरूप वैतानसूत्र में ब्रह्मा के कृत्यों को देखा जा सकता है। यदि कात्यायन श्रौतसूत्र के भाष्यकारों द्वारा वैतान का उद्धरण संगत मान लिया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि श्रौत अनुष्ठानों के निष्पादन में अथर्वन् की समर्थता और वैतान की वैधता बाद के समय में अन्य वैदिक शाखाओं द्वारा भी मान ली जा चुकी थी। फिर भी वैदिक इतिहास में अथर्ववेद का श्रौत क्रियाओं के साथ संबन्ध बहुत ही अस्पष्ट है; क्योंकि यह धारणा आम बन गई है कि अथर्ववेद का वेद के बृहत्तर याज्ञिक अनुष्ठानों के साथ गहरा संबन्ध नहीं था। किंतु इस रूप में यह धारणा त्रुटिपूर्ण है। प्रस्तुत अथर्वसंहिता में ऐसे मन्त्र हैं, जिनका श्रौत क्रियाओं के सिवाय और किसी अनुष्ठान के साथ संबन्ध हो ही नहीं सकता। विधानों की एक सूची की, (यथा अथ० ६.४७ और ४८[1]) तीन दैनिक सवनों के सिवाय और जगह संगति नहीं बैठती। वैतानसूत्र

---

१. अ॒ग्निः प्रा॒तःस॑व॒ने पा॒त्व॒स्मान्वै॑श्वान॒रो वि॑श्व॒कृद्वि॒श्वशं॑भूः ।
स नः॑ पाव॒को द्रवि॑णे द॒धा॒त्वायु॑ष्मन्तः स॒हभ॑क्षाः स्याम ॥ अ० ६।४७।१ इत्यादि ३ मन्त्र

श्ये॒नो॑ऽसि गाय॒त्रच्छ॑न्दा॒ अनु॒ त्वा र॑भे । स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य ॥

अ० ६।४८।१ इत्यादि ३ मन्त्र

२२. ७[1] साफ तौर से उन्हें अग्निष्टोम का अङ्ग बताता है। फिर अथर्व० ६. ११४[2] साफ शब्दों में यज्ञ की त्रुटियों के लिये प्रायश्चित्त सूक्त हैं। यह अन्तिम, निर्विवाद रूप से ब्रह्मा का अपना क्षेत्र है। गोपथ-ब्राह्मण यज्ञ की त्रुटियों (विरिष्ट, ऊन, यातयाम) का विस्तार के साथ वर्णन करता है। इन त्रुटियों को मन्त्रों (अब १. १. १३ और २३)[3] द्वारा शोधने का विधान मिलता है। वैतानसूत्र की भी कतिपय हस्तप्रतियों में छः प्रायश्चित्त-अध्याय समाविष्ट हैं। श्रौत विषयों का भी कुछ ज्ञान, भले ही वह बहुत गहरा न हो, अथर्वणों में अति प्राचीन काल से चला आ रहा था। संक्षेप में अथर्वन् और ब्रह्मन् की एकता का विकास कुछ इसी प्रकार से हुआ बताया जाता है।

---

१. वै० सू० २१।७

२. यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ अ० ६।११४।१ इत्यादि ३ मन्त्र

३. ···यज्ञेऽकुशला ऋत्विजो भवन्त्यचरितिनो ब्रह्मचर्यमपराग्या वा तद्वै यज्ञस्य विरिष्टमित्याचक्षते यज्ञस्य विरिष्टमनु यजमानो विरिष्यते यजमानस्य विरिष्टमन्वृत्विजो विरिष्यन्त ऋत्विजां विरिष्टमनु दक्षिणा विरिष्यन्ते दक्षिणानां विरिष्टमनु यजमानः पुत्रपशुभिर्विरिष्यते पुत्रपशूनां विरिष्टमनु यजमानः स्वर्गेण लोकेन विरिष्यते स्वर्गस्य लोकस्य विरिष्टमनु तस्यार्धस्य योगक्षेमो विरिष्यते यस्मिन्नर्धे यजन्त इति ब्राह्मणम् ॥
गो० ब्रा० १।१।१३

······ब्रह्मवेदस्याथर्वणं शुक्रमत एव मन्त्राः प्रादुर्बभूवुः स तु खलु मन्त्राणामतपसाशुश्रूषानध्यायाध्ययनेन यदूनं च विरिष्टं च यातयामं च करोति तदथर्वणां तेजसा प्रत्याप्याययेन्मन्त्राश्च मामभिमुखीभवेयुर्गर्भा इव······गो० ब्रा० १।१।२२

खण्ड २

शौनक शाखा में अथर्ववेद का संस्करण एवं बाह्य स्वरूप

(क) सूक्तों का विभाजन एवं विन्यास

३५. संहिता का २० काण्डों में विभाजन—शौनकीय शाखा का अथर्ववेद २० काण्डों में विभक्त है। कुछ सीमा तक यह संख्या परंपरा से चली आ रही है। उदाहरण के लिये : गोपथ-ब्राह्मण १. १. ५ और ८[1] अथर्वन् एवं अङ्गिरस् वंश के बीस ऋषियों का उल्लेख करता है और पाणिनि ५-२-३७ के भाष्य में पतञ्जलि भी 'विंशिनोऽङ्गिरसः' का उल्लेख करते हैं। किंतु इस प्रकार के चलते कथनों को शौनकीय काण्डों की मौलिक संख्या का निर्धारण करने में निर्णायक नहीं माना जा सकता, क्योंकि अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में भी २० काण्ड हैं, और इनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। किंतु सच पूछिये तो स्थिति ऐसी प्रतीत होती है कि प्रारम्भ में शौनकीय संहिता २० से कम काण्डों वाली रही होगी। बाद में इसे परंपरागत संख्या अर्थात् अथर्ववेद पैप्पलाद शाखा या अन्य २० काण्डों वाले संस्करण की बराबरी में लाने के लिये इसमें भी कुछ काण्ड जोड़ दिये गये। इसमें संदेह नहीं है कि बीसवाँ काण्ड उच्चकोटि की याज्ञिक क्रियाओं के लिये ऋग्वेद के मन्त्रों से लेकर ही रचा गया है, और यह बहुत बाद का है (देखिये प्र० ६२)। १९ वें काण्ड की अन्तिम प्रार्थना (सूक्त ७२[2]) से सूचित होता है कि पहले कभी १९ वें काण्ड पर ही पुस्तक का अन्त हो जाता था। किंतु १९ वें काण्ड को भी निम्नलिखित कारणों से बाद में जोड़ा गया एक प्रकार का पूरक माना जा सकता है। सबसे पहले तो यह अधिकांशतः भ्रष्ट है। इसका प्रथम १८ काण्डों की सूक्त-संग्रह पद्धति से—जो कुछ अस्पष्टता एवं अप्रौढ़ता के बावजूद भी क्रमबद्ध है—मेल नहीं बैठता। अथर्ववेद पैप्पलाद में उन्नीसवें काण्ड के ७२ मन्त्र (लगभग १२ को छोड़कर) मिलते हैं, और यह पूरे संग्रह में बिखरे पड़े हैं। इससे यह संभव

---

१. दशतयानाथर्वणानार्षेयान्निरमिमतैकादशान्द्वादशांस्त्रयोदशांश्चतुर्दशान्पञ्चदशान्षोडशांत्सप्तदशानष्टादशान्नवदशान्विंशानिति तानथर्वाण ऋषीन्'''''गो० ब्रा० १।१।५
तमङ्गिरसमृषिमभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तस्माच्छ्रान्तात्तपात्संतप्ताद्विंशिनोऽङ्गिरस ऋषीन्निरमिमीत''' गो० ब्रा० १।१।८

२. यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम् ।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह ॥ अ० १९।७२।१

प्रतीत होता है कि प्रचलित अथर्ववेद का १९ वाँ काण्ड हो न हो, इसी स्रोत से एकत्र किया गया है। अथर्व० १९. ७. और ८[1] नक्षत्रकल्प १० और २६ में पूर्णतः पुनरावृत्त हुए हैं; इससे यह अनुमान होता है कि उस ग्रन्थ के निर्माण के समय तक ये मन्त्र प्रचलित अथर्ववेद में संमिलित नहीं हो पाये थे; नहीं तो इनका उद्धरण प्रतीकों द्वारा किया जाता। अथर्ववेद १९. २२ और २३[2] में संहिता के विषयों की काल्पनिक सूची परिशिष्टों जैसी है, और इनमें १९ वें काण्ड का एकदम उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि ये १३ से १८ काण्डों का उल्लेख (१९. २३. २३. २८)[3] करते हैं। कौशिकसूत्र प्रतीक के रूप में १९ वें काण्ड के कुछ ही मन्त्रों को उद्धृत करता है, और शेष मन्त्रों को सकल पाठ में उद्धृत करता है। इससे प्रतीत यह होता है कि यह सूत्र इस काण्ड को इस शाखा की संहिता और अन्य शाखा के मन्त्रसमूहों के बीच का स्थान देता है। अन्ततः १९ और २० दोनों काण्डों का अथर्ववेद प्रातिशाख्य ने नोटिस नहीं लिया है और पञ्चपटलिका ने भी संहिता-व्याख्या में इसका परिगणन नहीं किया है। यह तथ्य काण्ड २० के विषय में तो सुतरां स्पष्ट है, किंतु यह १९ वें काण्ड को भी प्रातिशाख्य के निर्माण-समय तक अज्ञात बताता है। अथर्ववेद के काण्डों के विषय में अथ० परिशिष्ट, उत्तम पटल ४६. ४. ६[4] का उद्धरण यद्यपि महत्त्वपूर्ण नहीं है, तथापि वह ध्यान देने योग्य अवश्य है। इसके अनुसार यदि यह न मान लिया जाय कि इसमें दूसरी शाखा का भी उल्लेख है तो शौनकीय अथर्व १६ वें काण्ड तक ही समाप्त हो जाता है। क्योंकि इस परिशिष्ट के अन्य वैदिक संहिताओं के विषय के विवरण कुछ विचित्र-से हैं और क्योंकि इसका एक विशिष्ट याज्ञिक ध्येय है इसलिये यह मानना आवश्यक नहीं है कि काण्ड १७ एवं

---

१. चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि ।
अष्टाविंशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम् ॥
अ० १९।७।१ इत्यादि ५ मन्त्र
यानि नक्षत्राणि दिव्य १ न्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु ।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु ॥ १९।८।१ इत्यादि ७ मन्त्र

२. अङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा ॥ अ० १९।२२।१ इत्यादि २१ मन्त्र
आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा ॥ अ० १९।२३।१ इत्यादि ३० मन्त्र

३. रोहितेभ्यः स्वाहा ॥ अ० १९।२३।२३
सूर्याभ्यां स्वाहा ॥ अ० १९।२३।२४
व्रात्याभ्यां स्वाहा ॥ अ० १९।२३।२५
प्राजापत्याभ्यां स्वाहा ॥ अ० १९।२३।२६
विषासह्यै स्वाहा ॥ अ० १९।२३।२७
माङ्गलिकेभ्यः स्वाहा ॥ अ० १९।२३।२८

४. ये त्रिषप्ता वस्योभूयाय ये त्रिषप्ता मर्माणि···अथ० परि० ४६।४३० या०

१८ इस परिशिष्ट की रचना के बाद अथर्ववेद में जोड़े गये थे अथवा इनका संपादन १-१६ काण्डों के बाद हुआ था। निःसंदेह काण्ड १८ अथर्ववेद-पैप्पलाद में नहीं मिलता, किंतु काण्ड १७ का तो अधिकांश इसमें भी मिल ही जाता है।

अथर्ववेद काण्डों, अनुवाकों और सूक्तों में विभक्त है। प्रपाठकों वाला एक दूसरा विभाजन रॉथ और ह्विटनी के संस्करण में १८ काण्डों (सब ३८) तक हैं, किंतु १९ वें और २० वें काण्ड में नहीं है। सूक्तों के अतिरिक्त प्रत्येक काण्ड का अर्थसूक्त (अर्थानुसार विभाजित सूक्तों) एवं पर्यायसूक्त (सामान्यतः एक वर्ग में दश के क्रम से) इस प्रकार का एक दूसरा विभाजन भी पाया जाता है। इस विभाजन की ऋग्वेद के सूक्तों में विभाजन के अतिरिक्त वर्गों के विभाजन से तुलना की जा सकती है। शंकर पण्डित द्वारा अपनाया गया विभाजन अपने ७ वें काण्ड से प्रचलित अथर्ववेद से भिन्न है। सायण भाष्य में परंपरागत उच्चारण एवं प्रयोग के अनुसार छोटे सूक्त बड़े सूक्तों से मिला दिये गये हैं; यथा काण्ड ६ में दो सूक्त (तृच) एक में मिला दिये गए हैं। कौशिक-सूत्र अध्याय (=काण्ड), अनुवाक, सूक्त और पर्याय शब्दों से परिचित है। शतपथ ब्रा० १३. ४. ३. ७.[1], ८ एक ओर अथर्वाणः और दूसरी ओर अङ्गिरसः अंशों के उच्चारण के संवन्ध में 'पर्वन्' का प्रयोग करता है। यह विवरण वैसे ही दूरान्वयी और काल्पनिक हैं, जैसे ऋग्वेद ७. १०३. ५[2]; पारस्कर गृ० सू० २. १०. २०[3] में पर्वन् का शिथिल काल्पनिक प्रयोग। अथर्ववेद के प्रचलित संग्रह में ७३१ सूक्त हैं और सब मिलाकर लगभग ६००० मन्त्र हैं।

३६ विभिन्न विस्तार वाले सूक्तों के अनुसार काण्डों का विन्यास—२० वें काण्ड का विन्यास यजुः संहिता के श्रौत संकलनों की भाँति याज्ञिक है और १९ वें पूरक काण्ड का संकलन साफ तौर से क्रम-रहित है और उसका विवेचन अथर्ववेद पैप्पलाद की सहायता के विना कठिन है। इन दोनों काण्डों को छोड़कर प्रथम १८ काण्ड संस्करण के निम्नलिखित क्रम में उभरते हैं: प्रथम ७ काण्डों में अनेक सूक्त हैं: (क्रमशः ३५, ३६, ३१, ४०, ३१, १४२ और ११८) किसी में भी अधिक मन्त्र नहीं; अधिक से अधिक १८ मन्त्र हैं (५. ७)। प्रत्येक काण्ड के सूक्तों को

---

१. ···तानुपदिशत्यथर्व्वाणो वेदः सोऽयमित्यथर्व्वणामेकम्पर्व्वं व्याचक्षाणऽइवानुद्रवेत्···
शत० ब्रा० १३।४।३।७

······ताऽउपदिशत्यङ्गिरसो वेदः सोऽयमित्यङ्गिरसामेकम्पर्वं व्याचक्षाणऽइवानुद्रवेत्···
शत० ब्रा० १३।४।३।८

२. यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः। सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत् सुवाचो वदथनाध्यप्सु॥ ऋ० ७।१०३।५

३.······ऋषिमुखानि बह्वृचानाम्। पर्वाणि छन्दोगानाम्। सूक्तान्यथर्वाणाम्।······
पारस्करगृह्यसूत्र २।१०।२०

उनमें आने वाले मन्त्रों की निचली सीमा द्वारा नियमित कर दिया गया है। प्रथम बढ़ोतरी के अनुसार जैसे १–५ काण्डों के सूक्त, प्रत्येक काण्ड में प्रायः बराबर संख्या के सूक्त हैं। इनमें कम से कम मन्त्र-संख्या क्रमशः...४. ५, ६. ७ और ८ है; बढ़ोतरी पर आश्रित यह संख्या ५ वें काण्ड में पुनरावृत्त हुई है, जिसके प्रथम दो अनुवाकों (सूक्त १–१०) का नियम ८ या ९ मन्त्र हैं, और शेष सूक्तों में कम से कम ११ मन्त्र हैं, जो संख्या १८ तक जा पहुँचती है (सूक्त १७)। ५ वें काण्ड के बाद यह क्रम विच्छिन्न-सा हो जाता है, सूक्तों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है किंतु मन्त्रों की संख्या उतार पर आ जाती है। छठें काण्ड में १४२ सूक्त हैं, जिनमें प्रत्येक कम से कम ३ मन्त्रों का है। ७ वें काण्ड में ११८ सूक्त हैं, जिनमें २ या १ तक मन्त्र हैं। प्रत्येक काण्ड के सूक्तों में मन्त्रों की निम्नतर सीमा ही उनकी सामान्य मन्त्र-संख्या समझनी चाहिये। सामान्य से अधिक मन्त्र-संख्या वाले सूक्तों का आलोचनात्मक अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में प्रश्न उठता है कि कहीं इन सूक्तों में मन्त्र बाद में तो नहीं जोड़ दिये गये। यह अंदाजा भी लगाया जा सकता है कि कुछ सूक्तों में, जिनके मन्त्रों की संख्या मौलिक रूप में उस काण्ड के अन्य सूक्तों के मन्त्रों की सामान्य संख्या से कम थी, बाद में मन्त्र जोड़कर उन्हें सामान्य सूक्तों के बराबर कर दिया गया हो। ऋग्वेद के विषय में इस प्रकार का सुव्यस्थित अनुसंधान बेर्गेन्य और ओल्डेनबर्ग ने किया है, और इन विद्वानों ने अथर्ववेद पर भी सरसरा दृष्टिपात किया है। इस प्रकार प्रथम काण्ड में साधारण मन्त्र संख्या ४ है, केवल सूक्त ३ (९ मन्त्र), ७ (७ मन्त्र), ११ (६ मन्त्र), २९ (६ मन्त्र), ३४ (५ मन्त्र) में ही यह क्रम टूटा है। सूक्त ३ में याज्ञिक दृष्टि से पुनरुक्त २–५ मन्त्रों को छोड़ दिया गया है। इनके अतिरिक्त शेष के विषय में संदेह करने की गुंजाइश नहीं है। सूक्त ७ में प्रथम चार मन्त्र अनुष्टुभ् हैं और मन्त्र ५ त्रिष्टुभ् है। अतः यह कल्पना की जा सकती है कि ५–७ मन्त्र बाद में जोड़े गये हैं। किंतु ये मन्त्र मौलिक हैं, अतः मौलिक रूप से इनके विषय में संदेह करना ज्यादती है। सूक्त ११ के ६ मन्त्रों में अन्तिम दो के विषय में शङ्का उठ सकती है, क्योंकि वे 'अव जरायु पद्यताम्' को टेक के रूप में दुहराते हैं। सूक्त २९[1] ऋग्वेद १०. १७४[2] के साथ तुलना करने पर एक ऐसे आलोचनात्मक विवरण को प्रस्तुत करता है, जिसमें दोनों के प्रक्षेपकर्ता का मौलिक उद्देश्य ज्ञात होता है। अथर्ववेद २९.४ और ५ को हटा देने पर ४ मन्त्र बच जाते हैं=ऋग्वेद १०. १७४. १–३ और ५; और यदि हम इस बात को मान लें कि ऋग्वेद १०. १७४. ४ = १०.१५९. ४ भी गौण हैं तो सूक्त के चार मौलिक मन्त्र हमें ऋग्वेद तथा अथर्ववेद दोनों में

---

१. अ॒भी॒व॒र्तेन॑ म॒णिना॒ येनेन्द्रो॑ अभिवावृ॒धे। तेना॒स्मान्ब्र॑ह्मणस्पते॒ऽभि रा॒ष्ट्राय॑ वर्धय॥
अ० १।२९।१ इत्यादि ६ मन्त्र

२. अ॒भी॒व॒र्तेन॑ ह॒विषा॒ येनेन्द्रो॑ अभिवावृ॒ते। तेना॒स्मान्ब्र॑ह्मणस्पते॒ऽभि रा॒ष्ट्राय॑ वर्तय॥
ऋ० १०।१७४।१

मिल जाते हैं। अन्त में अथर्ववेद १. ३४ में पाँच मन्त्र हैं, जिनमें से अन्तिम, हो सकता है कि बाद का हो; क्योंकि इसका द्वितीय अर्धर्च सूक्तात्मक है। प्रथम ४ मन्त्रों को विवादात्मक अभिचार माना जा सकता है, जो ५ वें मन्त्र के जोड़ देने पर प्रेम-संबन्धी अभिचार में बदल जाता है। इसके विपरीत बहुत से चार मन्त्रों वाले सूक्तों के कुछ अन्तिम मन्त्रों के विषय में अन्य सामान्य वैदिक सूक्तों के अन्तिम मन्त्रों की तरह संदेह उत्पन्न हो सकता है। यह केवल इसलिये नहीं कि जोड़ना स्वभावतः अन्त में आसान है, वलिक इसलिये भी कि अन्तिम मन्त्र ही उस उद्देश्य को स्फुट करते हैं, जिसके लिये उनके आदिम मन्त्रों की रचना हुई है, जो स्वयं प्रारम्भिक या आलंकारिक स्वरूप के होते हैं। उदाहरण के लिये ऋग्वेद में वृष्टि के लिये मेंढकों से पर्याप्त प्रार्थना की गई है, या अथ० ४. १६[1] में शत्रुओं के विरुद्ध शाप का निर्देश है, या अथ० ३. १३[2] में एक नदी को नये स्रोत में प्रवाहित करने का अनुष्ठान है। इन सबमें आदिम मन्त्र प्रत्येक सूक्त के अन्तिम मन्त्र के उत्कर्ष (या अपकर्ष) में परिणत होता है। फलतः अन्तिम मन्त्र से ठीक पहले मन्त्र के अर्थ में भङ्ग-सा पड़ता है। इस प्रकार यदि हम इन तथ्यों से परिचित न हो जायँ, तो अथर्व १. २[3], जो तीन मन्त्रों वाला है युद्ध का अभिचार माना जा सकता है, और बाद में जोड़े गये मन्त्र ४ के द्वारा अतिसार के विरुद्ध अभिचार में बदल जाता है। पुनः अथर्ववेद १. ५[4] और ६ प्रत्येक में चार मन्त्र हैं, और दोनों को मिलाकर ८ मन्त्र हैं; और इसके तुल्य ऋग्वेद १०. ९[5] भी ९ मन्त्रों का है। ७ मन्त्र दोनों में एक से हैं। ऋ० १०. ९ में ऋग्वेदीय पद्धति ७ मन्त्रों का अनुमोदन करती है : तो क्या हम कह सकते हैं कि ऋ० १०. ९. ८[6] एवं ९ तथा अथ० १. ६. ४ बाद

---

१. बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति। य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः॥
अ० ४।१६।१ इत्यादि ९ मन्त्र

२. यददः संप्रयतीरहावनदता हते। तस्मादा नद्यो नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः॥
अ० ३।१३।१ इत्यादि ७ मन्त्र

३. विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम्। विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम्॥
अथ० १।२।१ इत्यादि

४. आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥
अ० १।५।१ इत्यादि ४ मन्त्र

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः॥
अ० १।६।१ इत्यादि ४ मन्त्र

५. आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥
ऋ० १०।९।१ इत्यादि ९ मन्त्र

६. इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि। यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्॥
ऋ० १०।९।८

आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि। पयस्वानग्न आ गहि तं मा सं सृज वर्चसा॥
ऋ० १०।९।९

के जोड़ हैं, और इनमें अथ० १. ६. ४[1] मन्त्र सूक्त १. ६ को ४ मन्त्रों वाला सूक्त बनाने के लिये अथर्ववेद में जोड़ दिया गया है। यही प्रश्न अथ० १. १७. ४[2] के विषय में भी उठ सकता है, जो एक जोड़ के रूप में (तृतीय पाद = ऋ० १. १९१. ६[3] तृतीय पाद) दिखाई पड़ता है और अन्य मन्त्रों से भिन्न छन्दवाला है। वस्तुतः याज्ञिक की दृष्टि से मन्त्र ४ बहुत महत्त्वपूर्ण है और सूक्त से संबद्ध क्रियाओं का ही उसमें निर्देश है। तब अथर्ववेद १. २०[4] और २१ के विषय में प्रक्षेपकर्ता की मंशा क्या हो सकती है? दो सूक्त बाद में जोड़े गये हैं: मन्त्र २०. १ = तै० ब्रा० ३. ७. ५. १२[5] (आप० श्रौ० सू० २. २०. ६[6]) मन्त्र २०. २ आश्वलायन श्रौ० सू० ५. ३. २२[7] में पाठभेदों के साथ है, दूसरा मन्त्र २०. ३ मौलिक प्रतीत होता है। इस दृष्टि से दो सूक्त (२०. ४—२१. ४[8]) ऋ० १०. १५२[9] की भाँति ५ मन्त्रों के हैं। तो क्या हम कह सकते हैं कि ५ मन्त्रों के एक ही सूक्त को आथर्वणिकों ने अपने संग्रह की पद्धति के मेल में लाने के लिए ४-४ मन्त्रों के दो सूक्तों में बदल दिया? यह पहले की

---

१. शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः । शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥
अ० १।६।४

२. परि वः सिकतावती धनूर्बृहत्यक्रमीत । तिष्ठतेलयता सु कम् ॥ अ० १।१७।४

३. द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा । अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठतेलयता सु कम् ॥ ऋ० १।१९१।६

४. अदारसृद्भवतु देव सोमास्मिन्यज्ञे मरुतो मृडता नः । मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद्वृजिना द्वेष्या या ॥ अ० १।२०।१ इत्यादि ४ मन्त्र

५. अदारसृद्भवत देव सोम । अस्मिन्यज्ञे मरुतो मृडता नः । ···तै० ब्रा० ३।७।५।१२
स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ॥ वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥
अ० १।२१।१ इत्यादि ४ मन्त्र

६······अदारसृद्भवत देव सोमास्मिन्यज्ञे मरुतो मृडता नः । मा नो विदभिभामो अशस्तिर्मा नो विदद्वृजना द्वेष्या यां । आप० श्रौ० सू० २।२०।६

७······यो अद्य सौम्यो वधोघायूनामुदीरति···आश्व० श्रौ० सू० ५।३।२२

८. शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः । न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन ॥
अ० १।२०।४ से

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् । वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥
अ० १।२१।४ तक

९. शास इत्था महाँ अस्यमित्रखादो अद्भुतः । न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन ॥
ऋ० १०।१५२।१ इत्यादि ५ मन्त्र

आलोचना से भी मेल खाता है। १. २३[1] और २४ के ५ मन्त्र, जो एक ही विषय (कुष्ठ) का वर्णन करते हैं, पुनः दुहराये गए हैं, तै० ब्रा० २. ४. ४. १–२[2]। क्या यहाँ भी अथर्ववेद ने ५ मन्त्रों के एक ही सूक्त को लेकर, उसमें बढ़ती करके चार-चार मन्त्रों के दो सूक्त बनाकर अपने नियम का निर्वाह किया है? इस प्रकार की प्रक्रिया का दोष-पूर्ण परिणाम और कठिनाई सूक्त १. ४[3] = ऋ० १. २३. १६–१९[4] में अच्छी तरह देखी जा सकती है। ओल्डेनवर्ग के अनुसार ऋ० १. २३ छः तृचों (१. १८) के हैं और इनसे विधियों की एक शृङ्खला बनती है। मन्त्र १९–२४ इनके साथ जोड़े गए हैं। अब यदि अथर्ववेद ने अपने चार मन्त्रों को सीधे, ऋग्वेद के अन्तिम संस्करण से ग्रहण नहीं किया—यद्यपि यह धारणा असंभव है—तो स्वयं ऋग्वेद के विषय में भी ये मापदण्ड बेकार बन जाते हैं। यदि इनकी कठोरता ऋग्वेद में संदेह-रहित नहीं है तो अथर्ववेद की भी ऐसी क्रियाओं पर क्यों विश्वास किया जाय? क्योंकि इनका तो सामान्यतः ऋग्वेदीय सामग्री ही आधार है। ऐसा न कहकर कि आथर्वणिक मन्त्रों के ऐतिहासिक स्वरूप के निर्णय में अथर्व-काण्डों के मन्त्रों की औसत पर ध्यान नहीं देना चाहिये, हमारे पल्ले एक मात्र निराशा पड़ जाती है। किंतु अब दूसरी आथर्वण-संहिता अर्थात् पैप्पलाद प्रकाशित हो चुकी है और उसकी अमूल्य सामग्री के प्रकाश में अथर्वसंहिता की निर्माण-विधि पर विचार करना सहज हो गया है। यहाँ हम इस बात की ओर ध्यान दिलाना नहीं भूल सकते कि अथर्ववेद की क्रियाविधि ऋग्वैदिक क्रियाविधि की भाँति, उन सूक्तों के—जो साफ तौर से मिश्रित हैं—प्रत्येक अंश का अलग-अलग, उसके मूल्य को पूरी तरह ध्यान में रखकर प्रयोग करती है। हिलेब्राण्डट ने ऋग्वेद के विषय में इस तथ्य का विशद निरूपण किया है और ब्लूमफील्ड ने अथर्ववेद के विषय में इस

---

१. नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च। इदं रंजनि रजय किलासं पलितं च यत्॥
अ० १।२३।१ इत्यादि ४ मन्त्र

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ। तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन्॥
अ० १।२४।१

२…नक्तं जाताऽस्योषधे। रामे कृष्णे असिक्नि च। इदं रंजनि रजय। किलासं पलितं च यत्।……तै० ब्रा० २।४।४।१–२

३. अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः॥
अ० १।४।१ इत्यादि ४ मन्त्र

४. अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः॥
ऋ० १।२३।१६ इत्यादि ३ मन्त्र

प्रकार के मिश्रित सूक्त हैं ४.२८[1] दो भागों में, ७.५६[2] दो भागों में। मन्त्र ५[3] एवं उसके आगे के मन्त्रों का अथर्ववेद पैप्पलाद में अभाव है; और कौशिक सू० १३९.८[4] में पृथकतया निर्दिष्ट है, दो सूक्त ७.७४[5] और ७.७६[6] तीन खण्डों में है और विविध छन्दों में है, जिनका सूत्रों में उचित रूप से प्रयोग किया गया है; और अन्त में विविध स्वरूप के कुन्ताप-सूक्त उन सभी शाखाओं की याज्ञिक परंपरा में उचित रूप में विभक्त मिलते हैं, जिनमें उनके उल्लेख का अवसर आया है। (दे० आगे पृ० ९३)

हम देख चुके हैं कि प्रथम ७ काण्ड सूक्तों के मन्त्रों की संख्या के अनुपात पर एकत्र किये गये हैं। यह संख्या काण्ड १–५ में बढ़ती है और ६–७ में घटती है। काण्ड ८ से १८ में, १५ और १६ को छोड़कर, लम्बे सूक्त हैं; इनमें का सबसे छोटा सूक्त (८.१[7]) प्रथम सात काण्डों के सबसे बड़े सूक्त (५–१७[8] जिसमें १८ मन्त्र हैं) से भी बहुत बड़ा है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इनमें सबसे छोटा सूक्त (काण्ड १५ और १६ को छोड़कर) शृङ्खला के आदि में और सबसे बड़ा सूक्त (१८–४[9] में ८९ मन्त्र) उसके अन्त में रखा गया है। काण्ड ८ से ११ तक प्रत्येक १० सूक्तों के हैं; इसके बाद संख्या घटने लगती है; काण्ड १२ (५ सूक्त), १३ (४ सूक्त), १४ (२ सूक्त) और १७ (१ सूक्त); नीचे अनुवाकों के अनुपात की तुलना कीजिये। काण्ड ८ में छोटे सूक्त हैं; इनमें २५–८ मन्त्रों का औसत है; काण्ड ९ में ३०–५ मन्त्रों का औसत है; काण्ड १० के एक सूक्त में ३५ मन्त्रों

१. भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद्विरोचते। यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ अ० ४।२८।१ इत्यादि ७ मंत्र

२. तिरश्चिराजेरसितात्पृदाकोः परि संभृतम्। तत्कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥
अ० ७।५६।१ इत्यादि ९ मंत्र

३. अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः। विषं ह्य १ स्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥
अ० ७।५६।५

४. मा नो देवा अहिर्वधीदरसस्य शर्कोटस्येन्द्रस्य प्रथमो रथो··· । कौ० सू० १३९।९

५. अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम। मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥ अ० ७।७४।१ इत्यादि ४ मंत्र

६. आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः। सेहोरसतरा लवणाद्विक्लेदीयसीः ॥
अ० ७।७६।१ इत्यादि ६ मंत्र

७. अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्। इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके ॥ ८।१।१ इत्यादि २९ मंत्र

८. तेऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा। वीडुहरास्तप उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य ॥ अ० ५।१७।१ इत्यादि १८ मंत्र

९. आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आरोहयामि। अवाड्ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके ॥ अ० १८।४।१ इत्यादि ८९ मंत्र

का औसत है। किंतु काण्ड ११ इसमें व्यवधान डालता है, क्योंकि इसमें ३१-२ मन्त्रों का औसत है। इसके बाद यह क्रम नहीं चलता। इसके स्थान पर काण्डों के विभाजन का एक दूसरा नियम काम में आता दीखता है और वह है अनुवाकों में विभाजन। काण्ड ८-१७ अनुवाकों की घटती हुई संख्या के आधार पर रचे गये हैं। काण्ड ८ से १३ में प्रत्येक में ५ अनुवाक हैं, काण्ड १३ में ४ अनुवाक हैं, १४ से १६ में २, २ अनुवाक हैं और १७ में एक अनुवाक है। काण्ड १८ फिर इस अवरोह क्रम में व्यवधान डालता है, क्योंकि इसमें ४ अनुवाक हैं। काण्ड १३ से १८ तक अनुवाक का प्राधान्य, जो कि प्रथम ७ काण्डों में नहीं मिलता, इन काण्डों की सूची में बहुवचन, द्विवचन और एकवचन के द्वारा प्रदर्शित किया गया है: अथ० १९. २३. २३-२८ 'रोहितेभ्यः स्वाहा, बहुवचन (काण्ड १३) सूर्याभ्यां स्वाहा, द्विवचन (काण्ड १४) वाताभ्यां स्वाहा, द्विवचन (काण्ड १५) प्राजापत्याभ्यां स्वाहा द्वि० व० (काण्ड १६) विषासह्यै स्वाहा, एकवचन (काण्ड १७) और 'माङ्गलिकेभ्यः स्वाहा' बहुवचन (काण्ड १८)।

३७. काण्डों के अन्दर सूक्तों का विन्यास—किसी एक काण्ड में सामान्यतः सूक्तों की क्रम-व्यवस्था नहीं की गई है, अपितु एक के बाद दूसरे, क्रम के बिना ही रख दिये गये हैं, वे उनके विषय अथवा अन्य किसी नियम का विचार किये बिना रख दिये गये हैं। प्रत्येक काण्ड की संख्यात्मक योजना के कारण समस्त संबद्ध सूक्तों को एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार ७. ६५[1] इतना छोटा है कि अपामार्ग वनस्पति ४-१७-१९[2] के पार्श्व में नहीं रखा जा सकता। दूसरी ओर सूक्त १२-५[3] इतना लम्बा है कि इसे ५. १७-१९[4] के पार्श्व में नहीं रखा जा सकता, यद्यपि ये सभी ब्राह्मण-विद्वेषियों के विरुद्ध शाप हैं। इसी प्रकार ५-२३[5] अपनी लम्बाई के कारण 'कीटों के प्रतिकूल अभिचार' (२-३२-३३[6]) में नहीं

---

१. प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ। सर्वान्मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः॥
अ० ७।६५।१ इत्यादि ३ मंत्र

२. ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे। चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा॥
अ० ४।१७।१ इत्यादि ८ मंत्र; इसी प्रकार ४।१८ तथा ४।१९ में भी आठ-आठ मंत्र हैं।

३. श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिता॥ अ० १२।५।१ इत्यादि ७३ मंत्र

४. ५।१७।१ (देखिये पृ० ६२) इत्यादि १८ मंत्र
नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे। मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्॥
५।१८।१ इत्यादि १५ मंत्र
५।१९।१ (दे० पृ० १६) इत्यादि १५ मंत्र

५. ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती। ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति॥ अ० ५।२३।१ इत्यादि १३ मंत्र

६. उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि॥
अ० २।३२।१ इत्यादि ६ मंत्र

जोड़ा जा सकता। इसके बावजूद वेद का बहुत बड़ा भाग विषयवस्तु के अनुसार निबद्ध किया गया है। दो, तीन, चार से लेकर बारह तक सूक्त, जो एक ही विषय के या संबद्ध विषय के हैं, एक स्थान पर रखे गये हैं। अन्तिम संख्या सर्वाधिक है, जो ६, ११०–१२१[१] में प्राप्य है। ये सभी सूक्त प्रायश्चित्त का निर्देश करते हैं। मन्त्रों की दूसरी बड़ी संख्या ७, तथाकथित मृगारसूक्त ४. २३–२९[२] में (देखिये प्र० ४५,५७) पाई जाती है। २. १८. २३[३] में ६ सूक्त शत्रुओं के प्रतिकूल प्रयुक्त हैं। काण्ड ३ पाँच सूक्तों के अनुवाक से प्रारम्भ होता है (१–५), जो राजकर्माणि से संवद्ध हैं। एक पूरे अनुवाक के ५ सूक्त (४–१६–२०[४]), जिनमें आसुरी अभिचारों का निर्देश है, एक ही विषय से संवद्ध हैं। चार सूक्तों वाले चार वर्ग हैं: ७. ३५. ३८[५] (स्त्रियों के अभिचार); ७. ४६. ४९[६] (चन्द्र और दिव्य स्त्रियों का देवत्व); १९. ४०–४३[७] (ब्रह्म, तपस्, दीक्षा); और १९. ४७–५०[८] (रात्रि)। तीन के वर्ग बहुत से हैं: १–४–६ (जलाभिचार) १. १९–२१ (युद्धाभिचार); १. २२–२४ (चर्मरोग); २. १५–१७ (दीर्घायुष्य प्राप्ति के गद्य-सूक्त), ४. १७–१९ (अपामार्ग से उपचार); ५. १७–१९ (ब्राह्मणद्वेषियों के प्रति); ६. २२–२४ (जल); ६. २७–२९ (अशुभपक्षी); ६. ३४–३६ (अग्निसूक्त); ६. ३९–४१ (हविष् सूक्त दे० प्र० ६०); ६. ६५–६७ (युद्धाभिचार); ६. ८६–८८ (साम्राज्य); ६. ९७–९९ (युद्धाभिचार); ६. १३०–१३२ (प्रेमसूक्त) ७. १४–१६ (सविता); ७. १७–१९ (धाता); ७.

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि। यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ अ० २।३३।१ इत्यादि ७ मंत्र

१. प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि। स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रयस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥ अ० ६।११०।१ से सूक्त १२१ तक

२. अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते। विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ अ० ४।२३।१ से सूक्त २९ तक

३. भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ अ० २।१८।१ से सूक्त २३ तक

४. बृहन्नेषामधिष्ठातान्तिकादिव पश्यति। य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥ अ० ४।१६।१ से सूक्त २० तक

५. प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातां जातवेदो नुदस्व। इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥ अ० ७।३५।१ से सूक्त ३८ तक

६. सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा। जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ अ० ७।४६।१ से सूक्त ४९ तक

७. यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वन्तं मन्युमन्तं जगाम। विश्वैस्तद्देवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः ॥ अ० १९।४०।१ से सूक्त ४३ तक

८. आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः। दिवः सदांसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः ॥ अ० १९।४७।१ से सूक्त ५० तक

शेष के लिए देखिए अथर्ववेद

७९–८१ (चन्द्र); १२. ३–५ (ब्राह्मणों के हित में); १९. ९–११ (शान्त और शम्) १९. १४–१६ (भय से मुक्ति); १९. १७–१९ (रक्षा के लिये गद्यखण्ड और १९.२८–३० दर्भयन्त्र)। इसके अतिरिक्त लगभग ६० या इससे अधिक सूक्तों के जोड़े हैं, जो अल्पाधिक रूप में संबद्ध विषयों के हैं। सामान्यतः उनका संवन्ध इतना स्पष्ट है कि उनके लिये विशेष विवरण की आवश्यकता नहीं है। कभी-कभी अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण की भी आवश्यकता पड़ती है; जैसे २. १, २ (वेन और गंधर्व); ४. १. २ (ब्रह्म और क)); ७. १, २ (मनस् और वाक्); ७. ८, ९ (यात्रा और मार्ग) ६. ४७ ४८ (सवनत्रय) ७. २७. २८ और ९८. ९९ (याज्ञिक जोड़े); ७. ७६ (अन्त); ७७ (इन्द्र और मरुत्) ११. ७. ८ (दोनों आध्यात्मिक हैं इन पादों में भी ये संमिलित हैं; ७. २५ ab = ८. ४ ab, २६ ab और ७. २६ ab = ८. २४ ab)। कुछ वर्गों का पूर्वैतिहासिक संवन्ध संहिता के भावी इतिहास के लिये विशेष महत्त्व का है; वे बहुत वार एक साथ ही दिखाई पड़ते हैं केवल इसलिये नहीं कि वे एक ही विषय का वर्णन करते हैं अपितु इसलिये भी कि मन्त्रों की रचना के प्रारम्भिक काल में किसी वर्ग ने उसी विषय और अवसर पर उसी एक सूक्त की अथवा दो या इससे अधिक सूक्तों की रचना कर दी थी। इस प्रकार मृगार वर्ग (४. २३–२९[1]) निश्चित रूप से याजुष विषयों की ही परंपरा पर बना है; प्रथम और अन्तिम मन्त्र स्पष्टरूपेण किसी याजुष संग्रह से लिये गए हैं, मध्य के ५ मन्त्र आथर्वणिक रचना है। २. १९–२३[2] वर्गों में से पहले का मौलिक रूप से याजुष विषय के साथ संवन्ध है (मै० सं० १. ५. २[3], आप० श्रौ० सू० ६. २१. १[4]) इन अंशों में संपूर्ण प्रार्थना आथर्वणिक प्रभाव से उद्भूत है। चार सूक्तों ७. ४६–४९; तीन सूक्तों १. ४–६, ६. २७–२९; ७. ३९–४१ और ७. ७९–८१; तथा दो सूक्तों १. २०, २१; २४, २५ २. ३२, ३३; ४. ३१, ३२; ६. ८७, ८८, १२५, १२६, ९. ९, १०; १९. ७, ८; २२. २३ और ६०, ६१ में इसी प्रकार का ऐतिहासिक और स्वरूप-विषयक संवन्ध है। अधिक सूक्ष्म परीक्षण करने पर इस प्रकार के अन्य वर्ग भी निकल आयेंगे। साथ ही यह भी संभव है कि इस प्रकार के कुछ और संवन्धों के विवरण नष्ट हो गये हों (जैसे कि संभवतः १. ७, ८, ६. १०३, १०४, १०. ७, ८; ११. ९, १० के विषय में कहा जा सकता है)। कहीं कहीं इससे भी अधिक अस्पष्ट एवं अपुष्ट आधार पर भी सूक्तों का वर्गीकरण हुआ है। ब्लूमफील्ड ने इस प्रकार के विवरण की ओर प्रथम काण्ड के विषय में ध्यान आकृष्ट किया था, और बाद में हेनरी ने ७ वें काण्ड

---

१. अ. ४. २३. १ पृ० ६३ पर दे०

२. अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ अ० २।१९।१ से सू० २३ तक

३……अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो अस्मान् द्वेष्टि…मै० सं० १।५।२

४……अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो…आप० श्रौ० सू० ६।२।१।१

के विषय में यही विवेचना की थी। ये तथ्य सारी संहिता में यत्र-तत्र पाये जाते हैं। उदाहरण के लिये; प्रारम्भिक सूक्त १. १[1] और काण्ड १९[2] का अन्तिम सूक्त अपने-अपने विषय के कारण ही अपने-अपने स्थान पर रखे गये हैं। इसी प्रकार काण्ड २, ४, ५ और ७ के प्रारम्भिक सूक्तों का उस उस जगह पर रखने का अपना विशिष्ट उद्देश्य है; ये सब के सब उच्चकोटि की शैली में आध्यात्मिक सूक्त या ब्रह्मोद्यसूक्त से प्रारम्भ होते हैं। ९. ५-७ का एक साथ वर्गीकरण उनमें प्राप्त ब्राह्मण गद्य समूह के आधार पर ही किया गया लगता है। सूक्त १. २. ३ और ७. ६, ७ (अदिति और दिति) प्रत्येक जोड़े में परस्पर विपरीत विषयों का वर्णन करते हैं। शाब्दिक समानताएँ, जो कभी-कभी इतनी अस्पष्ट हैं कि आगे दिये गये विवरणों पर संदेह डाल देती हैं, इन सूक्तों के सांनिध्य का मुख्य कारण प्रतीत होती हैं। इस प्रकार १. ९, १०[3] विषयों की दृष्टि से संबद्ध नहीं हैं, अपितु दोनों के प्रारम्भिक अर्धर्च में वरुण शब्द आता है। सूक्त ११-१३[4] में सूक्ष्म समता है। सूक्त ११ प्रसूतिशय्या पर सुप्रसव के लिये है, जो 'अव जरायु पद्यताम्' टेक के साथ समाप्त होता है। सूक्त १२ 'जरायुजः' शब्द से प्रारम्भ होता है और इसका विषय 'अभ्रजन्य विद्युत्' है। इसके बाद का सूक्त १३[5] भी विद्युत् के विषय में ही है (१२. १ और १३. १ धातु 'स्तन्' है)। ६. १३४[6] और १३५ को 'वज्र' शब्द

---

१. ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ अ० १।१।१ इत्यादि ४ मंत्र

२. यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम् ।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह ॥ अ० १९।७२।१

३. अस्मिन्वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः ।
इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ॥ अ० १।९।१
इत्यादि ४ मंत्र

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ अ० १।१।१०
इत्यादि ४ मंत्र

४. वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः ।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥ अ० १।११।१ इत्यादि ६ मंत्र
जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या ।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन्य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥ अ० १।१२।१
इत्यादि ४ मंत्र

५. नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥ अ० १।१३।१ इत्यादि ४ मंत्र

६. अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम् ।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः ॥ अ० ६।१३४।१ इत्यादि ३ मंत्र

जोड़ता है। ७. १० और ७. ११[1] को 'स्तन्' और 'स्तनयित्नु' शब्द; ७. ६४ और ६५[2] को 'अव मृज' एवं 'अप मृज्'; ७. ७४ और ७५[3] को 'प्रजावन्तः' और 'प्रजावतीः'; ७. ९५ और ९६[4] को 'वृकौ' और 'वृक्कौ' प्रजापति अर्थवाला 'क' शब्द, ७. १०० और १०१ को; ८. २. २८ और ३. १ को 'रक्षोहन्'; ११. ३. ५४ और ११. ४ को 'प्राण' शब्द; १९. १, २ को 'तम्' और 'शम्' (जो एक ही मन्त्र के समानान्तर पाठों में हैं); तथा १९. ९–११ को 'शान्त' और 'शम्' शब्द जोड़ते हैं। वर्ग ७. ८८–९०[5] शाब्दिक समानता से संवद्ध प्रतीत होते हैं। ८८ और ८९. १ में

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे।
स्कन्धानमुष्य शातयन्वृत्रस्येव शचीपतिः॥ अ० ६।१३५।१ इत्यादि ३ मंत्र

१. यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति त मिह धातवे कः॥ अ० ७।१०।१
यस्ते पृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वो दैवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम्।
मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य॥ अ० ७।११।१

२. इदं यत्कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु॥ अ० ७।६४।२
यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद्वा चेरिम पापया॥
त्वया तद्विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे॥ अ० ७।६५।२

३. व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे॥ अ० ७।७४।४
प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः॥ अ० ७।७५।१ ab
इत्यादि २ मंत्र

४. कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव॥ अ० ७।९५।२ cd
आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम्॥ अ० ७।९६।१ cd
स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवाति प्राणं रुणद्धि॥ अ० ११।३।५४
प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे॥ अ० ११।४।१ इत्यादि २६ मंत्र
सं सं स्रवन्तु नद्यः सं वाताः सं पतत्रिणः। अ० १९।१।१ ab
शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः॥ अ० १९।२।१ ab इत्यादि
को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या। अ० ७।१३ a इत्यादि
कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे। अ० ७।१०४ a इत्यादि
अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णू रक्षोहासि सपत्नहा। अ० ८।२।२८
रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि। अ० ८।३।११ a इत्यादि

५. अपेह्यरिरस्यरिर्वा असि॥ अ० ७।८८।१ a
अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि॥ अ० ७।८९।१ ab इत्यादि ४ मंत्र
अपि वृश्च पुराणवद्व्रततेरिव गुष्पितम्। ओजो दासस्य दम्भय॥ अ० ७।९०।१

'पृच्' धातु है और ८९. ३[1] का 'शेपे' कदाचित् ९०. ३[2] के 'शेपो' के समान भासता है। वर्ग ७. ११३–११५[3] में भी ऐसा साम्य सहायक हो सकता है: ७. ११३ और ११४. १ स्पष्ट रूप से एक ही विषय को प्रतिपादित करते हैं; जबकि ११४.२ उनके विषय से अपरिचित है; और इसने अपने स्थान को इसलिये प्राप्त किया है कि इसके शब्द 'प्रेतो यन्तु' 'प्रपेतः' से प्रारम्भ होने वाले ७. ११५. १ से साम्य रखते हैं (तुलना करो नीचे प्र० ४० से)।

(ख) आथर्वण छन्द और उनका ग्रन्थ के आलोचनात्मक संग्रह से संबन्ध

३८. *छन्द; आथर्वणिक (प्रचलित) अनुष्टुभ् की ओर विशेष निर्देश के साथ*—अथर्ववेद के मौलिक भाग के छन्द प्रायः समान्य वैदिक छन्द हैं: छोटे छन्दों में गायत्री, अनुष्टुभ्, पंक्ति और बड़े छन्दों में त्रिष्टुभ् और जगती। शौनकीय शाखा का एक बृहद् भाग, विशेषतः संपूर्ण काण्ड १५ और १६ का अधिकांश गद्य में हैं। गद्य और पद्य इस प्रकार मिश्रित कर दिये गये हैं कि यह निश्चय करना कठिन हो गया है कि ये लयपूर्ण गद्य हैं अथवा अमर्यादित पद्य। अच्छे-अच्छे मौलिक छन्दों को भी क्षेपकों और जोड़ों से विकृत कर दिया गया है। बृहत्सर्वानुक्रमणी इन दोषपूर्ण छन्दों पर भी सिर खपाती है और छन्दस्य शब्दावली को नये भेदों से भर देती है। निचृत् भुरिज्,—गर्भा (यथा, विराड्गर्भा भुरिक्) आर्षी इत्यादि शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद में एक ही सूक्त में जितनी बार छन्दों का परिवर्तन हुआ है उससे अधिक बार अथर्व में छन्द बदले गये हैं। प्रतीत यह होता है कि छन्दों का यह परिवर्तन अच्छी शैली का लक्षण समझा जाता था। उदाहरण के लिये प्रायः अनेक सूक्त सुन्दर अनुष्टुभ् (छोटे छन्द) से प्रारम्भ होते हैं और लम्बे त्रिष्टुभ् छन्दों में आगे बढ़ते हैं। देखिये १. १३[4]; १.

---

१. यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्। अ० ७. ८९. ३ cd

२. यथा शेपो अपायातै स्त्रीषु चासदनावयाः। अ० ७।९०।३ a

३. तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके।
यथा कृतद्विष्टासोऽमुष्मै शेप्यावते॥ अ० ७।११३।१ इत्यादि २ मंत्र
आ ते ददे वक्षणाभ्य आ तेऽहं हृदयाद्ददे।
आ ते मुखस्य संकाशात्सर्वं ते वर्च आ ददे॥
प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः॥ अ० ७।११४।१–२
प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत।
अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि॥ अ० ७।११५।१ इत्यादि ४ मंत्र

४. १।१३।१ (दे० पृ० ६३) इत्यादि ४ मंत्र
निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं निररातिं सुवामसि।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि॥ अ० १।१८।१ इत्यादि ४ मंत्र

१८; २. २९; ४. १६; ६. ३. १ ab; ६. ४९; ७. ६८; ७. ७२ (तुल० ऋग्वेद ७. १०३[1])। कभी-कभी अनुष्टुभ् सूक्त इससे भी अधिक सुन्दर गायत्री मन्त्र से प्रारम्भ होता है : २. ३२; ४. १२[2]। इसके विपरीत जहाँ छोटे छन्द वाला सूक्त त्रिष्टुभ् से प्रारम्भ होता है वहाँ प्रतीत होता है कि ध्येय गाम्भीर्य को कम करना रहा हो : २. ४; ३. ५; ५. ७; ६. ११५[3]। वैदिक विवाह मन्त्रों के बहुतम का अनुष्टुभ् में और अन्त्येष्टि का त्रिष्टुभ् में होना निरे संयोग की बात नहीं है। अथर्ववेद के छन्द गृह्यसूत्रों के स्तर पर हैं। अधिक स्वच्छन्दता एवं अनियमितता के अतिरिक्त ओल्डेनबर्ग द्वारा दिये गये अनुष्टुभ् के लक्षणों की दृष्टि से इनका परीक्षण करने पर भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। मौलिक अथर्ववेदीय अनुष्टुभ् मन्त्र, अर्थात् वे जिनका पौरोहित्य-संबन्धी ऋग्वेदीय मन्त्रों से साम्य नहीं है, एक ओर तो ऋग्वेदीय अनुष्टुभों से पृथक् हैं, और दूसरी ओर महाकाव्यों और बौद्धों के श्लोकों से भिन्न हैं। जहाँ ऋग्वेद में अनुष्टुभ् के प्रथम पाद के अन्त में नियमित रूप से दो बार गुरु, लघु या अन्त के

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।
आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः ॥ अ० २।२९।१ इत्यादि ७ मंत्र
४. १६. १ (दे० पृ० ६३ इत्यादि ९ मंत्र
पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः ॥ अ० ६।३।१ ab
नहि ते अग्ने तन्वः क्रूरमानंश मर्त्यः ।
कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव ॥ अ० ६।४९।१ इत्यादि ३ मंत्र
सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ अ० ७।६८। इत्यादि ३ मंत्र
उत्तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥ अ० ७।७२।१ इत्यादि ३ मंत्र

१. संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ ऋ० ७।१०३।१ इत्यादि १० मंत्र २।
३२।१ (दे० पृ० ६३) इत्यादि ६ मंत्र

२. रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी ।
रोहयेदमरुन्धति ॥ ४।१२।१ अ०

३. दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ अ० २।४।१ इत्यादि ६ मंत्र
आयमगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसामा जिन्वत्वप्रयावम् ॥ अ० ३।५।१ इत्यादि ८ मंत्र
आ मे भर मा परि ष्ठा अराते मा नो रक्षीर्दक्षिणां नीयमानाम् ।
नमो वीर्त्साया असमृद्धये नमो अस्त्वरातये ॥ अ० ५।७।१ इत्यादि १० मंत्र
इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति ।
अतोऽधि ते कृणवद्भागधेयं यदानुन्मदितोऽसति ॥ अ० ६।१११।१ इत्यादि ४ मंत्र

लघु अथवा गुरु (⏑–⏑⏓) और महाकाव्य एवं बौद्ध साहित्य के श्लोकों में प्रथम गुरु और तीन लघु या अन्तिम भी गुरु (⏑–– ⏓) आते हैं, वहाँ अथर्वन् और गृह्यसूत्रों के अर्धर्च के प्रथम पाद में इनके अतिरिक्त अन्य भी चार अक्षरों के बहुत से पाद प्रयुक्त हुए हैं। इस दृष्टि से निम्न सूक्तों की परीक्षा की गयी थी : १. १; १. २; १. ७; १. ८; ५. १९[1]; १२. ४. १–२०[2] एवं अन्य कई सूक्तों के मन्त्र। आथर्वणिक एवं गृह्यसूत्रीय अनुष्टुभ् को ऋग्वेदीय सोमसूक्त के पौरोहित्य-संबन्धी अनुष्टुभ् की अपेक्षा अधिक प्रचलित कहा जा सकता है। ऋग्वेद का १०. ८५[3] जैसा सूक्त प्रचलित अनुष्टुभ् में है। नवीन अवेस्ता के आठ अक्षरों वाले पद्य की स्वतन्त्रता का विचार करने पर हमें यह मानने का कारण मिल जाता है कि प्रचलित और अधिक स्वतन्त्र अनुष्टुभ्, रचना और काल की दृष्टि से सुनियंत्रित पौरोहित्य-संबन्धी (सोमीय) अनुष्टुभ से अधिक प्राचीन है और यह धारणा इन दोनों प्रकार के साहित्यों के विषय में समानान्तर व्याकरणीय और कोशग्रन्थों के मापदण्डों के प्रतिकूल नहीं पड़ती है (देखिये प्र० ४२)। यह सिद्धान्त कि प्रचलित पाद का विकास ⏑–⏑⏓ से प्रारम्भ हो कर ⏓–⏓–⏓–⏓ होते हुए ⏑–– ⏓ तक पहुँचा, ठीक नहीं है। आर्य छन्दो-विकास की सामान्य प्रवृत्ति को ध्यान में रखने पर सुव्यवस्थित स्वरूप ⏑–⏑⏓ से स्वच्छन्द स्वरूप ⏓ ⏓ ⏓ ⏓ में परिवर्तन होना बोधगम्य नहीं है। इसके विपरीत हम यह मान सकते हैं कि आर्यों के आठ अक्षरों के पाद १६ अक्षरों के अर्धर्चों में रखे जाते थे और प्रत्येक ८ अक्षरों के अन्त में एक ह्रस्व और दीर्घ वर्ण होता था। यह बात आर्षकाव्यों एवं बौद्ध साहित्य के श्लोक के विकास तक चलती रही। साथ ही साथ पुरोहित कवियों ने इनका सुन्दर प्रयोग करके ऋग्वेदीय अनुष्टुभ् के मध्य में विराम के पहले आठ अक्षरों के अन्तिम स्वर को दुहराकर पर्याप्त सुधार किया। ३९

१. १।१।१ (दे० पृ० ६५) इत्यादि ४ मन्त्र
विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥ अ० १।२।१ इत्यादि ४ मन्त्र
स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥ अ० १।७।१ इत्यादि ७ मन्त्र
इदं हविर्यातुधानान्नदी फेनमिवा वहत् ।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ अ० १।८।१ इत्यादि ४ मन्त्र
अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन् ।
भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥ अ० ५।१९।१ इत्यादि १५ मन्त्र

२. ददामीत्येव ब्रूयादनु चैनामभुत्सत ।
वशां ब्रह्मभ्यो याचद्भ्यस्तत्प्रजावदपत्यवत् ॥ अ० १२।४।१ से मंत्र २० तक

३. सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥ ऋ० १८।८५।१ इत्यादि ४७ मन्त्र

आथर्वण छन्दों के आलोचनात्मक संघटन के विषय में विचार करते हुए इन छन्दों में इतना अधिक सुधार किया जा सकता है कि यह आशंका हो जाती है कि कहीं उनमें सुधार करते-करते हम अथर्ववेद के छन्दों को भुलाकर अपने ही छन्दों को न गाने लग जाँय। यह विचार मन में रह-रहकर आता है कि हम आथर्वण लेखकों की पंक्तियों से कहीं अच्छी पंक्तियाँ घड़ सकते हैं जो कि पता नहीं किस तरह उनके संग्रह में चल पड़ी थीं। सुधार की प्रक्रिया यदि पूरी तरह काम में लाई जाय तो डर है कि कहीं इससे अथर्ववेद की वह विशेषता ही न नष्ट हो जाय जो कि इस वेद की अपनी अनोखी निधि है। फिर भी सुधार के इस विचार से पूर्णतया अछूता रहना भी वाञ्छनीय नहीं है, क्योंकि ऐसी हालत में एक दूसरी भ्रामक विचारधारा कि सभी आथर्वणिक सूक्त मूलतः जिस रूप में निर्मित हुए थे उसी रूप में आज पाये जाते हैं, उठ खड़ी होनी संभव है। ग्रन्थ के सुधार में एक बड़े कौशल और सीमा-निर्धारण की आवश्यकता है। किसी भी हालत में जो भी व्यक्ति इस काम को उठायेगा वह पूर्णतया त्रुटियों में पड़े विना न रह सकेगा। प्रथम सूक्त (१. १. ४[1] b) को ही लीजिये, जिसमें नितरां छन्दोहीन 'ह्वयताम्' को हटा देना आवश्यक प्रतीत होता है; इतना करने पर भी जो शेष रह जाता है वह भी खरा नहीं उतरता। किंतु इससे भी अधिक अखरने वाले उदाहरण हैं: २. ३. ६[2] d जहां 'रक्षसाम्' हो न हो एक अनावश्यक जोड़ है, और इसी प्रकार २. ३१. ४[3] c में 'क्रिमीन्'। २. ३३. ५[4] cd में 'भासदम्' अनावश्यक है और ऋग्वेद १०. १६३. ४[5] के पाठ से लिया गया है। क्षेपकों और अनावश्यक जोड़-तोड़ के लिये निम्न उदाहरण दिये जा सकते हैं: ३. १५. ५[6] d में 'देवान्'; ५. १९. ७[7] d में 'ब्रह्मज्यस्य'; ५. २२. ५[8] c में 'तक्मंस्'; ६. ४०. १[9] d में हविषा; ६. ४०.[10] २ d में स्वस्ति; ६. ९८. ३ b में 'दिशो'[11] (तु० तै० सं० २. ४. १४. १; मै० सं० ४. १२. २);

---

१. उप॑हूतो वा॒चस्पति॑रु॒पा॒स्मान्वा॒चस्पति॑र्ह्वयताम् । अ० १।१।४ ab
२. आ॒राद्वि॑सृ॒ष्टा इष॑वः पतन्तु र॒क्षसा॑म् । अ० २।३।६ d
३. अ॒व॒स्क॒वं व्य॑ध्व॒रं क्रि॒मीन्वच॑सा जम्भयामसि ॥ अ० २।३१।४ cd
४. यक्ष्मं॑ भस॒द्यं॒ १ श्रोणि॑भ्य॒ां भास॑दं॒ भंस॑सो॒ वि वृ॑हामि ते । अ० २।२३।५ cd
५. यक्ष्म॒ं श्रोणि॑भ्य॒ां भास॑दा॒द्भंस॑सो॒ वि वृ॑हामि ते ॥ ऋ० १०।१६३।४ cd
६. तन्मे॒ भूयो॑ भवतु॒ मा कनी॒योऽग्ने॑ साते॒घ्नो दे॒वान्ह॒विषा॒ नि षे॑ध ॥ अ० ३।१५।५ cd
७. सा रा॒ष्ट्रमव॑ धूनुते ब्रह्म॒ज्यस्य॑ ॥ अ० ५।१९।७ d
८. याव॑ज्जा॒तस्त॑क्मं॒स्तावा॑नसि॒ बाल्हि॑केषु न्योच॒रः । अ० ५।२२।५ cd
९. अभ॑यं नोऽस्त्व॒न्तरि॑क्षं सप्तऋ॒षीणां॑ च ह॒विषाभ॑यं नो अस्तु ॥ अ० ६।४०।१cd
१०. अ॒स्मै ग्रामा॑य प्र॒दिश॒श्चत॑स्र॒ ऊर्ज॑ सुभू॒तं स्व॒स्ति स॑वि॒ता नः॑ कृणोतु ॥ अ० ६।४०।२ ab
११. प्राच्या॑ दि॒शस्त्वमि॑न्द्रासि॒ राजो॒तोदी॑च्या दि॒शो वृ॑त्रहं शत्रु॒होऽसि । अ० ६।९८।३

६. १४०. ३ c में 'दन्तौ'[१]; ७. २१. १ d में 'पुरु'[२]; ७. ७०. २ c में देवा[3] (दे० तै० ब्रा० २. ४. २. २) ८. ८. २ cd में 'अमित्रा'[४]; ६. ८. २१ c में अर्पणीः[५]; ९. १०. १४ c में विश्वस्य[६] (दे० ऋ० १. १६४. ३५ b; वाज० सं० २३. ६२ b, लाट्यायन श्रौ० सू० ९. १०. १४ b); १०. १. २३ c में 'दुष्कृते'[७]; १०. ४. ३ d, ४ d में 'वारुग्रम्'[८] (दे० ७.५६. ३d, ७d); १०. ९. २६c में 'मातरिश्वा'[९]; ११. ५. ८ में 'उभे'[१०] अथवा 'इमे'[११]; ११.५. १२ cd में 'पृथिव्याम्'[१२]; १९. १. ३c में चतस्रः[१३]। इन उदाहरणों की अपेक्षा कुछ कम अखरने वाले हैं: ३. ४. १b में पतिः[१४]; ३. १२. ६ में 'गृहाणाम्'[१५]; ४.३७. २c में 'गंधर्वान्'[१६]; ५. ८. ८c में अमूँ[१७]; ६. ६८. १ cd में 'सचेतसः'[१८]; ६. ८३. ४ c में 'मनसा'[१९]; ६. १३४. २a में 'अधरो'[२०]; ९. १. ६ b में 'कलशः'[२१]; ११. ५. ९ b में 'भिक्षाम्'[२२]। ऐसे भी उदाहरण हैं, जहाँ दूसरे ढंग के सुधार इस विचार को दृढ़ करते हैं कि आलोचना द्वारा छन्दों में सुधार किया जा सकता है। इस

---

१. उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ । अ० ६।१४०।३.
२. स पूर्व्यो नूतनमाविवासत्तं वर्तनिरनु वावृत एकमित्पुरु । अ० ७।२१।१
३. इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथनन्तु मा तत्सं पादि यदसौ जुहोति । अ० ७।७०।२
४. धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् । अ० ८।८।२
५. अनूकादर्पणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम् । अ० ९।८।२१
६. अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम । अ० ९।१०।१४
७. भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ।
८. उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् । अ० १०।४।३।४
९. यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु । अ० १०।९।२६
१०. आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च । अ० ११।५।८
११. ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः । अ० ११।५।१२
१२. यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु संस्राव्येण हविषा जुहोमि । अ० १९।१।३
१३. आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज । अ० ३।४।१
१४. मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः । अ० ३।१२।६
१५. त्वया वयमप्सरसो गंधर्वांश्चातयामहे । अ० ४।३७।२
१६. कृण्वे ३ हमधरांस्तथामूं छश्वतीभ्यः समाभ्यः । अ० ५।८।८
१७. आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः । अ० ६।६८।१
१८. वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि । अ० ६।८३।४
१९. अधरोऽधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत् । अ० ६।१३४।२
२०. कस्तं प्रवेद क उ तं चिकेत यो अस्या हृदः कलशः सोमधानो अक्षितः । अ० ९।१।६
२१. इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च । अ० ११।५।९
२२. तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम् । अ० ९।२।४

प्रकार त्रुटिपूर्ण पाद ९. २. ४[1] d के बाद, उसी सूक्त के मन्त्र ९[2] d में फिर एक पाद आया है जो चतुर्थ मन्त्र में सुधार प्रतीत होता है। ९.५.१ a b में सुधार करके उसे 'आ नय[3] एतमन्वा रभस्व सुकृतां लोकं गच्छतु प्रजानन्' इस प्रकार पढ़ने का लोभ भी प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार ११. २. २ के प्रथम अर्धर्च के[4] अन्त में स्थित 'अविष्यवः' (ऐसा ही अथर्ववेद पैप्पलाद में है) को दूसरे अर्धर्च के अन्त में रख कर सुधार किया जा सकता है। दूसरी ओर ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जहाँ निम्नकोटि के छन्द भी अथर्ववेदियों द्वारा निर्मित छन्द के समान दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार ९. ४. २२[5] c d में दो दोषपूर्ण पाद हैं; पहला छोटा है और दूसरा अशुद्ध रीति से समाप्त होता है; 'आयुरस्मभ्यं दधत् प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम्' इस अर्धर्च में सुधार के सभी प्रयत्न बेकार हैं, क्योंकि यहाँ १८. ४. ६२ के सुन्दर अर्धर्च 'आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्' के बहुवचन का केवल एकवचन में परिवर्तनमात्र कर दिया गया है। फिर छोटे चरण २. ४. ६ b के 'अथो अरातिदूषिः' में सुधार संभव है, विशेषतः १९. ३४. ४ b के 'अथो अरातिदूषणः' के आधार पर, जो छन्द की दृष्टि से कहीं अधिक अच्छा है। किंतु आखिरी सूक्त का तो संपूर्ण स्वरूप ही निम्न-कोटि का है और इसके पाद का स्वरूप भी बाद में उभरी शाब्दिक सरलता से युक्त है। न्यूनैकाक्षर पाद[6] २. ४. ६ b को विना सुधार के ही छोड़ देना उचित है, क्योंकि ऐसी पंक्तियों के तो अन्य उदाहरण भी मिल जाते हैं। फिर भी अथर्ववेद में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनमें छन्दः-संबन्धी सुधार एक नयी सुघड़ रचना को जन्म दे सकता है। इस प्रकार के उदाहरण हैं—३. २८. १[7]; ४. ११. ४ b, ६ d[8]; ४. १७. ३ c d[9]; ५. ७. १ c d[10]; ६. १३४, ३[11]; ७. ७६. ५a[12]।

---

१. तेषां पुत्राना॑मध॒मा तमां॑ स्यग्रे॒ वास्तू॒न्यनु॒निर्दह॒ त्वम् । अ० ९।२।९

२. आ न॑यैतमा र॑भस्व सु॒कृतां॑ लो॒कमपि॑ गच्छतु प्र॒जान॒न् । अ० ९।५।१

३. शुने॑ क्रो॒ष्ट्रे मा शरी॑राणि॒ कर्त॑मलि॒क्लवे॑भ्यो गृध्रे॑भ्यो॒ ये च॑ कृ॒ष्णा अ॑वि॒ष्यव॑ः । अ० ११।२।२

४. कृ॒त्यादू॑षि॒रयं॑ म॒णिरथो॑ अराति॒दूषि॑ः । अ० २।४।६

५. आयु॑र॒स्मभ्यं॑ दध॑त्प्र॒जां च॑ रा॒यश्च॒ पोषै॑र॒भिः न॑ सचताम् । अ० ९।४।२२ cd

६. अ॒न॒ड्वान् दु॑हे सु॒कृ॒तस्य॑ लो॒क ऐनं॑ प्याययति॒ पव॑मानः पु॒रस्ता॑त् । अ० ४।११।४

७. एकै॑कयै॒षा सृष्ट्या सं ब॑भूव॒ यत्र॒ गा अस॑जन्त भूत॒कृतो॑ वि॒श्वरू॑पाः ।
यत्र॑ वि॒जाय॑ते य॒मिन्य॑प॒र्तुः सा प॒शून्क्षि॑णाति रिफ॒ती रुश॑ती ॥ अ० ३।२८।१

८. तेन॑ गेष्म सु॒कृ॒तस्य॑ लो॒कं घ॒र्मस्य॑ व्र॒तेन॒ तप॑सा यश॒स्यव॑ः । अ० ४।११।६

९. या रस॑स्य॒ हर॑णाय॒ जा॒तमा॑रे॒भे तो॒कम॑त्तु सा । अ० ४।१७।३

१०. नमो॑ वी॒र्त्स्या॑या अस॑मृद्धये॒ नमो॑ अ॒स्त्वरा॑तये । अ० ५।७।१

११. यो जि॒नाति॒ तमन्वि॑च्छ॒ यो जि॒नाति॒ तमिज्ज॑हि ।
जि॒न॒तो वज्र॒ त्वं सीम॑न्त॒मन्व॒ञ्चमनु॑ पातय ॥ अ० ६।१३४।३

१२. वि॒द्म वै ते॑ जाया॒न्यु॒ जान॒ं यतो॑ जाया॒न्यु॒ जाय॑से । अ० ७।७६।५

४०. *मन्त्रों का क्रम तथा संयोजन*—अथर्ववेद के मन्त्रों का छन्दों के अनुसार संकलन अल्प मात्रा में है अथवा है ही नहीं। मन्त्रों की संख्या के अनुसार भी विभिन्न काण्डों में मन्त्रविन्यास अनियमित रूप से हुआ है। अतः किसी सूक्त के मन्त्रों के संकलन का आलोचनात्मक विवेचन करने, अथवा प्रारम्भिक और बाद में जोड़े गये मन्त्रों में अन्तर दिखाने के लिये हमारे पास बहुत ही कम आधार है। तथापि वर्तमान संग्रह में इन दृष्टियों से सुधार की गुंजाइश है, यद्यपि यहाँ आलोचना के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा वैयक्तिक प्रभाव भी ऐतिहासिक तथ्यों के साथ घुलमिल गया है। सबसे पहले तो बहुत से सूक्त मिश्रित हैं, जैसा कि उनके प्रसङ्ग और याज्ञिक ग्रन्थों में उनके प्रयोग से स्पष्ट है, यथा ४. ३८;[1] ७. ७४; ७. ७६। किसी प्रत्यक्ष कारण के न होते हुए भी इतना निश्चित है कि ६. ४८. २[2] और ३ का अपना स्थान बदल गया है; क्योंकि वैतानसूत्र १७. १०[3] तथा अन्य समान स्थलों पर वे सही क्रम में मिल जाते हैं। लम्बे सूक्त १२. ४ में मन्त्रों के क्रम में भ्रम उत्पन्न होता है, चौथा मूलतः पाँचवें के बाद प्रतीत होता है, क्योंकि चौथे मन्त्र का द्वितीय अर्धर्च दो मन्त्रों के शेष तीन अर्धर्चों के भाव को संक्षेप में प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार ४३–४७ के क्रम में भी शङ्का उठती है; तुलना कीजिये ब्लूमफील्ड द्वारा पुनः संकलन के प्रस्ताव की। जब हम सूर्यासूक्त (१४. १. १[4] = ऋ० १०. ८५. १[5]) के विवाह-मन्त्रों के बीच १४. १. १७[6] को देखते हैं, जो स्पष्टतः ऋ० ७. ५९. १२[7] ही हैं और 'त्र्यम्बक' की जगह 'अर्यमन्' को पाते हैं—जिसे कि विवाह-संस्कार के लिये अपनाया गया है—तो हम निश्चय के साथ इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि मूलतः यह मन्त्र प्रस्तुत विवाह-मन्त्रों के समूह में नहीं था। दूसरी ओर इसके द्वितीय अर्धर्च का १८[8] ab से संबन्ध इस बात को बताता है कि अथर्ववेद में यह जिस स्थान पर आया है, उसी स्थान के लिये इसे रचा गया था। इसी प्रकार के विचार

---

१. उद्भिन्दतीं संजयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे ॥ अ० ४।३८।१ इत्यादि

२. ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वा रभे। स्वस्ति मा सं वहास्य ॥
यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ अ० ६।४८।२ इत्यादि

३. स्तुते बहिष्पवमाने वाचयति श्येनोऽसीति······वै० सू० १७।१०

४. सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः। आदि अ० १४।१।१ = ऋ० १०।८५।१

६. अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात्प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥ अ० १४।१।१७

७. उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। ऋ० ७।५९।१२ cb

८. प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ॥ अ० १४।१।१८ ab

से स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्र[1] १४. १. ४४, मन्त्र १४. १. ४३ के साथ संवद्ध रूप में यद्यपि बाद की रचना है;—यह अन्यत्र नहीं मिलता—तथापि अथर्ववेद में यह अधिकार के साथ अपने स्थान पर बैठ गया है। संयोजन की प्रक्रिया अथर्ववेद में आम है, और एक निश्चित सीमा तक यह इस संहिता में मन्त्रों के क्रम को भी निश्चित करती है। इस प्रकार ६. ४२ और ६. ११८[2] के सभी (तीन) मन्त्र संवद्ध हैं। इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि आथर्वण संग्रहकर्ताओं ने उन्हें इसी क्रम में रखा था, चाहे उनका पूर्व इतिहास कैसा भी क्यों न रहा हो, और चाहे वे आथर्वणिकों की मौलिक रचना रहे हों अथवा किसी अन्य वैदिक क्षेत्र की उपज रहे हों। इसी प्रकार ६, ११८ के प्रथम दो मन्त्र मैत्रायणी-संहिता ४. १४. १७[3]; तै० आ० २. ४. १[4] (तुल० तै० ब्रा० ३. ७. १२[5]) में दिखाई पड़ते हैं, तीसरा आथर्वणिकों का मौलिक प्रतीत होता है, फिर भी यह आथर्वण संग्रह के लिये अजनबी नहीं है। संयोजन की यह आलंकारिक कला कभी-कभी संवद्ध मन्त्रों के वहिष्कार की ओर संकेत करती है। यथा ५. १४. ११[6] का क्रमहीन मन्त्र, जिसमें 'मृगीव' शब्द है, मन्त्र १२ के 'मृगम् इव' के कारण छूट गया होगा, अथवा क्रमहीन ५. ४. ६[7] जिसमें 'आवह' है, मन्त्र ५ के 'निरावहन' के कारण अपने स्थान पर रख दिया गया है। दो संयुक्त मन्त्रों के तारतम्य में व्यतिक्रम डालने वाला मन्त्र भी संदेहजनक है, यथा ३. ३०. ६ मन्त्र ५ और ७ में व्यतिक्रम डालता है, अथवा २. ३. ४ मन्त्र ३ और ५ में व्यतिक्रम डालता है। तुलना कीजिये ७. ११४. २[8] के हमारे टिप्पण से ऊपर प्र० ३७ के

---

१. सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु। ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्वाः। १४।१।४४
यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥ १४।१।४३

२. यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः ॥ अ० ६।११८।१
उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्।
ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत् ॥ अ० ६।११८।२

३. यद्धस्ताभ्यां चकर किल्बिषान्यक्षाणाँ वग्नुमेवजिघ्नमापः।
उग्रं पश्याच्च राष्ट्रभृच्च तान्यप्सरसामनुदत्तामृणानि ॥······मै० सं० ४।१४।१७

४. यद्धस्ताभ्यां चकार किल्बिषाण्यक्षाणां वग्नुमुपजिघ्नमानः।
उग्रंपश्या च राष्ट्रभृच्च तान्यप्सरसावनुदत्तामृणानि इति ॥ तै० आ० २।४।१

५. यद्वाचा यन्मनसा। बाहुभ्यामूरुभ्यामष्ठीवद्भ्याम्। शिश्नैर्यदनृतं
चकृमा वयम्। अग्निर्मा तस्मादेनसः। तै ब्रा० ३।७।१२

६. उद्वेणीव वारण्यभिस्कन्दं मृगीव। कृत्या कर्तारमृच्छतु ॥ अ० ५।१४।११

७. इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु। तमु मे अगदं कृधि ॥ अ० ५।४।६

८. प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः।

अन्त का अन्तिम भाग ब्लूमफील्ड ने अपने अनुवाद की भूमिका में भी (सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट ४२) ऐसे उदाहरणों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं दिया है; क्योंकि इस प्रकार का मानदण्ड सर्वात्मना आस्थायोग्य नहीं प्रतीत होता।

(ग) अन्य वैदिक संग्रहों से अथर्ववेद का संबन्ध

४१. अथर्व-संग्रह की विशेषताएँ और इसका आपस्तम्ब श्रौतसूत्र एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण से संबन्ध—शौनकीय अथर्ववेद का अन्य वैदिक मन्त्र-संग्रहों से संबन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। इन संबन्धों का पूरापूरा परीक्षण मन्त्रों की समानता के परिशीलन से प्राप्त किया जा सकता है; जैसा कि ह्विटनी ने किया था, जो उनकी मृत्यु के उपरान्त हारवर्ड ओरिएन्टल सीरीज' के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है। अथर्व-मन्त्रों के संबन्धों के विषय में इससे भी अधिक गहरा ज्ञान वैदिक मन्त्रों में पाई जाने वाली पदों की समानता के अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है जिसे ब्लूमफील्ड ने प्रस्तुत किया है। निश्चय ही अथर्ववेद अन्य संग्रहों से बहुत कुछ ग्रहण करता है। ऐसे स्थलों पर भी जहाँ आशा नहीं की जा सकती और उन सूक्तों में भी जो प्रायः अथर्ववेद के अपने मौलिक हैं। छोटा या लम्बा अनुच्छेद और कई स्थलों पर एक पाद अन्य स्थानों से लिया हुआ अथवा दूसरे संग्रह से मिलता-जुलता प्रतीत होता है। इस प्रकार अथर्ववेद के पहले ही सूक्त में मन्त्र ३b[१] = ऋ० १०. १६६. ३b[२] द्वितीय सूक्त मन्त्र २ ab ऋ० ६. ७५. १२[३] ab का पाठान्तर हैं; मन्त्र २d=ऋ० ३. १६. ५d[४] आंशिक साम्य के उदाहरण हैं : अथ० १. १७. ४ d = ऋ० १. १९१. ६[५] d; अथ० १. २६. १ d = ऋ० १. १७२. २[६] d; अथ० २. २. २ b = ऋ० ८. ४८. २[७] b; अथ० २. १२. ४ b = ऋ० ७. ४४. ४[८] d; अथ० ४. ४. ४ a = ऋ० १०. ९७. ८[९] a; अथ० ४. १०. ६[१०] e (प्रार्थनात्मक टेक = २. ४. ६ d १२. २. १३ d;

अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥ ७।११४।२

१. इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया। अ० १।१।३ ab

२. अत्रैव वोऽपि नह्याम्युभे आर्त्नी इव ज्यया ॥ ऋ० १०।१६६।३ ba

३. ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि। अ० १।२।२ ab

ऋजीते परि वृङ्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः। ऋ० ६।७५।१२ ab

४. अप द्वेषांस्या कृधि। अ० १।२।२ d = ऋ० ३।१६।५ d

५. तिष्ठतेलयता सु कम्। अ० १।१७।४ d = ऋ० १।१९१।६ d

६. आरे अस्मा यमस्यथ। अ० २६।१ d = १।१७२।२

७. अवयाता हरसो दैव्यस्य। अ० १।२।२ b = ऋ० ८।४८।२ b

८. आदित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः। अ० २।१२।४ b = ऋ० ७।४४।४ d

९. उच्छुष्मौषधीनाम्। अ० ४।४।४ a = उच्छुष्मा ओषधीनाम् ऋ० १०।९७।८ a

१०. प्र ण आयूंषि तारिषत। अ० ४।१०।६ e

१४. २. ६७ d) सारे ही मन्त्र-साहित्य में मिलता है। अथ० ५. २०. ८ b = ऋ० १०. १०३. १०[1] a (तुलना १० b); अथ० ५. २१. ११[2] ab (= १३. १. ३ ab) = तै० ब्रा० २. ५. २. ३ ab; अथ० ६. ८०. १ ab = ऋ० १०. १३६. ४[3] ab; अथ० ८. ७. २७. a = ऋ० १०. ९७. ३ b[4]; अथ० १०. १. ६a = ऋ० १०. १६४. ४[5] a; अथ० १०. ८. ४० cd = ऋ० ८. १०१. १४[6]. cd; अथ० १०. ९. २७ e = ऋ० ४. ५०. ६[7] d; अथ० १०. १०. ३२ b = ऋ० १०. १५४. १[8] b; अथ० ११. १. ३ d, ११d = ऋ० ४. ५०. १०[9] d; अथ० १३. १. ११d = ऋ० १०. १२३. ८d.[10] और भी ऐसे अनेक उदारण हैं। वे साम्य उन स्थलों पर स्मृति अथवा प्रतिध्वनि में बदल जाते हैं जैसा कि अवे. ३. १. २ में जिसका निर्माण ऋग्वेदिक लक्ष्यों पर किया गया है। (ब्लूमफील्ड-सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट ४२. ३२६), इस प्रकार अथ० ३. ३ २ b ५ d, ऋग्वेद १०. १०३. ६ का अथवा अथ० ४. ७. २, ३ ऋ० १०. १८७. १० का अथवा अथर्ववेद ५. २३, ऋ० २०. १९१ का, अथवा अथ० १. २६ ऋ० १. १७२ का, अथवा अ० २. ३. तै० ब्रा० २. ५. ६. ४ का स्मरण कराते हैं।

इस प्रसङ्ग में अन्यत्र आये वैदिक सूक्तों एवं मन्त्रों के साथ अथर्व-मन्त्रों के संबन्ध के विषय में अन्य रुचिकर एवं विचित्र बातों का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। अथर्ववेद १. १७. १[11] को यास्क ने निरुक्त ३. ४ में पाठभेद के के साथ उद्धृत किया है, जो अथर्ववेद पैप्पलाद से नहीं लिया गया है।

---

१. उद्धर्षय सत्वनामायुधानि। अ० ५।२०।८ b = उद्धर्षय मघवन्नायुधानि
ऋ० १०।१०३।१० a

२. यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्। अ० ५।२१।११ ab

३. अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत्। अ० ६।८०।१ ab = ऋ० १०।१३६।४ ab

४. पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत। अ० ८।७।२७ ab = ओषधीः प्रति मोदध्वं
पुष्पवतीः प्रसूवरीः। ऋ० १०।९७।३ ab

५. प्रतीचीन आङ्गिरसः। अ० १।६ a = प्रचेता न आङ्गिरसः ऋ० १०।१६४।४ a

६. बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानः पवमानो हरित आ विवेश। अ० १०।८।४० ab
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश। ऋ० ८।१०१।१४ cd

७. वयं स्याम पतयो रयीणाम्। अ० १०।९।२७ e = ऋ० ४।५०।६ d

८. घृतमेक उपासते। अ० १०।१०।३२ b = ऋ० १०।१५४।१ b

९. अस्मै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ। अ० ११।१।३ d = अस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम्।
ऋ० ४।५०।१० d

१०. तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि। अ० १३।१।११ d = ऋ० १०।१२३।८ d

११. अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः॥
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः॥ अ० १।१७।१

निरुक्त ६. १२ पर दुर्गाचार्य अथ० १२० १२. २. २८[1] को पाठान्तरों के साथ उद्धृत करता है (संभवतः वे पैप्पलाद के हों): देखिये रॉथ 'एर्लाउटरुंगेन' पृ० ८०। जैमिनीय ब्राह्मण अथ० ५. १९. १[2] को पूर्णरूप से पाठान्तरों के साथ उद्धृत करता है। अथर्व० ४. १६[3] अन्य संग्रहों में अज्ञात है, केवल शांखायन श्रौतसूत्र १. ६. ३[4] में ही इसका ६ठा मन्त्र संशोधित रूप में है। लाट्यायन श्रौतसूत्र का एक विधान अथ० ९-१. ९[5] को उपस्थित करता है और वैतानसूत्र ३६. २७[6] में एक मन्त्र अथ० १३. १. २३[7] से लिये अंशों को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है। अथ० १९. ५५. ५[8] a का गद्यसूक्त मै० सं० ३. ९. ४[9] (पृ० १२०, १, १७) से भिन्न है और अथ० २०. २[10] कात्यायन श्रौतसूत्र ९. ८. ११-१२[11] का स्वतन्त्र पाठ है। अथ० ३. ४[12] का ५वाँ मन्त्र पाठान्तर वाले प्रतीक 'आ प्रेहि परमस्याः परावतः (इति याज्यानुवाक्ये) के साथ मै० सं० २. २. ११[13] में उद्धृत है; किंतु ऐसे दो मन्त्र न तो मैत्रायणी में ही और न कहीं अन्यत्र उद्धृत हैं। मैत्रायणी में प्रतीक उस प्रकार के राजकर्माणि के प्रसंग में उद्धृत है जो अथर्व-सूक्त के समान है। सामवेद के भी ऐसे बहुत से मन्त्र, जो ऋग्वेद से नहीं लिये गये हैं, अथर्ववेद में प्राप्य हैं, जैसा कि आफ्रेक्ट द्वारा 'दी हिम्नेन देस ऋग्वेद' की भूमिका में दी गई मन्त्रों की सूची से व्यक्त है; पृ० ४५। अथर्ववेद एवं गृह्यसूत्रों की समानताएँ बहुत हैं और प्रायः मौलिक ग्रन्थ की भ्रष्टताओं और

---

१. वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम॥ अ० १२।२।२८

२. अथ० ५।१९।१ (दे० पृ० १६ तथा ६८ पर)

३. यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्करा वृषभा ये स्वराजः।
ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः॥ अ० ९।१।९

४. ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः॥ अ० ४।१६।६ ab

५…षष्टिश्चाध्वर्यू नवतिश्च पाशा अन्तरा द्यावापृथिवी उभे इमे।…शां० श्रौ० सू० १।६।३

६…सं त्वां गन्धर्वाः समु युञ्जन्त्वापो……वै० सू० ३६।२७

७…इदं सदो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्थाः पृषती येन याति।
तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम्॥ अ० १३।१।२३

८. अपश्चादध्वान्नस्य भूयासम्। अ० १९।५५।५ a

९…अपश्चादध्वान्नं भूयासम्।…मै० सं० ३।९।४

१०. मरुतः पोत्रात्सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु॥ अ० २०।२।१ इत्यादि ४ मन्त्र

११. मरुतः पोत्रात्। ग्रावो नेष्ट्रात्॥ का० श्रौ० सूत्र ९।८।११।१२

१२. आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्।
तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत्स उपेदमेहि॥ अ०॥ अ० ३।४।५

१३. ऐन्द्रमेककपालं निर्वपेन्निरुद्धं याजयेदा प्रेहि परमस्याः परावता…मै० सं० २।२।११

गौण उद्देश्यों के कारण छिपी हुई हैं। दोनों ही के सूक्तों में यह प्रक्रिया देखने में आती है, किंतु गृह्यसूत्रों के मन्त्र तो अथर्ववेद के मन्त्रों से भी अधिक भ्रष्ट हैं। तुलना करो अथ० ५. २५. ८[1] की शां० गृ० सू० १. १९. ११[2] से; अथ० ३. १०. १[3] की सामवेद-मन्त्र-ब्राह्मण २-८. १ से; अथवा अथ० ८. ६. २६[4] की हिरण्यकेशी गृ० सू० १. १९. ७[5] से। सबसे अधिक मार्के की हैं अथर्ववेद की आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र के साथ समानताएँ जिनसे स्पष्ट है कि यह सूत्र अथर्ववेद पर आधृत है। आप० श्रौ० सू० के पाठान्तर प्रायः निम्नकोटि के हैं। उदाहरण के लिये अथ० २. ७. १[6] को आप० श्रौ० सू० ६. २१. २[7] ने भ्रष्ट रूप में उपस्थित किया है; अथ० ३. ७. १, २[8] के दो मन्त्र न्यूनकोटि के पाठान्तरों के साथ आप० श्रौ० सू० १३. ७. १६[9] में दिखाई पड़ते हैं; अथ० ५. ६[10] के प्रारम्भिक मन्त्र गौणरूप से आप० श्रौ० सू० १६. १८. ७[11] में पुनः दिखाई पड़ते हैं। अथर्ववेद ५. ९. ८[12] का एक अंश आप० श्रौ० सू० ६. २१[13] के आरम्भ में मिलता है। अथ० का मन्त्र ७. २७[14] आप० श्रौ० सू०

१. अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम् ।
वृषासि वृष्ण्यावन्प्रजायै त्वा नयामसि ॥ अ० ५।२५।८

२. अभिक्रंदं विलयस्व गर्भमाधेहि साधय ।
वृषाणं वृषन्नाधेहि प्रजायै त्वा हवामहे ॥ शां० गृ० सू० १।१९।११

३. प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद्यमे ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ अ० ३।१०।१

४. अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद्रोदमघमावयम् ।
वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥ अ० ८।६।२६

५...अप्रजास्तां पौत्रमृत्युं पाप्मानमुत वाघम् । शीर्ष्णः स्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः
प्रतिमुञ्चामि पापं स्वाहा ॥ हिरण्यके० गृ० सू० १।१९।७

६. अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी । अ० २।७।१ ab

७. व्युष्टा देवजूता वीड्वुच्छपथजम्भनीः ।...आप० श्रौ० सू० ६।२१।२

८. हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम् । अ० ३।७।१ ab इत्यादि

९...हरिणस्य रघुष्यतोऽधि शीर्षणि भेषजम् ।...आप० श्रौ० सू० १३।७।१६

१०. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ अ० ५।६।१ इत्यादि

११. ब्रह्मजज्ञानमित्येषा । अनाप्ता या वः प्रथमा यस्यां कर्माणि कृण्वते ।...आप० श्रौ० १६।१८।७

१२. उदायुरुद्बलमुत्कृतमुत्कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम् ॥ अ० ५।९।८ a इत्यादि

१३. वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यायुष्कृदायुः पत्नी स्वधा वो गोप्त्र्यो मे स्थ गोपायत मा रक्षतमात्मसदो मे स्थ ।...आप श्रौ० सू० ६।२१।१

१४. इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः ॥ अ० ७।२७।१ b इत्यादि

४. १३. ४[1] में पाठान्तरों के साथ आता है। अथ० ८. ५–१९[2] अपेक्षित अन्तरों के साथ आप० श्रौ० सू० १६. १९. १[3] में और इसी प्रकार अथ० ९. ५. २[4] आप० श्रौ० सू० ७. १७. २[5] में अथवा अथ० १२. १–५५[6] आप० श्रौ० सू० ५. ९. ११[7] में दिखाई पड़ता है। दो मन्त्र अथ० १२. २. १३, १४[8] आप० श्रौ० सू० ९. १६. २. ४ में परिवर्तित हैं। विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है अथ० १६. २. ४[9] के अस्पष्ट मन्त्रों का आप० श्रौ० सू० ६. २०. २[10] (अन्त) में उद्धरण। यह भी ध्यान देने योग्य है कि आप० श्रौ० सू० १६. ६. १[11] कौशिक सूत्र ९७. ८[12] के कुछ मन्त्रों को पुनः उपस्थित करता है जो मन्त्र-परंपरा के दो क्षेत्रों के संबन्ध का द्योतक है। तै० ब्रा० में अथर्व-सूक्त जितनी संख्या में दिखाई पड़ते हैं उतने अन्यत्र नहीं। यथा, अथ० १. २३,[13] २४ तै० ब्रा० २. ४–४. १, २[14]

---

१. इडास्मानतु वस्तां घृतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः।···आप० श्रौ० ४।१३।४

२. ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नातिविध्यन्ति सर्वे।
तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जरदष्टिर्यथासानि ॥ अ० ८।५।१९

३···ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नातिविध्यन्ति सूराः।
तन्नस्त्रायतां तन्नो विश्वतो महदायुष्मन्तो जरामुपगच्छेम देवा इति···आप० श्रौ० सू० १६।१९।१

४. इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन्यज्ञे यजमानाय सूरिम्।
ये नो द्विषन्त्यनु तान्रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः ॥ अ० ९।५।२

५. इन्द्रस्य भागः सुविते दधातनेमं यज्ञं यजमानं च सूरौ।
यो नो द्वेष्ट्यनु तं रभस्वानागसो यजमानस्य वीरा इति च वाश्यमाने वेद्येते।
आप० श्रौ० सू० ७।१७।२

६. अदो यद्देवि प्रथमाना पुरस्ताद्देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।
आ त्वा सुभूतमविशत्तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥ अ० १२।१।५५

७. अदो देवी प्रथमाना पृथग्यद्देवैर्न्युप्ता व्यसर्पो महित्वा।···आप० श्रौ० सू० ५।९।११

८. अस्मिन्वयं संकसुके अग्नौ रिप्राणि मृज्महे।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ अ० १२।२।१३ इत्यादि

९. सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ॥ अ० १६।२।४

१०···सुश्रुतौ कर्णौ देवश्रुतौ कर्णौ केशा बर्हिः···आप० श्रौ० सू० ६।२०।२

११. वसवस्त्वा च्छृन्दन्तु गायत्रेण च्छन्दसेति······आप० श्रौ० सू० १६।६।१

१२. अपेत एतु निर्ऋतिर्नेहास्या अपि किञ्चन······कौ० सू० ९७।८

१३. नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ अ० १।२३।१ इत्यादि दो सूक्त

१४. नक्तंजाताऽस्योषधे। रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय। किलासं पलितं च यत् ॥ तै० ब्रा० २।४।४।१

में, अथ० २. १०[1] तै० ब्रा० २. ५. ६. १[2] में; अथ० ४. ८[3] तै० ब्रा० २. ७. १३[4] और १६ में; अथ० ४. २२,[5] तै० ब्रा० २. ४. ७. ७[6] में; अथ० ६. ३८[7] तै० ब्रा० २. ७. ७. १[8] में; अथ० ६. ७५[9]; तै० ब्रा० ३. ३. ११. ३[10] (आप० श्रौ० सू० ३. १४. २[11]) में; अथ० ७. ७०[12] तै० ब्रा० २. ४. २. १[13] में; अथ० ७. ९९[14] तै० ब्रा० ३. ७. ६. १[15] में; अथ० ७. ११०[16] तै० ब्रा० २. ४. ५. ७[17] में; अथ० १३. १[18] (अंशतः) तै० ब्रा० २. ५. २. १ में। क्योंकि तैत्तिरीय ब्राह्मण आपस्तम्ब श्रौ० सू० का ब्राह्मण है, अतः इन दोनों ग्रन्थों का अथर्ववेद से संबन्ध संभवतः महत्त्वहीन न रहा हो। निश्चय ही यह संबन्ध उस सामान्य संबन्ध से परे का है,

---

१. क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद्द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्॥ अ० २।१०।१ab इत्यादि ८ मन्त्र

२. ...क्षेत्रियै त्वा निर्ऋत्यै त्वा। द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्॥ तै० ब्रा० २।५।६।१

३. भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव॥ अ० ४।८।१ ab इत्यादि ७ मन्त्र

४. ...भूतो भूतेषु चरति प्रविष्टः। स भूतानाधिपतिर्बभूव तै० ब्रा० २।७।१५ से २।६ १६ तक

५. इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्॥ अ० ४।२२।१ ab इत्यादि ७ मन्त्र

६. इममिन्द्र वृषभं कृणु। यस्सुश्रङ्गस्सुवृषभः। इत्यादि तै० ब्रा० २।४।७।७

७. सिंहे व्याघ्र उत पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या॥ अ० ६।३८।१ ab इत्यादि

८. सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ। त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या। तै० ब्रा० ७।७।७।१ इत्यादि

९. निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति।
नैर्बाध्येन हविषेन्द्र एनं पराशरीत्॥ अ० ६।७५।१ इत्यादि ३ मंत्र

१०. निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति......तै० ब्रा० ३।३।११।३

११. निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति...आप० श्रौ० सू० ३।१४।२

१२. यत् किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा।
तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य॥ अ० ७।७०।१ इत्यादि

१३. यत्किंचासौ मनसा यच्च वाचा। यज्ञैर्जुहोति यजुषा हविर्भिः॥ तै० ब्रा० २।४।२।१

१४. परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम्।
होतृषदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके॥ अ० ७।९९।१

१५. परिस्तृणीत परिधत्ताग्निं परिहितोऽग्निर्यजमानं भुनक्तु...तै० ब्रा० ३।७।३।१

१६. अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हुथो वृत्राण्यप्रति। उभा हि वृत्रहन्तमा॥ अ० ७।११०।१ इत्यादि

१७. अग्न इन्द्रश्च मेदिना। हुथो वृत्राण्यप्रति। युवं हि वृत्रहन्तमा। तै० ब्रा० २।४।५।७ इत्यादि

१८. अ० १३।१।१

जिसकी सभी मन्त्र-समूहों में आशा की जा सकती है। अथर्ववेद एवं शुक्ल यजुर्वेद से संबद्ध ग्रन्थों—यथा शतपथ ब्राह्मण एवं कात्यायन श्रौत-सूत्र—में इस प्रकार की समानता नहीं है।

४२. *अथर्ववेद की भाषा की ऋग्वेद की भाषा से तुलना*—अन्य सभी वैदिक संग्रहों के साथ शौनकीय संहिता के संबन्ध के विषय में किया गया विवेचन तब तक अपूर्ण रहेगा जब तक कि उसमें पैप्पलाद अथर्ववेद को संमिलित नहीं किया जाता। शौनकीय संहिता के एक ओर ऋग्वेद और दूसरी ओर यजुर्वेद के साथ रहे संबन्ध के विषय में दिये गये विवरणों में नवीन सामग्रियों के उपलब्ध होने पर भी अधिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। यदि हम काण्ड २० को छोड़ दें—जो पूर्णतः ऋग्वेद से उद्धृत है—तो भी शौनकीय संहिता के विषय का सप्तमांश ऋग्वेद के विषय के समान है। अथर्ववेद से साम्य रखने वाले ऋग्वेद के मन्त्रों का आधा भाग ऋग्वेद दशम मण्डल का, विशेषतः उस मण्डल के अन्तिम अनुवाक का, लगभग छठा भाग, प्रथम मण्डल का, लगभग १०वाँ भाग ७वें मण्डल का और ८वाँ भाग शेष मण्डलों का है। विवाह मन्त्रों (अथ० १४) और अन्त्येष्टि मन्त्रों (अथ० १८) को छोड़कर, दोनों संहिताओं में समान पाये जाने वाले विषय अधिकांशतः आथर्वणिक स्वरूप के हैं, अर्थात् ये मङ्गलकारी या विनाशकारी अभिचार हैं। दूसरी ओर वे सामान्य प्रार्थनाएँ, जिनका विषय किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति न होकर देवताओं की स्तुति करना है, दोनों संहिताओं में यदा-कदा ही समान मिलते हैं। सूक्तों की इन दो शैलियों को कह सकते हैं : (१) प्रचलित अथवा आथर्वणिक, (२) याज्ञिक अथवा कर्मकाण्डी। प्रथम शैली की भाषा उस बोली या उन बोलियों से संबद्ध है, जो सामान्यतः ब्राह्मणों, सूत्रों एवं परवर्ती साहित्यिक रूपों की भाषा के मूल से हैं। ऐसी युक्तियों के आधार पर जो प्रायः सदैव एकाङ्गी एवं वैयक्तिक तथा कभी-कभी दोषपूर्ण भी हैं, प्रचलित आथर्वणिक सूक्तों की भाषा को पौरोहित्य-सूक्तों के बाद के समय की भाषा माना गया है और इस प्रकार जनता में प्रचलित विषयों से संबद्ध प्रत्येक सूक्त का भाषा के आधार पर उसे परवर्ती वैदिक युग का कहकर तिरस्कार किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विवेचन करने का अवसर नहीं है। केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि बहुत से भाषा-रूप, जो परवर्ती-समय के सूचक समझे जाते हैं, वस्तुतः भारत की पूरी आर्यभाषा के समान ही प्राचीन हैं, या उससे भी पहले के हैं। इस प्रकार 'औ' में द्विवचन एवं 'ऐस्' में तृतीया बहुवचन, जिन्हें ऐसे विवेचनों में परवर्ती काल का बताया जाता है, भा-योरपीय रूप हैं (गाथिक–अहतौ, लिथु॰; विल्कैस्)। इसी प्रकार बाद के रूप, प्रातिपदिक एवं धातु ह्वयामि, करोमि—कुरु, पन्थानम्, सर्व, ('विश्व' से तुलना करने पर), रज्जु, लुभ्, (सस् के लिये)

स्वप्, जो अवे० के बाद में बनने के सूचक माने गये हैं, सबके सब प्रागैतिहासिक हैं। अतः प्रश्न मुख्यतः बोली या भाषागत संबन्ध का है। यही एक दृष्टिकोण है, जिसके आधार पर प्रचलित अथवा आथर्वणिक सूक्तों की भाषा की तुलना पौरोहित्य-सूक्तों की भाषा से की जा सकती है। कोई भी रूप इसलिये बाद का नहीं बन जाता कि वह ऋग्वेद के १०वें मण्डल में है, और अथर्ववेद में अधिक प्रयुक्त हुआ है, अथवा मन्त्रोत्तरकालीन भाषा में सतत प्रयुक्त हुआ है; और इसके परिणामस्वरूप कतिपय सूक्त केवल इसी आधार पर परवर्ती नहीं हो जाते कि उनमें उन शब्दों एवं रूपों का बाहुल्य है, जो पौरोहित्य-सूक्तों में नहीं मिलते। वैदिक सूक्तों के सापेक्ष समय का पूर्णरूप से अध्ययन करने के लिये सर्वप्रथम उन्हें उन दो वर्गों में विभक्त करना आवश्यक है, जो समानान्तर रूपों में विकसित हुए, अर्थात् सोमपूजा से संबद्ध सूक्त और प्रचलित विधानों से संबद्ध सूक्त। ये अधिकांशतः समसामयिक हैं। प्रत्येक अपनी ही विशिष्ट बोली में निबद्ध है और एक दूसरे से निर्वचन, व्याकरण, शैली एवं छान्दस रीति में पार्थक्य रखता है।

किसी भी सूक्त के समय-निर्धारण के लिये अकेले भाषा-संबन्धी आँकड़े व्यर्थ हैं, यह बात अथ० ३.१८ की ऋग्वेद १०. १४५ से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाती है। ऋग्वेद का दूसरा मन्त्र 'कुरु' पर समाप्त होता है, जिसके लिये अथर्ववेद में 'कृधि' पाठ है। 'कुरु' परवर्ती और 'कृधि' प्राचीन है, अर्थात् यह शैली पुरोहितों के क्षेत्र से संबद्ध है। अतः यह मानना कि सूक्त का आथर्वण स्वरूप, ऋग्वेद के स्वरूप से प्राचीन है पहली दृष्टि से शास्त्रसंमत प्रतीत होता है, किंतु ५ वें मन्त्र में ऋग्वेद के 'भूत्वी' के लिये अथर्ववेद 'भूत्वा' पढ़ता है। और ऋग्वेद के पाठ 'पराधम' पराणुद के लिये (मन्त्र २); 'अथा सपत्नी' (ऋ० ३) 'अध सपत्नी' (अथ० ४) के लिये, गृम्णामि (ऋ० ४) 'जग्राह' (अथ० ३) के लिये, अथ त्वम्' 'अथो त्वम् (मन्त्र ५) के लिये, अथर्ववेद की अपेक्षा ऋग्वेद के प्रति अच्छा प्रभाव डालते हैं और दोनों संग्रहों में ऋग्वेद के पाठों को मौलिक बताते हैं। जहाँ तक 'कृधि' का संबन्ध है अथर्ववेद पुरोहित-शैली में फँस गया है, जब कि 'कुरु' प्रचलित सूक्तों में बहुत प्राचीन समय से ही प्रयुक्त होता आ रहा था; यद्यपि संभव यह भी है कि ऋग्वेद में 'कृधि' के लिये 'कुरु' प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो। पर यह वैसी ही तो बात है जैसे कोई धर्मोपदेशक अपने उपदेश में कभी तो बाइबिल की भाषा का प्रयोग करे और कभी उससे अलग दूसरी भाषा का; कभी वह इसियाह अथवा साम्स की भाषा का प्रयोग करता है तो कभी प्रचलित प्रभावपूर्ण भाषा का। वास्तव में आथर्वण सूक्तों की भाषा के ब्राह्मणों एवं परवर्ती संस्कृत साहित्य की भाषा के साथ सामीप्य को समय-निर्धारण का मापदण्ड

नहीं बनाया जा सकता। केवल जहाँ पौरोहित्य-सूक्त आथर्वणिक शैली में ढाले गये हैं वहीं परवर्तिता की धारणा न्याय-संगत होगी। भ्रष्ट छन्द, गौण उद्देश्यों के लिये अनुकूलन, मन्त्रों में टूट-फूट एवं इसी प्रकार की अन्य बातें अथर्व-साहित्य की अपनी असली विशेताएँ हैं।

इन सभी बातों पर ध्यान देने पर इस बात में संदेह नहीं रह जाता कि अथर्ववेद का संस्करण ऋग्वेद के संस्करण से बाद का है। प्रक्षेपकर्ताओं द्वारा प्रस्तुत इसका स्वरूप ऋग्वेद को दृष्टि में रखते हुए अधिक विद्वत्तारहित एवं त्रुटिपूर्ण ठहरता है और प्राचीन सूक्तों का गौण प्रयोग भी—जो मन्त्रों पर किये जाने वाले प्रचलित निर्वचन का ही एक रूप है—ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक है। संभवतः पूर्व-रचित ऋग्वेदीय संग्रह से कुछ अंश यहाँ सीधे ले लिये गये हैं और इस वेद का एक बड़ा अंश बहुत बाद में रचा गया है। दूसरी ओर यह बात भी समान रूप से निश्चित है कि अथर्व-परंपरा की मुख्यधारा, अर्थात् इस वेद के आथर्वणिक या प्रचलित सूक्त, याज्ञिक सूक्तों से यदि अधिक प्राचीन नहीं तो उनके सामयिक अवश्य हैं। ४. १६[1] जैसा सूक्त, जिसमें आथर्वणिक रचना का एक सुन्दर स्वरूप मिलता है, उतना ही प्राचीन है जितना कि ऋग्वेद का इसके समान स्वरूप वाला कोई सा सूक्त। अथर्ववेद ४. १२[2] सूक्त तो प्रागैतिहासिक युग का प्रतीत होता है। यह धारणा कि अथर्ववेद के अनेक ओषधि-अभिचार विशेषतः 'तक्मन्'-संबंधी अभिचार—ऋग्वेद से पहले के नहीं है, प्रामाणिक नहीं है। साथ ही यह बात नृवंश-विद्या-संबन्धी मन्तव्यों के भी विपरीत है। संक्षेप में इन सूक्तों में और इनसे संबद्ध सूक्तों में इनकी प्रागैतिहासिकता का पर्याप्त प्रमाण मिल जाता है। देखिये अथ० ७. ११६[3] (सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट ४२. पृ० ४ और ५६५)। ऋग्वेद ने बहुत से आथर्वणिक अभिचारों को ले लिया है (देखिये आफ्रेक्ट का संस्करण भाग २ पृ० ६७०) और कुछ को छोड़ दिया है। कारण इसका यह है कि ऋग्वेद का स्वरूप प्रधानतः श्रौतमन्त्र-पाठ का है। पौरोहित्य-सूक्त ही ऋग्वेदियों की रुचि के विषय थे, अन्य विषयों में, जो उन्हें आसानी से उनके मतलब का मिला उसे उन्होंने गहराई में गये बिना, अपना लिया।

४३. *ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के विविध पाठ*—निम्न उदाहरणों से ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में समान रूप से पाये जाने वाले विषयों का पारस्परिक संबन्ध

---

१. अ० ४।१६।१ (दे० पृ० ६३) इत्यादि ९ मन्त्र

२. रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी। रोहयेदमरुन्धति॥ अ० ४।१२।१ इत्यादि ७ मन्त्र

३. नमो रूराय च्यवनाय चोदनाय धृष्णवे। नमः शीताय पूर्वकामकृत्वने॥ अ० ७।११६।१ इत्यादि २ मन्त्र

स्पष्ट हो जायगा। अथ० १. ४. ४[1] का चतुर्थ पाद ऋग्वेद १. २३. १९[2] और विशेषतया वाज० सं० ९. ६ आदि की तुलना में अथर्ववेदियों का अपना जोड़ है। आथर्वणिक तृतीय पाद 'अश्वा भवथ वाजिनीः' के वक्तव्य को इसमें अन्यत्र अज्ञात 'गावो भवथ वाजिनीः' को जोड़कर स्फुट करता है। ऋ० १०. १७४ के 'हविषा' के लिये 'मणिना' अथ० १. २९ तथा 'अभिवर्त' के लिये 'अभिवर्ध' अथ० १. २९[3] इत्यादि प्रयोग बाद में उभरी आथर्वणिक प्रवृत्ति को द्योतित करते हैं। अथ० २. १२. ६[4] में 'अतीव,' ऋग्वेद ६. ५२. २[5] के 'अति वा' से निम्न स्तर का है। २. ३५. ५[6] cd में छन्द की दृष्टि से अनावश्यक 'भासदम्' ऋग्वेद १०. १६३. ४[7] से लिया गया है। अथर्ववेद ६. ९१. ३,[8] ऋग्वेद १०. १३७. ६ में आये 'सर्वस्य' के विपरीत 'विश्वस्य' पाठ को पसन्द करता है; फलतः इस मन्त्र के आथर्वण पाठ को अधिक प्राचीन माना जा सकता है, यद्यपि 'विश्वस्य' के मूल में पुरोहिति की स्मृति भी संभव है। किंतु आथर्वण संस्करण के समय-निर्धारण की दृष्टि से जो बात वास्तव में महत्त्वपूर्ण है, वह है, एक ही मन्त्र का अथ० ३. ७. ५ में फिर से आना, जहाँ मन्त्र के अन्तिम चरण में 'तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्' को बदलकर बाद के समय के 'तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्' को पसन्द किया गया है। अथ० ३. ११. ३ c+d, ४ c+d में हमें साफ तौर से ऋग्वेद १०. १६१. ३ cd, ४ cd पादों का बाद का प्रयोग दीख पड़ता है। अथ० ४ c का 'शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः' तो निःसंदेह ऋ० ४ c के 'शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः' के बाद का है। अथर्ववेद ३. १५. ३,[9] ठीक इसी संबन्ध में ऋग्वेद ३. १८. ३[10] में आता है। हो सकता है कि 'इच्छमानो' शब्द से इस मन्त्र का आथर्वणिक रचना के लिये अनुकूलन सूझ गया हो। अथर्ववेद का इसके बाद

---

१. अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः। अ० १।४।४

२. अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः। ऋ० १।२३।१९

३. अभीवर्तेन मणिना। अ० १।२९।१ a अभीवर्तेन हविषा। ऋ० १०।१७४।१ a

४. अतीव यो मरुतो मन्यते नो। अ० २।१२।६ a

५. अति वा यो मरुतो मन्यते नो॥ ऋ० ६।५२।२ a

६. २।३३।५ cd

७. १०।१६३।४ cd

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥ अ० ६।९१।३

८. ऋ० १०।१३७।६ c अ० ६।९१।३ c के समान है केवल ऋग्वेद में विश्वस्य के स्थान पर सर्वस्य पाठ है।

९. इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय। अ० ३।१५।३ ab

१०. (ऋ० ३।१८।३ के समान)

वाला अर्धर्च भी गौण है; (ऋ० १. ३१. १६[1] a b) इसे आथर्वणिकों ने इसलिये ले लिया है कि इसमें उस 'दूरवर्ती मार्ग' (का निर्देश है) जिसे हमने तय कर लिया है; यह एक ऐसा कथन है जिसे वणिक् के अभिचार में संमिलित करना अनिवार्य-सा दीख पड़ता है। ऋग्वेद ७. ४१[2] के पाद १ a में 'हवामहे' आता है। किंतु पाद १ d,[3] २[4] a में 'हुवेम' मिलता है। अथर्ववेद ३. १६.[5] १, २ इन सबको एक 'हवामहे' में ढाल देता है और ऐसा करते हुए उसे इस बात की परवाह नहीं रहती कि 'हव्' धातु बाद की है। इससे परिणाम निकल सकता है कि इस पुराने पौरोहित्य-सूक्त को इन परिवर्तनों द्वारा बाद के समय में प्रचलित भाषा के समीप लाया गया है। ३. १७. २[6] c d में 'गिरा च' के स्थान पर 'विराजः' तथा 'आयत्' अथवा 'एयात्' (ऋ० १०[7]. १०१. ३)—एवं याजुष पाठ के स्थान पर 'आयवन्' अजीब से लगते हैं और बाद के हैं। अथर्ववेद ३. ३१. ५[8] निःसंदेह ऋग्वेद १०. १७. १[9] का (तुल० अथ० १८. १. ५३[10]) दूसरे शब्दों में उच्चारण है। आध्यात्मिक सूक्त (हिरण्यगर्भ) अथ० ४. २[11] को वेबर ने (इस्तू १८. ९) ऋ० १०. १२१[12] का ही परिवर्तित एवं विकृत पाठ माना है, जिसे आथर्वणिकों ने उसी प्रयोजन से अपनाया था जिसके लिये कि

---

१. इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात् ॥ ऋ० १।३१।१६ ad

२. प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे ॥ ऋ० ७।४१।१ a

३. प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ॥ ऋ० ७।४१।२ a

४. प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम ॥ ७।४१।२ a

५. प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥ अ० ३।१६।१ इत्यादि

६. युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमा यवन् ॥ अ० ३।१७।२

७. युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ऋ० १०।१०१।३

८. त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीदं विश्वं भुवनं वि याति ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ अ० ३।३१।५

९. त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥ ऋ० १०।१७।१

१०. अ० १८।१।५३ ऋ० १०।१७।१ के समान है केवल ऋग्वेद के कृणोतीदं के स्थान कृणोति तेनेदं है।

११. य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यो३ऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ अ० ४।२।१

१२. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम । ऋ० १०।१२१।१ इत्यादि

इसे कौशिक ४५. १[1] में अपनाया गया है। जब कि वशा, (अर्थात् वन्ध्या) गौ मारी जाती है और वह गर्भिणी निकलती है, तब इस सूक्त का प्रायश्चित्त के रूप में प्रयोग विहित है। इसी प्रकार अथ० ५. २[2] की ऋ० १०. १२०[3] से, अथ० ५. ३[4] की ऋग्वेद १०. १२८[5] से तथा अथ० ६. १२६[6] की ऋ० ६. ४७. २९–३१[7] से तुलना करने पर अनिवार्य रूप से ऋग्वेद की परंपरा ही भव्य दीख पड़ेगी। अथ० ४. ९. ४[8] में ऋग्वेद की ओषधि-स्तुति १०. ९७[9] के १२वें मन्त्र से उधार ली गई है। अथ० ४. २१. ५[10] a में 'इच्छाद्' ऋग्वेद ६. २८. ५;[11] के अच्छान्' (प्रथम पुरुष एकवचन √ 'छद्' धातु) का परवर्ती भ्रष्ट रूप है। तुलना कीजिये मन्त्र चतुर्थ के ऽश्नुते की ऋग्वेद से 'अश्नुते' से। अथर्ववेद के तीन सूक्त, अर्थात् ६. २७–२९[12] ऋ० के १०. १६५[13] के सिवाय और क्या हैं? वे क्षेपकों एवं लचरपाठों के साथ ऋग्वेद का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। अथ० २७. ३ c छन्द की दृष्टि से ऋ० ३ c से निम्नकोटि का है और अथ० २९. १ c ऋग्वेद ४ से हीन है (अथ० में 'वा' अनावश्यक है)। ऋग्वेद ५ d 'प्र पतात् पतिष्ठः' के स्थान पर अथर्ववेद २८. १ d में प्र पदात् 'पथिष्ठः' है।

अवे० के पथिष्ठः (होना चाहिये : पथिष्ठः, यदि इसका अर्थ है मार्ग पर खड़ा होने वाला) के अशुद्ध स्वर से व्यक्त हो जाता है कि आथर्वण पाठ दूसरे दरजे का है। ऋग्वेद ५ c के पौरोहित्य-संबन्धी 'संयोपयन्तो' की जगह अथर्व २८. १ c के 'संलोभयन्तो' को भी देखिये, जिसमें अथ० १२. १. २९ के √ युप् की जगह कौशिकसूत्र ७१. १९ में √ लुप् का प्रयोग मिलता है। ऋ० १०. ५६. २[14] b

१. यद्यष्टापदी स्याद्गर्भमञ्जलौ सहिरण्यं सयवं वा य आत्मदा···कौशिक सू० ४५।१

२. तदिदा॑स॒ भुव॑नेषु॒ ज्येष्ठं॒ यतो॑ ज॒ज्ञ उ॒ग्रस्त्वे॒षनृ॑म्णः। अ० ५।२।१ इत्यादि ab

३. ऋ० १०।१२०।१ ab के समान इत्यादि

४. ममा॑ग्ने॒ वर्चो॑ विह॒वेष्व॑स्तु व॒यं त्वेन्धा॑नास्त॒न्वं॑ पुषेम। अ० ५।३।१ ab इत्यादि

५. ऋ० १०।१२८।१ ab भी अ० ५।३।१ ab के समान है

६. उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्याम्। अ० ६।१२६।१ a इत्यादि

७. उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्याम्॥ ऋ० ६।४७।२९ a इत्यादि

८. यस्या॑ञ्जनं॒ प्र॒सर्प॑थाङ्ग॑मङ्गं॒ परु॑ष्परुः। अ० ४।९।४ ab इत्यादि

९. यस्यौ॑षधीः प्र॒सर्प॑थाङ्ग॑मङ्गं॒ परु॑ष्परुः। ऋ० १०।९७।१२ ab

१०. गावो॒ भगो॒ गाव॒ इन्द्रो॑ म इच्छा॒द्गाव॒ः सोम॑स्य प्रथ॒मस्य॑ भ॒क्षः॥ अ० ४।२१।५ ab

११. ऋ० ६।२८।५ ab अ० ४।१२१।५ ab के समान है; केवल ऋग्वेद में अथर्ववेद के स्थान पर अच्छान् पाठ है

१२. देवा॑ः क॒पोत॑ इषि॒तो यदि॒च्छन्दू॒तो निरृ॑त्या इ॒दमा॑ज॒गाम॑॥ अ० ६।२७।१ ab

१३. देवा॑ः क॒पोत॑ इषि॒तो यदि॒च्छन्दू॒तो निरृ॑त्या इ॒दमा॑ज॒गाम॑। ऋ० १०।१६५।१ ab

१४. वा॒मम॒स्मभ्यं॒ धातु॒ शर्म॒ तुभ्य॑म्। ऋ० १०।५६।२ b

के 'धातु' के स्थान पर अथ० ६. ९२. ३ b[1] के 'धावतु' प्रयोग में बाद के होने गन्ध आती है। अथर्व-पाठ उस अभिचार का अंश है जिसका प्रयोग अश्व को जव-युक्त बनाने के लिये किया जाता है। ऋग्वेद १. १६४. ५२[2]; तै० सं० ३. १. ११. ३[3] (सुपर्णाख्यान १७. ४ से भी तुलना कीजिये) से अथर्व ७. ३९[4] की तुलना करने कर अथर्ववेद का पाठ गौण ठहरता है और चौथे चरण में इसका व्यावहारिक उपयोग के अपनाया जाना स्पष्ट हो जाता है। अथर्ववेद ७. ८९. १ a[5] (१०. ५. ४६ a) के 'अपो दिव्या अयाचिषम्' को शायद ही उस प्रसिद्ध मन्त्र का प्रारम्भिक पाद माना जा सके जो अन्य वैदिक ग्रन्थों (ऋ० १. २३. २३ a) में 'आपो (अथवा अपो) अद्यान्व् अचारिषम्' और 'अपो अन्व् अचारिषम्' से प्रारम्भ होता है। स्पष्टतः ऐसे स्थलों पर अथर्ववेद के पाठ गौण माने जाने चाहियें। अथर्ववेद ७. ९१. १ c[6] का 'नः' छन्द की दृष्टि से अनावश्यक है और उस मन्त्र के अन्य वैदिक पाठों में नहीं मिलता : ऋ० ६. ४७. १२, १०. १३१. ६[7]; अथ० २०. १२५. ५१ इत्यादि। अथर्ववेद ७. ९७. २[8] का पाठ, ऋ० ५. ४२. ४[9] एवं कुछ अंशों में यजुर्वेदीय पाठ (वाज सं० ८. १५[10]) से तुलना करने पर, इसे पौरोहित्य-भाषा से प्रचलित भाषा में लाने के लिये किये गये परिवर्तनों से भरपूर मिलता है : 'णो' के लिये 'नो', 'नेषि' के लिये 'नेष', 'हरिवः' के लिये 'हरिवन्' और 'स्वस्ति' के लिये 'स्वस्त्या'। तुलना कीजिये तृतीय पाद में 'ब्रह्मणाम्' की, जो चतुर्थपाद के 'देवानाम्' के सदृश है। अन्य पाठों का 'ब्रह्मणा' शुद्ध है। अथर्व ८. ७. २८[11], ऋग्वेद १०. ९७. १६[12] का गौण रूप है, यद्यपि अथर्ववेद के चतुर्थपाद में ऋग्वेद के 'सर्वस्माद्' के स्थान पर 'विश्वस्माद्' पढ़ा गया है, जो अपेक्षाकृत अधिक पौरोहित्य-संबन्धी है। इन उदाहरणों के साथ ओल्डेन-बर्ग द्वारा दिये गये—विशेषकर के १४ वें एवं १८ वें काण्ड के—उदाहरणों पर भी ध्यान देना वाञ्छनीय है। वे भी अथर्ववेद के मन्त्रों द्वारा प्राचीन पौरोहित्य-

---

१. वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम्। अ० ६।९२।३ b

२. दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम्। ऋ० १।१६४।५२ ab

३. दिव्यं सुपर्णं वयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम्। तै० सं ३।१।११।३

४. दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम्। अ० ७।३९।१ ab

५. अपो दिव्या अचायिषम्। अ० ७।८९।१ a

६. बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु। अ० ७।९१।१ c

७. बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु ॥ ऋ० ६।४७।१२ c, १०।१३१।६ c

८. समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या। अ० ७।९७।२ ab

९. समिन्द्र नो मनसा नेषि गोभिः सं सूरिभिर्हरिवः सं स्वस्ति। ऋ० ५।४२।४ ab

१०. समिन्द्रणो मनसा नेषि गोभिः सं सूरिभिर्म्मघवन्त्सं स्वस्त्या। वाज० सं० ८।१५

११. उत्त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत। अ० ८।७।२८ ab

१२. मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत। ऋ० १०।९७।१६ ab

संबन्धी रूप एवं विचारों का परित्याग करके सामान्य जनता की सरल भाषा एवं विचारधारा को अपनाने की प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। अथर्ववेद के समय-निर्धारण के लिये खास तौर से महत्त्वपूर्ण वे उदाहरण प्रतीत होते हैं जिनमें यह वेद ऋग्वेद से साम्य रखने वाले एक या इससे अधिक मन्त्रों को अपना बनाकर, उनमें अदल-बदल करके उन्हें कई मन्त्रों या एक पूरे सूक्त का रूप दे देता है। इस प्रकार अथर्व के १. १९. ३, ४[1] ये दो मन्त्र ऋग्वेद ६. ७५. १९[2] के ही विस्तृत स्वरूप दीख पड़ते हैं। इनमें रुद्र एवं उनके बाणों का निवेश करके अवे० ने इन्हें आथर्वणिक स्वरूप दे दिया है। अथर्व १. २२[3] अपने प्रथम और चतुर्थ मन्त्र में ऋ० १. ५०. ११, १२[4] के समान है; बीच के मन्त्र, जो एकदम मौलिक हैं, प्रथम एवं चतुर्थ मन्त्र के विषय को ही परिवर्हित एवं परिष्कृत करते हैं। इसी प्रकार अथ० ३. २४. १[5] = ऋ० १०. १७. १४[6] एक ऐसा विषय प्रतीत हुआ होगा जिसे परवर्ती कवि अन्नसंग्रहार्थ गीत के रूप में विकसित कर सकते थे। पुनः अथर्व १४. २. १७[7] के बाद—जो ऋ० १०. ८५. ८४[8] का प्रतिनिधि हैं—१८ वाँ मन्त्र आता है, जो आथर्वणिकों का अपना मौलिक है और शाब्दिक दृष्ट्या मन्त्र १७ से जुटा हुआ है, किंतु प्रस्तुत विचारधारा में किसी प्रकार की नवीनता नहीं लाता। अथर्व ७. ५०, जिसमें कि अनुष्टुभ् मन्त्र मौलिक हैं, किंतु त्रिष्टुभ् आम है, जिनका अदल-बदल के साथ उद्देश्य द्यूताभिचार की विशेषता को उभारना है, भी इस प्रकार के विश्लेषण में सहायक है। इस प्रकार के व्यक्तिगत विवेचन को इस तथ्य से और बल मिलता है कि अथर्ववेद मौलिक दीख पड़ने वाले मन्त्रों को उसी रूप में ग्रहण करता है, जिस रूप में कि वे याजुष संहिताओं में पढ़े गये हैं। इस बात के प्रत्यक्ष उदाहाण हैं—२. १९-२३[9] और ४. २३-२९[10] (तथाकथित मृगारसूक्त) देखिये आगे कं० प्र० ४५।

४४. *ऋग्वेद से तुलना करने पर अथर्ववेद में उच्च परंपरा के संकेत*—जहाँ तक इस बात के लिये सीधे साक्ष्य का प्रश्न है कि अथर्ववेद कुछ बातों में ऋग्वेदीय परंपरा से भी पहले की मन्त्रों की उस विस्तृत राशि तक पहुँच जाता है

१. यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति ॥ अ० १।१९।३ ab
२. यो नः स्वो अरणो यश्च निष्ट्यो जिघांसति ॥ ऋ० ६।७५।१९ ab
३. अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते ॥ अ० १।२२।१ ab
४. उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम् ॥ ऋ० १।५०।११ ab
५. पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः ॥ अ० ३।२४।१ ab
६. पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः। ऋ० १०।१७।१४ ab
७. अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः। अ० १४।२।१७ ab
८. अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः ॥ ऋ० १०।८५।४४ ab
९. अ० २।१९।१ (दे० पृ० ६५) से सूक्त २३ तक
१०. अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः। अ० ४।२३।१ a से सूक्त २९ तक

जहाँ से समग्र वैदिक धाराएं निकली हैं, इसे पूर्वविवृत साक्ष्य की अपेक्षा निर्बल ही मानना पड़ेगा। वेर्गेन्य तथा ओल्डेनवर्ग ने माना है कि इस प्रकार का साक्ष्य दोनों वैदिक शाखाओं के सूक्तों के कुछ वर्गों एवं सूक्तों के विन्यास से प्राप्त किया जा सकता है, और कम से कम जब तक पैप्पलाद की सामग्री का साक्ष्य हमारे सामने पूरी तरह नहीं आ पाता, तब तक इन विद्वानों के निष्कर्षों की संभावित प्रामाणिकता को ठुकराये विना, हम समस्या पर किसी प्रकार का 'हां' या 'ना' में निर्णय नहीं दे सकते।

ऐसा साक्ष्य जो छन्द, भाव एवं भाषा के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है कदाचित् ही इस बात को सिद्ध कर सके कि अथर्ववेद की परंपरा ऋक्-परंपरा की अपेक्षा अधिक उदात्त है। प्रासङ्गिक उदाहरण—जैसे कि ऋग्वेद के 'कुरु' के लिये अथर्ववेद का 'कृधि' और ऋग्वेद के 'सर्व' के लिये अथर्ववेद का 'विश्व', जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है—इस विषय में लचर-से दीख पड़ते हैं। अथर्ववेद १४. १. ४६ d का 'मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे', जिसके स्थान पर ऋग्वेद १०. ४. १० d में 'जनयः' पाठ मिलता है प्राचीनत्व कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है; और हो न हो, इस अस्पष्टार्थक मन्त्र का सामान्यरूप अथर्ववेद की अपेक्षा ऋग्वेद में अधिक विश्वसनीय मालूम पड़ता है। अथर्ववेद ६. २७. ३[1] b में ऋग्वेद १०. १६५. ३[2] का 'आष्ट्र्याम्' के स्थान पर आष्ट्री (पदपाठ 'आष्ट्री इति') प्राचीन सप्तमी है, जो अथर्ववेद को कुछ ऊँचा दरजा दिलाती है; किंतु इस बात को मन्त्र २ और ३ से समर्थन नहीं प्राप्त होता, जिसका ऋग्वेदीय स्वरूप छन्द की दृष्टि से कहीं खरा उतरता है। ऋग्वेद १०. ८७. ७ ab के 'उतालब्धं स्पृणुहि जातवेदालेभानाद् ऋष्टिभिर्यातुधानात्' के स्थान पर अथर्ववेद ८. ३. ७ ab में 'उतारब्धान् स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाम् ऋष्टिभिर्यातुधानान्' पाठ है; इसमें दो बार प्राचीन रूप 'रभ्' का प्रयोग है, जबकि ऋग्वेद में परवर्ती 'लभ्' मिलता है; किंतु ऋग्वेद का द्वितीय पाद छन्द की दृष्टि से अथर्व० की अपेक्षा अधिक अच्छा है और ऋग्वेद का अर्थ अधिक संबद्ध है (देखिये लुडविग का अनुवाद ४३०)। ऋग्वेद ३. ३०. ६ d के अर्थ-हीन पाठ 'विश्वं सत्यं कृणुहि विष्टमस्तु' के लिये अथ० ३. १. ४ c 'विश्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम्' इस पाठ की उत्तमता पर संदेह नहीं किया जा सकता भले ही ऋग्वेद का पाठ a अच्छा क्यों न सिद्ध होता हो। इसी प्रकार अथर्ववेद ९. ९. १० d[3] का 'अविश्वविन्नाम्' यह पाठ ऋग्वेद १. १६४. १०[4] के

१. हेतिः पुक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पुदं कृणुते अग्निधाने। अ० ६।२७।३ ab
२. हेतिः पुक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्र्यां पुदं कृणुते अग्निधाने। ऋ० १०।१६५।३ ab
३. विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम्। अ० ९।९।१० d
४. विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्। ऋ० १।१६४।१० d

'अविश्वमिन्वाम्' पाठ से अच्छा ही नहीं है, प्रत्युत यह उस प्रकार का है जिसे परवर्ती संशोधन नहीं कहा जा सकता; और जो प्रस्तुत मन्त्र की मौलिक परंपरा को मुखरित करता है। इसी प्रकार अथर्ववेद १४. १. ७[1] d का 'परिष्कृता' ऋग्वेद १०. ८५. ६ d[2] के 'परिष्कृतम्' से उच्चतर है; अथर्व १४. २. १०[3] b का 'जनाँ अनु' ऋग्वेद १०. ८५. ३१ b[4] के अर्थहीन 'जनादनु' से बढ़िया है। समय-समय पर अथर्ववेद में—जैसा कि सभी संहिताओं में—स्वतंत्र पाठभेद पाये जाते हैं, जिनकी भाषा और सामान्य स्वरूप मन्त्रों के दोनों स्रोतों में समानरूप से अच्छे हैं। इस प्रकार अथर्ववेद ६. २[5] यह छोटा सूक्त ऋग्वेद ७. ३२. ६, ८[6] से संबद्ध है, किंतु इसका घटन इतना स्वतन्त्र और प्राचीन है कि इसकी मौलिक रचना उच्चकोटि की एवं अच्छे युग की प्रतीत होती है। ऋग्वेद ६. ११. ४[7] का अथर्ववेद ३. ३. १[8] में परिवर्तन, अथर्ववेद द्वारा इसके अपना लिये जाने के कुछ लक्षणों के बावजूद भी (देखो आनुं नय पाद d) सरलता से ऋग्वेद की देन नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि यह उसी विचार-क्षेत्र में स्वतंत्र प्रयास हो; फिर इसकी भाषा और इसका समय भी ऋग्वेद से तुलना करने पर उनसे निम्नकोटि का नहीं ठहरता। वस्तुतः सारे अथर्ववेद में बहुत से पूर्णतः स्वतन्त्र स्वरूप वाले सूक्त एवं मन्त्र हैं, जो बहुत प्राचीनकाल की रचना प्रतीत होते हैं; केवल वे ही नहीं जो शुद्ध आथर्वणिक स्वरूप तथा प्रचलित शैली में हैं, अपितु वे भी, जो पौरोहित्य-संबन्धी सुन्दर भाषा में रचे गये हैं। इस प्रकार अथर्ववेद का युद्ध-दुन्दुभि-सूक्त ५. २०[9], ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों से परवर्ती हो सकता है, किंतु इसमें ऐसा कोई चिह्न नहीं है जो इसे बाद की रचना बना देवे अथवा ऋग्वेद ६. ४७. २९–३१[10] (अथ० ६. १२६[11] इत्यादि) के दुन्दुभि-मंत्रों से इसके परवर्ती होने का संकेत करे। इसी प्रकार आध्यात्मिक सूक्त ५. १ की भाषा, जो मन्त्र

१. गार्थयैति परिष्कृता। अ० १४।१।७ d
२. गार्थयैति परिष्कृतम्। ऋ० १०।८५।६ d
३. यच्मा यन्ति जनाँ अनु। अ० १४।२।१० b
४. यच्मा यन्ति जनादनु। ऋ० १०।८५।३१ b
५. इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत। अ० ६।२।१ ab
६. स वीरो अप्रतिष्कुतः। ऋ० ७।३२।६ a
७. अदिद्युतत्स्वपाको विभावाग्ने। ऋ० ६।११।४ a
८. अचिक्रदत्स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची। अ० ३।३।१ ab
९. उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन्। अ० ५।२०।१ a
१०. ऋ० ६।४७।२९ a (दे० पृ० ८० पर)
११. अ० ६।१२६।१ a (दे० पृ० ८० पर)

६ = ऋ० १०. ५. ६[1] को छोड़कर मौलिक है, इस प्रकार की नहीं है कि वह इस अंदाज को सही बता सके कि यहाँ किसी परवर्ती कवि की प्रतिभा ऋषियों की शैली एवं विचारों में डूबकर उन्हीं के समान उच्च या अवर कोटि के छन्दों का निर्माण करने में समर्थ हो गई थी। ६. ६१[2] जैसे सूक्त की भी तुलना करनी उचित है। परिणाम इसका यह निकलता है कि समष्टि पर ध्यान देते हुए अथर्ववेद प्राचीन परंपरा का वहन केवल प्रचलित अभिचारों में ही नहीं करता, अपितु किसी सीमा तक इसके पौरोहित्य-संवन्धी विषय भी उस स्वतन्त्र परंपरा की देन हैं, जो अन्य वेदों के संग्रहकर्ताओं से किसी तरह चूक गई थी और इस विषय में इस वात का ऋग्वेद भी अपवाद नहीं है।

४५. *आथर्वण उद्देश्यों के लिये याजुष विषयों को अपनाना और उनमें वृद्धि करना*—अथर्ववेद एवं ऋग्वेद के पारस्परिक संवन्ध के विषय में जो विवेचन ऊपर हुआ है वह समष्टि रूप से इस विषय में आजकल प्रचलित धाराओं का समर्थक है और यह वात संभव नहीं प्रतीत होती कि आगे भी कभी इन धारणाओं की सत्यता में कमी आ पाएगी। जहाँ तक अथर्ववेद एवं यजुःसंहिताओं के पारस्परिक संवन्ध का प्रश्न है, विद्वानों में यह धारणा आम है कि याजुष संग्रहों के साथ तुलना करने पर अथर्ववेद अपने परिनिष्ठित रूप में याजुष संहिताओं से पहले समय का ठहरता है।

यदि सचमुच यह विचारधारा आम है तो एतद्विषयक तथ्यों से इसकी पुष्टि नहीं हो पाती। उलटे दोनों वर्गों की विस्तृत तुलना से ज्ञात होता है कि अथर्ववेद का संस्करण याजुष संस्करणों से तुलना करने पर उसी स्थान पर जा टिकता है जो इसे ऋग्वेद के साथ तुलना करने मिलता है। दोनों वेदों में जो अंश समान हैं वे अथर्ववेद की अपेक्षा यजुर्वेद में अधिक स्वारसिक एवं मौलिक विनियोग में दिखाई पड़ते हैं। अथर्ववेद के मन्त्रों को गौण उद्देश्य के लिये अपनाने एवं वर्गीकृत करने की प्रवृत्ति पूर्णतः प्रमाणित है। फिर अथर्व-संस्करणों के रचयिताओं ने—जैसा कि सचमुच संभव है—कुछ ऐसे विषय भी संकलित कर लिये होंगे, जिन पर याजुष-संस्करण-कर्ताओं का ध्यान न गया होगा, या जो इन संस्करणों की समाप्ति के पहले प्रयोग में प्रचलित नहीं रह गये होंगे। कुछ भी हो अथर्व-संस्करण को याजुष संस्करण से पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता। इस विषय में सबसे बड़ा प्रमाण यजुस् के पाठों की सामान्य उपादेयता उतनी नहीं है जितनी कि वे विधियाँ, जिनके द्वारा अथर्ववेद पूर्णरूपेण याज्ञिक मन्त्र को निम्नकोटि के लौकिक आख्यानों एवं यातुक्रियाओं में टाँक देता है। ऐसी अवस्थाओं में अथर्वन् की दृष्टि याजुष अभिचार मन्त्रों एवं सूत्रों की तरह बृहद् उद्देश्यों एवं अनुष्ठानों पर नहीं रहती, वह तो मन्त्रों

१. सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात्। अ० ५।१।६ ab

२. मह्यमापो मधुमदेरयन्ताम्। अ० ६।६१।१ a

को आथर्वणिक जामा पहराने पर टिकी रहती है। इस बात को प्रमाणित करने के लिये कि अथर्ववेद में यह प्रवृत्ति बलवती है कुछ उदाहरणों का विस्तार में विवेचन करना उचित प्रतीत होता है:—

मैत्रायणी संहिता १. ५. २;[१] आप० श्रौ० सू० ६. २१. १[२] में ५ मन्त्र अग्नि के प्रति कहे गये हैं, जिनमें उन्हें अपनी अनेकविध दाहक शक्तियों द्वारा उस व्यक्ति को जला डालने की प्रार्थना की गयी है 'जो हमसे घृणा करता है अथवा जिससे हम घृणा करते हैं।' ये ही ५ मन्त्र अथर्व २. १९[३] में भी मिलते हैं, किंतु इनके बाद ४ मन्त्र और हैं जिनमें वायु, सूर्य, चन्द्र और आप् (जल) की भी उन्हीं शब्दों में स्तुति की गयी है। वायु, सूर्य, चन्द्र और जल के दाहक गुणों अर्थात् तपस्, हरस्, अर्चिस्, शोचिस् और तेजस् का वर्णन निःसंदेह परवर्ती याज्ञिक प्रार्थनाओं के विकास के साथ संभव है। फिर भी श्रौत ग्रन्थों में इन ५ प्रार्थनाओं का अग्नि के लिये ही पाया जाना इनके मौलिक स्वरूप को सूचित करता है। इन्हें लेकर अथर्ववेद ने एक बड़े पञ्चक (२५ सूत्रों) का पसारा फैला डाला है जो कौशिक सूत्र ४७[४] में आङ्गिरस-विधानों (द्वेष-पूर्ण अभिचार) में दी जाने वाली प्रारम्भिक आहुतियों के समय विहित है। किंतु इसके आगे का देवताओं का पञ्चक स्वरसतः आथर्वणिक है। जहाँ ब्राह्मणीय ग्रन्थ सामान्य रूप से अनेक बार एक पार्थिव वैदिक त्रिगुट—यथा अग्नि-पृथ्वी-ऋग्वेद आदि, वायु-अन्तरिक्ष-यजुर्वेद आदि, सूर्य-द्यु-सामवेद आदि-को उपस्थित करते हैं, वहाँ आथर्वण ग्रन्थ इस त्रिगुट में 'चन्द्रमा' को जोड़कर 'चतुष्टय' अथवा चन्द्रमस् और जल को जोड़कर पञ्चक की ऊहा कर लेते हैं—जैसे कि देखिये कौशिक १. १९. २, ३;[५] गो० ब्रा० १. १. १७. २०; २९; २. १६, २४[६] इत्यादि में। इसमें संदेह नहीं कि

१. त्वमग्ने सूर्यवर्चा असि, सं मामायुषा वर्चसा सृज, सं त्वमग्ने सूर्यस्य ज्योतिषागथाः ॥
मै० सं० १।५।२।१८ इत्यादि ५ मन्त्र

२. वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यायुष्कृदायुः पत्नी स्वधा वो गोप्त्र्यो मे स्थ गोपायत या रक्षत मात्मसदो मे स्थ।······आप० श्रौ० सू० ६।२१।१

३. अ० २।१९।१ (दे० पृ० ६५)

४. उभयतः परिच्छिन्नं शरमयं वर्हिराभिचारिकेषु········कौशिक सू० ४७

५. ········अग्नये स्वाहा। कौ० सू० ११९।२
वायो सूर्य चन्द्रेति च ॥ कौ० सू० ११९।३

६. तस्य प्रथमया स्वरमात्रया········तस्य वकारमात्रयापश्चन्द्रमसमथर्ववेदम्········
गो० ब्रा० १।१।१७-२०
········अथर्वणां चन्द्रमा दैवतं तदेव ज्योतिः गो० ब्रा० १।१।२९
········चत्वारो वा इमे देवा अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमाश्चत्वारो वा इमे वेदाः········
गो० ब्रा० १।२।१६
········स हि ब्रह्मत्वं वेद चन्द्रमा वै ब्रह्मापो वै भृग्वङ्गिरसामायतनं चन्द्रमा देवता········वही १।२।२४

प्राचीन अग्नि-सूक्त यजुर्वेद की मौलिक राशि थे और अथर्ववेद ने उनका विस्तार अपने उन विचारों से मेल बिठाने के लिये किया है, जिनका समय उपलब्ध याजुष सग्रहों के समान पुराना नहीं है।

अथ० ४. २३-२९[1] 'मृगार-सूक्तानि' का इतिहास भी कुछ इसी प्रकार का है। प्रथम तो हमें इस बात पर ध्यान देना है कि यह प्रार्थना ७ मन्त्रों वाले ७ सूक्तों की है, अर्थात् यह एक द्वितीय श्रेणी का सप्तक है। यह संख्यात्मक एकता, जो स्वयं संदेहजनक है, गौण प्रयोग को सूचित करती है, जैसा कि इसके पहले आने वाले पञ्चकों में हम देख चुके हैं। पूरी प्रार्थना का उद्देश्य—जैसा कि इसकी टेक से स्पष्ट है—विपत्ति को दूर भगाना है (मुञ्च अंहसः)। इन सूक्तों का घटन इस प्रकार का है: ४. २८[2] को छोड़कर प्रत्येक सूक्त का आद्य एवं अन्तिम मन्त्र यजुर्मन्त्र है जो याजुष संहिताओं में 'याज्या पुरोऽनुवाक्याः' के रूप में प्रयुक्त हैं: तै० सं० ४. ७. १५,[3] मै० सं. ३. १६.[4] ५, काठक सं० २२. १५[5]। दूसरी ओर अथर्ववेद में मध्यवर्ती मन्त्र मुख्य रूप से मौलिक हैं। अब यह कल्पना करना आसान है कि यजुर्मन्त्र लम्बे सूक्तों में से ले लिये गये हैं, यद्यपि ऐसी कल्पना के लिये कोई पक्का आधार नहीं है। यह बात निश्चय के साथ कही जा सकती है कि ये मन्त्र संबद्ध अथर्व-संग्रहों में से नहीं लिये गये हैं। तो फिर हमेशा मंत्र १ और ७ का ही चुनाव क्यों हुआ? इससे भी बड़ी बात, जो कि इस विषय में किसी सीमा तक निर्णायक बन सकती है, यह है कि १ और ७ के मध्यवर्ती मन्त्र (२-६) अथर्ववेद में गौण रूप से बाद को जोड़ दिये गये हैं। यह बात ४. २९[6] में भलीभांति देखी जा सकती है। मन्त्र १ और ७ साधारण कोटि के मन्त्र हैं; और वे मित्र और वरुण की स्तुति ऐसी भाषा में करते हैं जो आकर्षक नहीं है। दूसरी ओर मन्त्र २ अपने प्रथम अर्धर्च में मन्त्र १ के दूसरे और चौथे पादों को ही अपना लेता है और उसमें उन प्राचीन ऋषियों की एक सूची को जोड़ देता है जिनकी मित्र और वरुण ने प्राचीनकाल में संकट के समय सहायता की थी। ये परंपरागत ऋषि ब्रभ्रु, अङ्गिरस्, अगस्ति, जमदग्नि, अत्रि आदि हैं। इन मन्त्रों के रचयिताओं की नीरसता स्पष्ट है। मन्त्र ३ और ४ में वह अत्रि के नाम को दुहराता है, किंतु सूक्त की समष्टि प्रंशसात्मक है। इस बात को बताने के लिये

---

१. अ० ४।२३।१ (दे० पृ० ८२)

२. भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद्विरोचते। अ० ४।२८।१ ab

३. अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसो यं पाञ्चजन्यं बहवः समिन्धते।······तै० सं० ४।७।१५

४. अग्ने मन्वे प्रथमस्यामृतानां यं पाञ्चजन्यं बहवः समिन्धते।······मै० सं० ३।१६।५

५. अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसो यं पाञ्चजन्यं बहवस्समिन्धते।······का० सं० २२।१५

६. मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ। अ० ४।२९।१ a

मध्यवर्ती मन्त्रों का सूक्ष्म निरीक्षण करने की आवश्यकता नहीं कि उनमें भी बाह्य मन्त्र केवल संगीत के लिये जोड़े गये हैं; और शेष ऐसे परवर्ती कवि की कृति हैं, जो अपनी मामूली सी प्रतिभा पर आश्रित है और कभी-कभी कुछ स्थानों पर पूर्व निर्मित मन्त्रों या पादों तक को समेट लेता है। दूसरी ओर इस शृङ्खला का एक पूरा मौलिक सूक्त ४. २८[1] भव और शर्व के प्रति है। इन लोकप्रिय देवताओं का वैदिक देवताओं के प्रति कहे गये निविद्स्वरूप आह्वान-मन्त्रों में अभाव नहीं रहा होगा (तुल० अथ० ११.२[2])। अपनी मौलिकता के साथ ही साथ अथ० ४. २८ अपने विशिष्ट आथर्वणिक स्वभाव को भी दिखा ही देता है। (देखो मन्त्र ६ में 'कृत्याकृत्' और 'मूलकृत्', मन्त्र ७ में 'किमीदिन्')। यह सूक्त स्पष्ट रूप से उस विचार-क्षेत्र में आ गया है, जहाँ से मृगारमन्त्र प्रादुर्भूत हुए हैं, और स्वयं संख्यात्मक योजनाओं के आधार पर निर्माण और स्वकालीन लोक-प्रसिद्ध देवताओं के प्रति प्रार्थना करने की आथर्वणिक विचार-धारा से ओतप्रोत है।

पिछले विश्लेषण से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अथर्ववेद यजुर्वेद के गद्यों को स्पष्टतः गौण रूप में ग्रहण करता है, और याजुष सूक्त और यजुर्मन्त्र दोनों बहुधा ऐसे विषयों में प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें आथर्वणिकों ने नये विषयों को जोड़कर उन्हें अपनी योजना के अनुकूल बना लिया है। उदाहरणार्थ १०. ५ जल के प्रति अभिचार है और यह एक लम्बी एवं नीरस प्रार्थना है। यह अंशतः याजुष गद्य में और अंशतः निम्नकोटि के छन्द में है। इसमें 'इन्द्रस्यौज स्थ' (वाज० सं० ३७, ६) और 'विष्णोः क्रमोऽसि' (तै० सं० ४. २. १) जैसे मन्त्र विषय के रूप में प्रयुक्त हैं; इन्हें एकदम बदल दिया गया है। यह हरगिज नहीं कहा जा सकता कि यजुर्वेद ने इन मन्त्रों को अथर्ववेद से लिया है; और इस बात में भी संदेह नहीं उठना चाहिये कि अथर्ववेद ने इन विषयों को उस समय ग्रहण किया था जब कि ये श्रौतग्रन्थों की विशिष्ट क्रियाओं के विनियोग के रूप में पूर्ण रूप से प्रचलित हो चुके थे। इसी प्रकार अथ० ५. २४.[3], भी एक लम्बी प्रार्थना है, जिसमें सभी देवताओं से सहायता की मांग की गई है—'अस्मिन् ब्रह्मणि, अस्मिन् कर्मणि, अस्यां पुरोधायाम्' इत्यादि।

कौशिकसूत्र १७. ३०[4] के अनुसार इस अंश का गान पुरोहित का कार्य ग्रहण करते समय किया जाता है, जो एक गौण एवं आथर्वणिक प्रयोग है। हर दृष्टि से इनका आथर्वणिक प्रयोग यजुर्वेद के सूक्त से गौण है:

१. ४।२८।१ ab (दे० पृ० २६)

२. भवाशर्वौ मृडतं माभि यातम्। अ० ११।२।१ a इत्यादि ३१ मन्त्र

३. सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु। अ० ५।२४।१ a इत्यादि।

४. सविता प्रसवानामिति पौरोहित्ये······। कौ० सू० १७।३०

तै० सं० ३. ४. ५,[1] मै० सं० २. ६.[2] ६., तै० ब्रा० ३. १२. ४.,[3] शां० श्रौ० सू० ४. १०. १–३,[4] पारस्कर गृ० सू० १. ५. १०.,[5] हिरण्यकेशी गृ० सू० १३. १०, ११.;[6] और कुछ भी न कहा जाय तब भी यजुर्वेद के 'अस्मिन् ब्रह्मन्' के स्थान पर अथर्ववेद का 'अस्मिन् ब्रह्मणि' प्रयोग इसके परवर्ती होने को और पौरोहित्य-संबन्धी क्षेत्र से प्रचलित क्षेत्र में लाये जाने को सूचित कर ही देता है। इसी प्रकार अथ० २. १७ जैसे गद्यसूक्त, जिनमें 'ओजोऽसि ओजो मे दाः स्वाहा' जैसे मन्त्र हैं, अपने पूर्ववर्ती याजुष सूक्तों की ओर संकेत करते हैं, जिन्हें विशेष उद्देश्य से प्रार्थनाओं के रूप में विकसित किया गया है। तुलना करो वा० सं० १९. ९.,[7] तै० ब्रा० २. ६. १.[8] ५ इत्यादि। जहाँ तक एक या दो यजुर्मन्त्रों का पूरे सूक्त के विषय के रूप में प्रयोग का प्रश्न है, ऐसे उदाहरण तो बहुत अधिक हैं और असंदिग्ध हैं। इस प्रकार अथ० १. ३१ इस प्रसिद्ध मन्त्र के साथ प्रारम्भ होता है: आशाना-माशापालेभ्यः' तै० ब्रा० २. ५. ३. ३.,[9] ३. ७. ५–८., आश्व० श्रौ० सू० २. १०. १८.,[10] आप० श्रौ० सू० ४. ११. १[11] इत्यादि; किंतु सूक्त के अन्य मन्त्र अथर्ववेद से बाहर और कहीं नहीं मिलते। इस संभावना को दूर करने के लिये कि यजुर्वेद ने इस सूक्त के मन्त्रों को अथर्ववेद से लिया है, मन्त्र २ a b को देख लेना आवश्यक है। यहाँ अथर्ववेद ने पहले मन्त्र के विषय को आथर्वणिक साँचे में ढाल लिया है। इस बात के लिये इससे बढ़कर उदाहरण शायद ही मिल पावे। अथ० १. ३५., जो दाक्षायण यन्त्र के प्रति कहा गया है, इसी प्रकार का है[12]।

---

१. तानि पृथङ् नानादेवतेषु। तै० सं० ३।४।५

२.·········सोमो वनस्पतीनां बृहस्पतिर्वाचामिन्द्रो ज्यैष्ठ्यानाम्······मै० सं० २।६।६

३.······अग्ने पृथिवीपते। सोम वीरुधां पते। त्वष्टः समिधां पते।···तै० ब्रा० ३।११।४

४.·········अग्ने पृथिव्या अधिपते वायोऽन्तरिक्षस्याधिपते सवितः प्रसवानामधिपते···
शां० श्रौ० सू० ४।११।१-३

५.·········अग्निर्भूतानामधिपतिः······वायुरन्तरिक्षस्य सूर्यो दिवश्चन्द्रमा नक्षत्राणां···
सवितां प्रसवानाम्······पार० गृ० सू० १।५।१०

६. अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावतु। इत्यभ्यातानान्। हिरण्य० गृ० सू० १।३।१०

७.······ओजोस्योजो मयि धेहि······वाज० सं० १९।९

८.······ओजोऽस्योजो मयि धेहि······तै० ब्रा० २।६।१-५

९.······आशानां त्वाऽऽशापालेभ्यः। तै० ब्रा० २।५।३।३
आशानां त्वाऽऽशापालेभ्यः। चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः।······तै० ब्रा० ३।७।५।८

१०.······आशानामाशापालेभ्यो वा। आ० श्रौ० सू० २।१०।१८

११. अथैनं प्रतिदिशं व्यूहत्याशानां त्वाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः।·········
आप० श्रौ० सू० ४।११।१

१२. यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यम्। अ० १।३५।१ a

इसके प्रथम दो मन्त्र वाज० सं० ३४. ५१, ५२[1]। ऋग्वेद खिल १०. १२८. ८.[2] ९ में मिल जाते हैं। अन्तिम दो मौलिक हैं, केवल ४। cd को छोड़कर सूत्रात्मक है (अथ० ८. २. २१[3])। यहाँ भी प्रतीत यह होता है कि आथर्वणिकों ने एक प्रचलित विषय को उधार लेकर अपनी योजनाओं के अनुरूप एक ठोस सूक्त का निर्माण कर लिया है। पुनः अथ० ३-१९[4] ऐसे मन्त्र से प्रारम्भ होता है जो वा० सं० ११. ८१,[5] तै० सं० ४. १. १०.[6] ३., मै० सं० २. ७ ७[7] में मिलता है। इसके बाद मन्त्र ३ के cd ये दो पाद आते हैं जो याजुष पाठ के तारतम्य को उपस्थित करते हैं। अथर्व-मन्त्रों के मिश्रित घटन से यह कल्पना उत्पन्न होती है कि उनका सूक्त सम्यक्-संबद्ध याजुष मन्त्रों के जोड़ों का विस्तारमात्र है। मन्त्र २ घिसा-पिटा है, मन्त्र ३ ab ने व्यवस्थित याजुष पाठों के अनुष्टुप् के स्थान पर त्रिष्टुभ् छन्द को अपनाया है, जो छन्दों में व्यवधान डालता है और जिसकी शैली गौण रूप में आथर्वणिक है। सबके ऊपर मन्त्र १ a में 'इदम्' का प्रयोग पाद को अशुद्ध रूप से नियमित (अन्त में ⏑ – – ⏓) करता है और अर्थ को बदल देता है ('इदं ब्रह्म'='यह अभिचार' ब्रह्म='ब्राह्मणत्व' के लिये है) यदि हम अथर्ववेद के सूक्तों का याजुष-मन्त्रों के आधार पर संगृहीत हुआ होना मान लें तो इस प्रकार की सब बातें स्पष्ट हो जाती हैं। किंतु यह मानना सर्वथा असंगत होगा कि यजुर्वेद ने मन्त्र १ और ३ को अपनाकर उनका रूप बदल दिया है। और यही बात लागू होती है अथ० ६. ६३[8] पर जिसके पहले मन्त्र = मै० सं० ३. ११. १०.,[9] तै० ब्रा० १. ४. ८. ३[10] ने सूक्त के विषय का काम दिया होगा। अन्य दो मन्त्र अन्यत्र कहीं नहीं पाये जाते और वे इस प्रकार के नहीं हैं कि विषय के परिवर्तन के कारण उनके परवर्ती होने को असत्य ठहराया जा सके। यद्यपि वे पूर्णरूप से पौरोहित्य-संबन्धी भाषा के दायरे में आ जाते हैं। फिर देखिये अथर्ववेद ७. २०[11] को जो अनुष्टुभ् मन्त्रों से प्रारम्भ होता है, जो यजु-

१. यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यम्······वा० सं० ३४।५२

२. यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यम्······ऋ० खिल० १०।१२८।८ a

३. इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः। अ० २।३५।४ cd; ८।२।२१ cd

४. संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम्। अ० ३।१९।१ ab

५. संशितम्मे ब्रह्म संशितं व्वीर्य्यम्बलम्। वाज० सं० ११।८१

६.······संशितं मे ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्······। तै० सं० ४।१।१०।३

७.······संशितं मे ब्रह्म संशितं वी ३र्यं बलम्। मै० सं० २।७।७

८. वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः। अ० ६।६२।१ ab इत्यादि

९. वैश्वानरो रश्मिभिर्मा पुनातु वातः प्राणेनेषिरो मयोभूः। मै० सं० ३।११।१०

१०. वैश्वानरो रश्मिभिर्मा पुनातु वातः प्राणेनेषिरो मयोभूः।······तै० ब्रा० १।४।८।३

११. अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम॥ अ० ७।२०।१

वेद में भली-भाँति परिचित हैं; तै० सं० ३. ३. ११[१] मै० सं० ३. १६, ४.;[२] इसके बाद सूक्त में ४ त्रिष्टुभ् मन्त्र हैं, जो मौलिक हैं। प्रतीत तो यह होता है कि याजुष मन्त्र ही सूक्त के विषय हैं। यजुर्वेद के 'मयः' के स्थान पर अथर्व० १ d का 'मम' पाठान्तर इसी धारणा को पुष्ट करता है। अथ० १. २०[३] और २१[४] : इन दो युद्ध-अभिचारों के संबन्ध में थोड़ा अन्तर है, जो मुख्यतः उस मन्त्र-राशि पर आधृत हैं जो ऋग्वेद १०. १५२[५] में मिलती है। परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं : ये दो सूक्त जिनमें कुल मिलाकर ८ मन्त्र हैं अन्तिम ५ मन्त्रों में ऋग्वेदीय सूक्त से मेल खाते हैं। प्रथम तीन मन्त्र तुकबन्दी हैं; मन्त्र १ = तै० ब्रा० ३-७. ५. १२.,[६] आप० श्रौ० सू० २. २०. ६.;[७] मन्त्र २ = आश्व० श्रौ० सू० ५. ३' २२.[८]। यहाँ निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि प्रथम मन्त्र पूरे सूक्त का विषय है, किंतु इतना निश्चित है कि जब अथर्व-संग्रह एकत्र किया गया तब इसका पहला मन्त्र यजुष् के रूप में विद्यमान था। यजुर्वेद ने चाहे जहाँ से इसे लिया हो पर अथर्ववेद से नहीं लिया है। ज्यादा संभावना तो इससे उलटी है।

४६. *अथर्ववेद और याजुष संहिताओं के विविध पाठ*—अथर्ववेद के पाठों की यजुर्वेद के पाठों से विस्तृत तुलना करने पर अथर्ववेद निम्नकोटि का ठहरता है। अथर्ववेद की परंपरा सभी प्रकार से याजुष परंपरा से नीचे दरजे की है। इसके छन्द यत्र-तत्र विशृङ्खल हैं, व्याकरण के रूप और रचनाएँ अव्यवस्थित हैं और इनमें इनके अन्य स्थानों से अपनाये जाने के लक्षण भी स्पष्ट हैं। इस प्रकार अथर्ववेद २. ६,[९] वाज० सं० २७. १.,[१०] तै० सं० ४. १. ७. १.,[११] मै० सं०

---

१. अनु नोऽद्यानुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मयः॥ तै० सं० ३।३।११

२. अन्वद्य नो अनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतं दाशुषे मयः॥ मै० सं० ३।१६।४

३. अदारसृद्भवतु देव सोमास्मिन्यज्ञे मरुतो मृडता नः। अ० १।२०।१ ab इत्यादि

४. स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। अ० १।२१।१ ab इत्यादि

५. शास इत्था महाँ अस्यमित्रखादो अद्भुतः। ऋ० १०।१५२।१ ab इत्यादि
यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते। अ० १।२०।२ a

६.……अदारसृद्भवत देव सोम अस्मिन्यज्ञे मरुतो मृडता नः। तै० ब्रा० ३।७।५।१२

७.……अदारसृद्भवत देव सोमास्मिन्यज्ञे मरुतो मृडता नः। आप० श्रौ० सू० २।२०।६

८.……पश्चादुपविश्य जयन्ति यो अद्य सौम्यो वधोऽधायूनामुदीरति………।
आ० श्रौ० सू० ५।३।२२

९. समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या। अ० २।६।१ ab इत्यादि

१०. समास्त्वाग्नऽऋतुवो व्वर्द्धयन्तु संव्वत्सराऽऋषयो यानि सत्त्या। वा० सं० २७।१

११. समास्त्वाऽग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या। तै० सं० ४।१।७।१

२. १२. ५[1] में महत्त्वहीन पाठान्तरों के साथ फिर-फिर आता है और यह स्थिति मन्त्र ४ तक चालू रहती है। यहाँ अथर्ववेद में त्रिष्टुभ् के बीच में तृतीय पाद 'सजातानां मध्यमेष्ठा' है, जिसके लिये मैत्रायणी संहिता में 'सजातानां मध्य-मेष्ठेयाय' पाठ है, जो छन्द एवं अभिप्राय की दृष्टि से ऊँचे दरजे का प्रतीत होता है। छान्दस अनियमितता के अतिरिक्त अथर्ववेद 'मध्यमेष्ठाः' को अग्नि के साथ समन्वित करता है, जिसके साथ इसका उतना मेल नहीं बैठता जितना कि प्रार्थना करने वाले यजमान के साथ; क्योंकि यजमान ही तो अपने प्रतिद्वन्द्वियों के बीच सर्वोच्च स्थान पाने की कामना करता है। अन्य याजुष पाठों में 'सजातानां मध्यमस्था एधि' है जो छन्द की दृष्टि से अच्छा है किंतु पक्के भरोसे का नहीं। द्वितीय पाद तो सभी यजुषों में श्रेष्ठ है। अथ० २-२८. ५ a[2] में अन्य पाठों के 'कृधि' के स्थान पर 'नय' का प्रयोग उसकी अपनी प्रवृत्ति को सूचित करता है: देखिये तै० सं० २. ३. १०. ३,[3] मै० सं० २. ३. ४.[4], तै० ब्रा० २. ७ ७.[5] ५, तै० आ० २. ५. १[6]। अथर्व का २. २९. ३[7] मन्त्र, जो वैतान सूत्र २२. १६[8] में उद्धृत है, पाठान्तरों के साथ दुहराया गया है: मै० सं० १७. १२. ३,[9] काठक सं० ५. २,[10] तै० सं० ३. २. ८. ५,[11] कात्या० श्रौ० सू० १०. ५. ३[12]। इन सभी में कठिन द्विवचन 'धत्तम्' और 'सचेतसौ' को एकवचन 'दधातु' और 'सवर्चसम्' (काठ० सं० सुवर्चसम्) में बदल दिया गया है, और ये सभी 'आशीर्' को 'आशिर' (= सोम में मिलाया गया दूध) प्रथमा का एकवचन मानते हैं—जिसके लिये खासतौर से देखिये: वै० सू० और कात्या० श्रौ० सू० (आशिरम्)। ऐसा रूप अथर्ववेद में नहीं मिलता, क्योंकि यहाँ तो आशीर् प्रार्थनार्थक 'आशिष्' का प्रथमा एकवचन है। द्वितीय पाद में द्विवचन 'धत्तम्' मन्त्र ४ के 'द्यावापृथिवी' को संकेतित करता प्रतीत होता है; जैसा कि सायणा-

---

१. समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या। मै० सं० २।१२।५
२. इममग्न आयुषे वर्चसे नय। अ० २।२८।५ a
३. इममग्न आयुषे वर्चसे कृधि……। तै० सं० २।३।१०।३
४. इमसग्ना आयुषे वर्चसे कृधि। मै० सं० २।३।४
५. इममग्न आयुषे वर्चसे कृधि……। तै० ब्रा० २।७।७।५
६. इममग्न आयुषे वर्चसे कृधि। तै० आ० २।५।१
७. आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ। अ० २।२९।३ a
८. आशिरं पूतभृत्यासिच्यमानमाशीर्ण ऊर्जमित्यनुमन्त्रयते। वै० सू० २२।१६
९. आशीर्ना ऊर्जमुत सुप्रजास्त्वमिषं दधातु द्रविणं सवर्चसम्। मै० सं० ४।१२।३
१०. आशीर्म ऊर्जमुत सुप्रजास्त्वमिषं दधातु द्रविणँ सवर्चसम्। का० सं० ५।२
११. आशीर्म ऊर्जमुत सुप्रजास्त्वमिषं दधातु द्रविणं सवर्चसम्। तै० सं० ३।२।८।५
१२. आशीर्म ऊर्जमुत सुप्रजास्त्वमिषं दधातु द्रविणं सुवर्चसम्। का० श्रौ० सू० १०।५।३

चार्य ने निःसङ्कोच स्वीकार किया है। यजुर्वेद के 'सुप्रजास्त्वम्' के स्थान पर अथर्ववेद के 'सौप्रजास्त्वम्' पर भी ध्यान दीजिये जो अजनवी-सा दीख पड़ता है। अथर्ववेद का दूसरा मन्त्र दो व्यक्तियों पर लागू होता है जो रोग को एक दूसरे पर झाड़ने की क्रिया में संलग्न हैं। यजुर्वेद के पाठ में ऐसी कोई वात नहीं है और वहाँ इस पाठ की मौलिकता के विषय में भी संदेह नहीं किया जा सकता। अथ० २. ३४. १ में 'य ईशे पशुपतिः पशूनाम्' छन्द की दृष्टि से तै० सं० ३. १. ४. १[1] के 'येषामीशे' से निम्नकोटि का है तथा इसी प्रकार मन्त्र २ में 'प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतः' तै० सं० के 'प्रमुञ्चमानः' आदि से निम्न स्तर का है। अथ० ३. १३[2] कुछ मन्त्रों को, नदी को नयी धारा में प्रवाहित करने की क्रिया के लिये अपनाता है; प्रथम छः मन्त्र तै० सं० ५. ६. १. २–४[3]; मै० सं० २. १३. १[4] में जल की आहुतियों (कुम्भेष्टकाः अथवा अपां ग्रहाः) के संवन्ध में प्रयुक्त हुए हैं, जो स्पष्टरूप से याजुष विधान से परिचित हैं। अथर्ववेद में और जगह की भाँति यहाँ भी शेष सूक्त केवल अलंकरण के लिये वाग्जालमात्र है। सातवाँ और अन्तिम मन्त्र मौलिक हैं जो सूक्त और विधान को परिवर्तित कर देते हैं। इसी प्रकार मन्त्र ५ d 'आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्' त्रिष्टुभों के बीच में एक जगती है और यह यजुष् के 'आ मा प्राणेन सह वर्चसा गन् (वर्चसागन्)' से अर्वाचीन और निम्नस्तर का है। अथ० ३. १४. २, ३[5] का पाठ मै० सं० ४. २. १०[6] से निम्नकोटि का प्रतीत होता है। यहाँ अथर्ववेद के अनुष्टुभ् के वदले गायत्री का प्रयोग और कुछ पाठ-भेद, जैसे अवे० के 'पूषा' के स्थान पर 'पोषा', अविभ्युषीः के स्थान पर 'अविह्रुताः', और 'करीषिणीः' के लिये 'पुरीषिणीः' अधिक अच्छा प्रभाव डालते हैं। यजुष् के विषय को अथर्ववेद में परिवर्तित करने की गड़बड़ को आप्री सूक्त ५. २७[7] से अधिक अन्य कोई सूक्त प्रकट नहीं करता। यह आप्री सूक्त सभी याजुष संहिताओं में

---

१. ······ओषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः। येषामीशे। तै० सं० ३।१।४।१

२. यददः संप्रयतीरहावनदता हते।
तस्मादा नद्यो ३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः॥ अ० ३।१३।१

३. ······यददः संप्रयतीरहावनदता हते।······तै० सं० ५।६।१।२-४

४. यददः संप्रयतीरहा अनदता हते।······मै० सं० २।१३।१

५. सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः।
समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यत यद्वसु॥ अ० ३।१४।२

६. सं वः सृजत्वर्यमा सं पोषा सं बृहस्पतिः।
समिन्द्रो यो धनंजयः॥········मै० सं० ४।२।१०

७. ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः। अ० ५।२७।१ ab इत्यादि

में दुहराया गया है : वाज० सं० २७. ११. २२[1], तै० सं० ४. १. ८[2], मै० सं० मै० सं० २. १२. ६[3], काठक सं० १८. १७[4], कपिष्ठल सं० २९. ५[5]। जहाँ एक ओर ये संहिताएँ मुख्यतः समान हैं, वहाँ आथर्वणपाठ शब्द और छन्द की दृष्टि से इतना भ्रष्ट है कि इसका अनुवाद करना कठिन हो जाता है। विशेषतः द्वितीय मन्त्र का प्रथम पाद अथर्ववेद में प्रथम मन्त्र का चतुर्थ पाद है और इस प्रकार वह द्वितीय मन्त्र को इसके आप्री देवता तनूनपात् से वञ्चित कर देता है और मन्त्र १ पर 'समिध्' और 'तनूनपात्' इन दो को लाद देता है। छन्द की दृष्टि से मन्त्र १०–१२ खिचड़ी-मात्र हैं। अथ० ६. ३८[6] का तै० ब्रा० २. ७. ७. १[7] में आने वाला पाठ अधिक प्रारम्भिक पाठ की ओर इशारा करता है; टेक में 'एतु' के लिये 'आगन्' और ४ b में 'वाजे' के स्थान पर 'क्रन्द्ये' प्राचीन हैं; और 'मायौ' के ठीक समानान्तर है। अथ० २ b का 'त्विषिर् अप्सु गोषु या पुरुषेषु' तै० ब्रा० के 'त्विषिर् अश्वेषु गोषु' की तुलना में शब्दों एवं छन्द की दृष्टि से लचर प्रतीत होता है। इसके विपरीत अथ० ४ a का 'राजन्ये' (=निए) तै० ब्रा० के 'राजन्ये' से अच्छा जंचता है। अथ० ६. ७४. ३[8] का भाव एवं शब्दावली दोनों तै० सं० २. १. ११. ३[9] से निम्नकोटि के हैं। अथर्ववेद के संपूर्ण सूक्त में जोड़ हैं; विशेषतः ३ d में। मन्त्र का व्यवहार में प्रयोग करने की नीयत से किये गये परिवर्तन साफ दिखाई पड़ते हैं। तै० सं० २. ४. १४. १, मै० सं० ४. १२. २ के 'प्राच्यां दिशि त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्यां वृत्रहन् वृत्रहासि' के लिये अथ० ६. ९८. ३ ab में 'प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहं छत्रुहोऽसि' पाठ है। अथर्ववेदीय पाठ का 'दिशो' छन्द की दृष्टि से अनावश्यक ही नहीं अपितु सारा आथर्वण पाठ ही लचर-सा दीख पड़ता है। अथ० ७. ३. १ d का 'स्वया तन्वा तन्वमैरयत' त्रिष्टुभ् मन्त्र के बीच एक अशुद्ध पाद है। अन्य सभी पाठ तै० सं० १. ७. १२. २[10], मै० सं० १. १०. ३[11], आश्व० श्रौ० सू०

---

१. ऊर्ध्वाऽअस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः। वा० सं० २७।११

२. ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः। तै० सं० ४।१।८

३. ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः। मै० सं० २।१२।६

४. ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः। का० सं० १८।१७

५. ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः।······कापिष्ठलकठ सं० २९।५

६. सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ। अ० ६।३८।१ a इत्यादि

७. सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ······तै० ब्रा० २।७।७।१

८. यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीमानाः। अ० ६।७४।३ ab

९. यथाऽऽदित्या वसुभिः संबभूवुमरुद्भी रुद्रा समजानताभि। तै० सं० २।१।११।३

१०. ·····स्वायां यत्तनुवां तनूमैरयत्। तै० सं० १।७।१२।२

११. ······स्वां यत् तनूं तऽन्वामैरयत। मै० सं० १।१०।३

२. १९. ३२[1], शां० श्रौ० सू० ३. १७. १[2]; कात्या० श्रौ० सू० २५. ६. १०[3], बेहतर हैं। अथ० ७. ४[4] का 'सुहूते' अन्यवेदीय पाठों के 'स्वभूते' से निम्नकोटि का है; और विशेषतः 'नियुद्भिः' के स्थान पर 'न हटने वाले' के अर्थ में 'वियुग्भिः' जिसे यहाँ पर 'विमुञ्च' से मेल खाने के लिये अपनाया गया है, इस मन्त्र में किये गये परिवर्तनों को जताता है। देखिये वाज० सं० २७. ३३[5]; मै० सं० ४. ६. २[6]; शत० ब्रा० ४. ४. १. १५[7]; तै० आ० १. ११. ८[8]; आश्व० श्रौ० सू० ५. १८. ५[9]; शांखा० श्रौ० सू० ८. ३. १०[10]। अथ० ७. ६. २[11] के त्रिष्टुभ् मन्त्र में द्वितीय पाद जगती है, क्योंकि अथर्ववेद ने अन्यपाठों (वाज० सं० २१. ५[12] तै० सं० १. ५. ११. ५[13] मै० सं० ४. १०. १[14]; आश्व० श्रौ० सू० २. १. १९[15]; शां० श्रौ० सू० २. २. १४[16]) के पौरोहित्य-संबन्धी 'हुवेम' को प्रचलित 'हवामहे' में परिवर्तित कर दिया है। 'हुवेम' के स्थान पर 'हवामहे' के लिये अथर्ववेद का पक्षपात दूसरे स्थलों पर भी उघड़ आता है; यथा ७. ४०. १[17] d में तै० सं० ३. १. ११. ३[18], मैत्रायणी सं० ४. १०. १[19] की तुलना करके

---

१. ......स्वां यत्तनूं तन्वामैरयतेति। आ० श्रौ० सू० २।१९।३२
२. ......स्वां यत्तनूं तन्वामैरयत्। शां० श्रौ० सू० ३।१७।१
३. ......स्वायां यत्तन्वां तनूमैरयत स्वाहेति। का० श्रौ० सू० २५।६।१०
४. एकया च दशभिश्च सुहूते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च॥ अथ० ७।४।१
५. एकया च दशभिश्च स्वभूते......नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्च। वा० सं० २७।३३
६. एकया च दशभिश्च स्वभूते......नियुद्भिर्वाय इह ता विमुञ्च। मै० सं० ४।६।२
७. एकया च दशभिश्च स्वभूते ......नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्चेति......... ।
शत० ब्रा० ४।४।१।१५
८. एकया च दशभिश्च स्वभूते......नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्च। तै० आ० १।११।८
९. एकया च दशभिश्च......नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्च... । आ० श्रौ० सू० ५।१८।५
१०. एकया च दशभिश्च......नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्च। शां श्रौ० सू० ८।३।१०
११. महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे। अथ० ७।६।२ a
१२. महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम। वा० सं० २१।५
१३. महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम। तै० सं० १।५।११।५
१४. महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम। मै० सं० ४।१०।१
१५. ......महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम। आश्व० श्रौ० सू० २।१।२९
१६. महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम। शा० श्रौ० सू० २।२।४
१७. यस्य व्रते पुष्टपतिर्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हवामहे। अ० ७।४०।१ cd
१८. सरस्वन्तमवसे हुवेम। तै० सं० ३।१।११।३
१९. सरस्वन्तमवसे हुवेम। मै० सं० ४।१०।१

अ० १. १६४, ५२[1] d की भी तुलना कीजिये फिर अथ० ७. ६३. १ b 'उक्थैर्हवामहे परमात् सधस्थात्' को इसके समानान्तर पाद तै० आ० १०, २. १ (६८) b के 'अग्निं हुवेम' इत्यादि, और महाना० उप० ६. ६. b के 'उग्रं हुवेम' आदि के साथ मिलाइये। अथ० ७. १४. २[2] b का पुराना 'कृपा' पाठ, जो दोनों प्रकाशित संस्करणों एवं संहिता और पदपाठ की हस्त-प्रति में पाया जाता है, लचर है। सायणाचार्य अन्य समानान्तर पाठों के आधार पर कृपात् की जगह 'कृपा' पढ़ते हैं और उसी पर अपना भाष्य भी करते हैं। तुलना कीजिये: सामवेद १. ४६४,[3] वाज० सं० ४. २५,[4] काण्व शाखा में वाज० सं० ४. ८. ३., तै० सं० १. २. ६. १,[5] मै० सं० १. २. ५,[6] शत० ब्रा० ३. ३. २. १२,[7] आश्व० श्रौ० सू० ४. ६. ३.,[8] शां० श्रौ० सू० ५. ९. ७[9]। अथ० ७. १५[10] के पाठ की मै० सं० २. १०. ६[11] से तुलना करने पर अथर्ववेद का पाठ गौण एवं चुराया हुआ सिद्ध होता है; अथ० ७. १६[12] में समानान्तर पाठों (मै० सं० २. १२. ५[13]) के 'बोधय' के स्थान पर 'वर्धय' है और याज्ञिक कौशिक० ५. ९. १८[14] के 'बोधय' के स्थान पर वैतान ५. ९ में 'बोधयति' क्रिया है। अथ० ७. ४७[15] १ d का 'सुहवा' अन्य पाठों के 'सुहवां' से निम्नकोटि का है; देखो मै० सं० ४. १२. ६[16] अथर्ववेद काण्ड १३[17] के आरम्भ में रोहित मन्त्रों का पाठ तै० ब्रा० २. ५. २[18] के समानान्तर पाठ से निम्न है और छीना हुआ दीख पड़ता है। इस बात को

१. सरस्वन्तमवसे जोहवीमि। ऋ० १।१६४।५२ d
२. सुक्रतुः कृपा स्वः। अ० ७।१४।२ d
३. ......सुक्रतुः कृपा स्वः॥ सामवेद १।४६४
४. सुक्रतुः कृपास्स्वः। वा० सं० ४।२५
५. सुक्रतुः कृपासुवः। तै० सं० १।२।६।१
६. सुक्रतुः कृपा स्वः। मै० सं० १।२।५
७. सुक्रतुः कृपा स्वः। शत० ब्रा० ३।३।२।१२
८. सुक्रतुः कृपा स्वः। आ० श्रौ० सू० ४।६।३
९. सुक्रतुः कृपा स्वः। शा० श्रौ० सू० ५।९।७
१०. तां सवितुः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम्। अ० ७।१५।१ ab
११. तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्। मै० सं० २।१०।६
१२. बृहस्पते सवितर्वर्धयैनम्॥ अ० ७।१६।१ a
१३. बृहस्पते सवितर्बोधयैनम्। मै० सं० २।१२।५
१४. बृहस्पते सवितरित्यभ्युदितं ब्रह्मचारिणं बोधयति। कौ० सू० ५९।१८
१५. अस्मिन्यज्ञे सुहवा जोहवीमि। अथ० ७।४७।१ a
१६. अस्मिन् यज्ञे सुहवां जोहवीमि। मै० सं० ४।१२।६
१७. उदेहि वाजिन्यो अप्स्वन्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत्। अथ० १३।१।१ ab
१८. उदेहि वाजिन्यो अस्यप्स्वन्तः। इदं राष्ट्रमाविश सूनृतावत्॥...तै० ब्रा० २।५।२

ब्लूमफील्ड ने अमेरिकन जर्नल आफ फिलालॉजी कन्ट्रीब्यूशन फोर्थ सीरीज १२. ४२० में प्रदर्शित किया है।

४७. *अथर्ववेद एवं श्रौतसूत्रों के समानान्तर पाठ*—ऊपर की तुलना से अन्दाज होता है कि सामान्यतया श्रौत-सूत्रों के मन्त्र अथर्ववेद के मन्त्रों से तुलना करने पर यजुः संहिता के समान उत्कृष्ट ठहरते हैं। यह बात उन स्थलों पर भी सही प्रतीत होती है जहाँ अथर्ववेद और श्रौतसूत्र दोनों उन पौरोहित्य-संबन्धी विषयों को उपस्थित करते हैं, जो ऋग्वेद या यजुः संहिता में उपलब्ध नहीं होते। १८५६ में ही रॉथ ने आश्व० श्रौ० सू० ६. ३. ६[1] की तुलना में अथ० २-५[2] के गौण प्रयोगों एवं निम्न पाठों को सामने लाने में संकोच नहीं किया था। उन्होंने शा० श्रौ० ९. ५. २ को भी अपने विवेचन में ले लिया होता यदि उस समय वह ग्रन्थ उपलब्ध हो सका होता। श्रौतसूत्रों के मन्त्रों का याज्ञिक स्वरूप अथर्ववेद में इतना भ्रष्ट हो गया है कि ये मन्त्र अनुवाद के योग्य नहीं रह गये हैं। अथ० ६. १[3] की आश्व० श्रौतसूत्र ८. १. १८[4] (सामवेद १. १७७;[5] ऐ० ब्रा० ५. १३. ७[6]) से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सूक्त अर्थ एवं छन्द दोनों की दृष्टि से आश्व० श्रौतसूत्र में बेहतर है। आश्व० श्रौतसूत्र में सूक्त 'दोष आगाद् बृहद् गाय' 'इस समय सन्ध्या का आगमन हो गया प्रसन्नता से गाओ' के साथ प्रारम्भ होता है। इसके लिये अथर्ववेद में 'दोषो गाय बृहद् गाय' 'सन्ध्या में गाओ प्रसन्नता से गाओ' यह पाठ है जहाँ पहला 'गाय' दूसरे 'गाय' की तुक पर ढाला गया प्रतीत होता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र का पद २a 'तमु ष्टुह्यन्तः सिन्धुम्' अथर्ववेद में 'तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ' छन्द की दृष्टि से लचर है; और आश्व० श्रौतसूत्र का मन्त्र ३b 'साविषद् वसुपतिः' भी अथर्ववेद के 'साविषदमृतानि भूरि' से अधिक विश्वसनीय है। पुनः अथ० ६. ३३[7], जिसके प्रथम दो मन्त्र मुश्किल से अनुवाद योग्य हैं, शां० श्रौतसूत्र १८. ३. २[8] में अधिक बोधगम्य रूप में दिखाई पड़ता है। तुलना कीजिये ऐ० आ० ५. २. १. २-४[9], आरण्यक संहिता १. ३। इसी प्रकार

---

१. श्रुधी हवं न इन्द्रो न गिरो जुषस्व वज्री न। आ० श्रौ० सू० ६।३।६

२. इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम्। अ० २।५।१ ab

३. दोषो गाय बृहद्गाय द्युमद्धेह्याथर्वण। स्तुहि देवं सवितारम् ॥ अ० ६।१।१

४. दोषो आगाद् बृहद्गाय द्युमद्धेह्याथर्वण स्तुहि देवं सवितारम्। आ० श्रौ० सू० ८।१।१८

५. दोषो आगाद् बृहद्गाय द्युमद्गायन्नाथर्वण। स्तुहि देवं सवितारम् ॥ सामवेद १।१७।७

६. तत्सवितुर्वरेण्यं दोषो आगादित्यनुचरोऽन्तो वै गतमन्तः······ऐ० ब्रा० ५।१३।८

७. यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः। इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥ अ० ६।३३।१

८. यस्येदमोज आरुजस्तुजो युजो बलं सहः। इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥

शां० श्रौ० सू० १८।३।२

९. यस्येदमारजस्तुजो युजो वनं सहः। इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥ ऐ० आ० ५।२।१।२ इत्यादि

अथ० ६. ३५[1] की आश्व० श्रौतसूत्र ८. ११. ४[2]; श्रौतसूत्र १०. ९. १७[3] से तुलना कीजिये। विशेषतः निरर्थक पाठ २८ 'अग्निरुक्थेष्वंहसु' की श्रौत सूत्रों के 'अग्निरुक्थेन वाहसा' से तुलना कीजिये। पौरोहित्य-संवन्धी मन्त्रों का और प्रचलित मन्त्रों का अन्तर और जगह की भाँति यहाँ भी साफ दीख जाता है: ऊपर कण्डिका ४१ में अथर्ववेद तथा आप० श्रौतसूत्र की समानताओं को देखिये और अथ० १०. ३. ५[4] के भ्रष्ट पाठ की तै० आ० ६. ९. २[5] के खरे पाठ से तुलना कीजिये।

४८. याजुष ग्रन्थों के साथ तुलना करने पर अथर्ववेद में उत्तम परंपरा के चिह्न— यहां-वहां किंतु थोड़ी संख्या में अथर्ववेद विशुद्ध पाठों को भी उपस्थित कर देता है। सामान्यता अथर्ववेद के पाठ याजुष पाठों से न तो अच्छे ही हैं, और न बुरे ही। पिशल ने अथर्ववेद ६. २२. ३[6] की यजुर्वेद तै० सं० ३. १. ११. ७[7] से उच्चता भलीभांति दिखा दी है, खास तौर से अथर्ववेद का द्वितीय पाद तै० सं० से श्रेष्ठ है, और यह ऋग्वेद ५. ५८. ३[8] से लिया गया प्रतीत होता है। अथर्ववेद ३. ४. २[9] में प्रथम पाद 'त्वां विशो वृणतां राज्याय' तै० सं० ३. ३. ९. २, मै० सं० २. ५. १० के 'त्वां गावोऽवृणत राज्याय' से निःसंदेह खरा है, यद्यपि यजुर्वेद के शेष पादों का पाठ उतना ही अच्छा है जितना कि अथर्ववेद के पादों का। अथर्ववेद ६. ५. ३[10]a में 'कृण्मो' है, यह यजुर्वेद के प्रचलित 'कुर्मो' (वाज० सं० १७. ५२[11], मै० सं० २. १०. ४[12]) के स्थान पर प्रासंगिक पौरोहित्य-संवन्धी शब्द है; किंतु यह श्रेष्ठता अथर्व० मन्त्र 2d पर आते ही कम हो जाती है, क्योंकि 'जीवातवे जरसे नय' में छन्दोभङ्ग है और याजुष पाद 'सजातानाकसद्दशी' को देखकर आयुष्य-संवन्धी उद्देश्यों के

---

१. वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुप॥ अ० ६।३५।१

२. वैश्वानरो न ऊतय आ प्रयातु परावतः। अग्निर्न सुष्टुतीरुप। आ० श्रौ० सू० ८।११।४

३. वैश्वानरो न ऊतये। वैश्वानरो न आ गमदिदं यज्ञं सजूरुप।
अग्निरुक्थेन वाहसा॥ शां० श्रौ० सू० १०।९।१७

४. वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन्॥ अ० १०।३।५

५. वरणो वारयादिदं देवो वनस्पतिः।
आर्त्यै निर्ऋत्यै द्वेषाच्च वनस्पतिः॥ तै० आ० ६।९।२

६. उदप्रुतो मरुतस्ताँ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति॥ अ० ६।२२।३ ab

७. उदप्रुतो मरुतस्तां इयर्त वृष्टिम्। ये विश्वे मरुतो जुनन्ति॥ तै० सं० ३।१।११।७

८. वृष्टिं ये विश्वे मरुतो जुनन्ति। ऋ० ५।५८।३ b

९. त्वां विशो वृणतां राज्याय॥ अ० ३।४।२ a

१०. यस्य कृण्मो हविर्गृहे॥ अ० ६।५।३ a

११. यस्य कुर्मो गृहे हविस्तमग्ने वर्धया त्वम्॥ वाज० सं० १७।५२ ab

१२ ...यस्य कुर्मो गृहे हविस्तमग्ने वर्धया त्वम्। ...मै० सं० २।१०।४

लिये अपनाया गया है। अथर्ववेद २. १०[1] में टेक का गौण रूप में प्रयोग हुआ है, तथापि यह तै० ब्रा० २. ५. ६. १[2] जैसे या उससे भी सुन्दर स्रोत पर आधृत है। देखिये पाद २a, ३a और २b 'शं सोमः सहौषधीभिः' को जो तै० ब्रा० के 'शं द्यावापृथिवी सहौषधीभिः' से बेहतर है। दूसरे मन्त्र का 'द्यावापृथिवी' असंगत है और छन्दः-पूर्ति के लिये ऊपर के मन्त्र से लिया गया है। अथर्ववेद ३. १०. १[3] तै० सं० के ४. ३. ११. ५[4] के समान है, किंतु तै० सं० 'धुक्ष्व' की तुलना में पाद ३ का 'दुहाम्' प्राचीन ठहरता है। फिर भी अथर्ववेद का पूरा सूक्त एक मिश्रित रचना है, जैसा कि मन्त्र ७[5] में देखा जा सकता है, जो मौलिक गायत्री पाद में है, जिसके बाद अनुकृत त्रिष्टुभ् पाद है और जो सामान्य अनुष्टुभ अर्धर्च के साथ समाप्त होता है (वाज० सं० ३. ४९[6] तै० सं० १. ८. ४. १; मै० सं० १. १०. २[7])। ऐसे स्थल जहां अथर्ववेद के पाठ यजुर्वेदीय पाठ के समान ही ग्राह्य हैं ये हैं—अथ० ६. ४७. १[8] तै० सं० ३. १. ९. १[9] कात्या० श्रौतसूत्र ९. ३. १८[10] (मै० सं० १. ३. ३६[11] निम्न कोटि का है) अथवा अथ० ६. ५५. १[12], तै० सं० ५७. २. ३[13]। यहाँ अथर्ववेद का तृतीयपाद अधिक सुन्दर तो है पर शायद तै० सं० से अधिक मौलिक नहीं है। अथ० के छोटे सूक्त ६. ६९,[14] की तै० सं० ३. ३. ८. २[15] में मिलने वाले पाठान्तरों के साथ तुलना करने पर हमारे लिये समय

---

१. क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद्द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ अ० २।१०।१

२…अनागसं ब्रह्मणे त्वा करोमि॥ (१) शिवे ते द्यावापृथिवी उभे इमे।… तै० ब्रा० २।५।६।१।२

३. प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद्यमे॥ अ० ३।१०।१ ab इत्यादि

४…या प्रथमा व्यौच्छत्सा धेनुरभवद्यमे॥ तै० सं० ४।३।११।५ इत्यादि

५. पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत। अ० ३।१०।७ ab इत्यादि

६. पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरा पत। वाज० सं० ३।४९ ab इत्यादि

७…पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत।… मै० सं० १।१०।२

८. अग्निः प्रातसवने पात्वस्मान्वैश्वानरो विश्वकृद्विश्वशंभूः। अ० ६।४७।१ ab

९. मनुष्येष्वग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान्वैश्वानरो महिना विश्वशंभूः।… तै० सं० ३।१।९।१

१०. वसतीवरी तृतीयं चाग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान्नैश्वानरो महिना विश्वशंभूः।… का० शौ० सू० ९।३।१८

११. अग्निः प्रातः सवनात् पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वश्रीर्विश्वशंभूः।…… मै० सं० १।३।३६

१२. ये पन्थानो बहवो देवयाना॥ अ० ६।५५।१ a

१३……ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी वियन्ति।… तै० सं० ५।७।२।३

१४. अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु। असमातिं गृहेषु नः। अ० ६।७९।१ इत्यादि

१५…अयं नो नभसा पुरः संस्फानो अभि रक्षतु।…… तै० सं० ३।३।८।२

के संबन्ध में किसी प्रकार निर्णय करना कठिन हो जाता है। मन्त्रों के बुद्धिमत्तापूर्ण विनियोग के संबन्ध में न तो ये उदाहरण और न अन्य छिट-पुट उदाहरण ही इस धारणा को बदल सकते हैं कि अथर्ववेद का संग्रह और संस्करण उस समय हुआ था जब कि याजुष मन्त्रों और सूत्रों का मुख्यांश अपने वर्तमान स्वरूप और प्रयोगों में आ चुका था। आज काठक और कपिष्ठल संहिताओं का प्रकाशन हो जाने से यजुः-परंपरा का जो हमें ज्ञान प्रात हो चुका है, उससे भी इस धारणा में कोई फरक नहीं पड़ता कि यत्र-तत्र निम्न स्तर के पाठ, जिन्हें इस समय आथर्वणिक उत्पत्ति का माना जा सकता है, वास्तव में उस वेद से बाहर के किसी अन्य स्रोत से लिये गये हैं। अधिकतर उदाहरणों में पौरोहित्य-संबन्धी मन्त्रों के अथर्व-पाठ, इस वेद के अपने मौलिक हैं, पर वे याजुष एवं ऋग्वेद की परंपरा से निम्नकोटि के हैं।

खण्ड ३

शौनकीय शाखा के अथर्ववेद का वर्ण्य विषय

४६. सूक्तों का वर्गीकरण—७३१ सूक्तों का वर्गीकरण सरल काम नहीं है। किसी सूक्त के विषय में इस प्रश्न का कि वह किस विषय का है हमेशा निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता। कहना न होगा कि अथर्ववेद के विषय में भी यह काम उतना ही कठिन है, यद्यपि अन्य वेदों की अपेक्षा इस वेद में प्रार्थनाएं और अनुष्ठान अधिक परस्पर-संवद्ध हैं। विद्वानों की इस बात में सहमति है कि कौशिक सूत्र प्रत्येक अथर्व-सूक्त का चित्र प्रस्तुत करके स्पष्टतः उन परिस्थितियों के विषय में उपयोगी संकेत देता है, जिनमें अधिकतर सूक्त रचे गये थे, किंतु सभी विद्वानों की यह राय भी है कि कौशिक सूत्र अधिकांशतः जनरीतियों की स्वतन्त्र परंपराओं को सामान्य रूप में ग्रहण करता है, और उनके साथ अथर्व-मन्त्रों को परिस्थिति के अनुसार अल्पाधिक मेल खाने वाली प्रार्थनाओं के साथ जोड़ देता है। जैसे कि सामान्य वैदिक सूक्त वैसे ही अथर्व-सूक्तों का भी उन उद्देश्यों के लिये अनुकूलन किया गया है जो कि मौलिक रचयिताओं के उद्देश्यों से भिन्न हैं; देखिये सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट ४२ भूमिका पृ० ६३ और अनुकूलित 'मन्त्रों की सूची। ऐसी अवस्थाओं में आथर्वणिक दृष्टिकोण पर ही इस वेद के व्याख्याताओं के लिये ध्यान रखना आवश्यक है। सूक्तों की बहु-संख्या का, उनके विषयों की विभिन्नता के कारण, वर्गीकरण कठिन है। ब्लूमफील्ड ने प्रथम बार अथर्ववेद के सूक्तों को 'सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट ४२ में 'अथर्ववेद के सूक्त' 'शीर्षक के अन्तर्गत १० वर्गों में विभक्त किया था, और यह वर्गीकरण सूक्ष्म परीक्षण से संगत भी सिद्ध हुआ है। प्रस्तुत विवेचन का आधार यही वर्गीकरण है। किंतु उन विषयों पर भी, जो उस प्रसङ्ग में नहीं आ पाये हैं, यहाँ विचार कर लेना वाञ्छनीय है। इसविवेचन का निष्कर्ष १४ शीर्षकों में इस प्रकार होगा: १. रोगों एवं दानवों से मुक्ति की प्रार्थनाएं (भैषज्यानि), २. दीर्घायुः एवं स्वास्थ्य के लिये प्रार्थनाएं (आयुष्याणि), ३. राक्षसों, आभिचारिकों एवं शत्रुओं के प्रतिकूल अभिचार (आभिचारिकाणि तथा कृत्याप्रतिकरणानि), ४. स्त्री-विषयक अभिचार (स्त्रीकर्माणि), ५. सामञ्जस्य प्राप्त करने एवं सभा में प्रभाव डालने के अभिचार (सांमनस्यानि आदि), ६. राज-विषयक अभिचार (राजकर्माणि), ७. ब्राह्मणों के हित में प्रार्थनाएं एवं अभिशाप, ८. संपन्नताप्राप्ति एवं भय से मुक्ति के अभिचार (पौष्टिकानि), ९. पाप एवं दुष्कर्म के लिये पायश्चित्त-विषयक अभिचार (प्रायश्चित्तानि) १०. सृष्टि-विषयक एवं आध्यात्मिक सूक्त, ११. याज्ञिक

एवं सामान्य-विषयक सूक्त, १२. व्यक्तिगत विषयों की विवेचना करने वाले काण्ड (काण्ड १३–१८), १३. बीसवाँ काण्ड, १४. कुंताप सूक्त।

५०. *वर्ग १. रोगों एवं प्रेत आदि की पकड़ से मुक्ति दिलाने वाले अभिचार—* (भैषज्यानि)। अथर्ववेद में ओषधि-सूक्तों का नाम 'भेषजम्' 'उपचार', रोग-निवारक 'वनस्पतियों का नाम 'भेषजी' और जलों का नाम 'भेषजीः' है। यह शब्द केवल ओषधि तक ही सीमित न रह कर भूतप्रेत-निःसारण के लिये भी प्रयुक्त हुआ है और 'अभिचार' के विपरीत 'शान्ति' की धारणा तक जा पहुँचता है और इस प्रकार सभी रक्षार्थक पवित्र यातु इसके अन्दर आ जाते हैं। यौगिक 'भैषज्य' शब्द न तो ऋग्वेद में मिलता है और न अथर्ववेद में। यह बाद के अधिक विकसित ओषधि-विधानों में मिलता है जैसा कि कौशिक सूत्र (२५-३२[1]) के भैषज्य अध्याय में तथा यत्र-तत्र ब्राह्मण ग्रन्थों एवं सूत्रों में देखा जाता है। ये ग्रन्थ इन क्रियाओं में अधिक विस्तृत ओषधि-शास्त्र एवं चिकित्सा-पद्धतियों का भी समावेश करते हैं। परंतु विस्तार के साथ यह बताना कठिन है कि किस सीमा तक सूत्रों की क्रियाओं के समान क्रियाओं को अथर्ववेद-निर्दिष्ट अभिचारों की समसामयिक माना जाय। उन सभी में किसी न किसी प्रकार की क्रिया अवश्य रहती होगी। सूक्तों के और किसी प्रकार से दुर्बोध्य वक्तव्यों को सूत्रों में क्रियाओं द्वारा स्पष्ट किया गया है। कुछ भी हो अथर्ववेद के अभिचार में और उसके साथ चालू रही क्रियाओं में हमें प्राचीन ओषधि-शास्त्र का ऐसा फड़कता चित्र मिलता है जैसा कि अन्य किसी भी साहित्य में नहीं मिल पाता है। ऋग्वेद के सीमित सूक्त, जो इसी विषय का वर्णन करते हैं, उसी स्वरूप एवं काल के हैं (ऋ० १०. १३७, १६१, १६३[2], तुल० १. १९१, ७. ५०; ८. ९१; १०. ५७–५०[3]) और इसी प्रकार के हैं अन्य विकीर्ण विवरण। ऐसे अभिचार एवं विधान कम से कम भा-ईरानियन युग के अवश्य हैं, इस बात का पता हमें बएषज एवं बएषज्य (मंत्र बएषज्ञ; हओम बएषज्य) इन अवेस्तिक निर्देशों से और स्वास्थ्य एवं दीर्घायुष्य के लिये की गई सभी प्रार्थनाओं में जल और वनस्पति के प्राधान्य के आधार पर चल जाता है। एल्बर्ट कुह्न ने ट्यूटानिक एवं वैदिक औषध-अभिचारों में

---

१. अथ भैषज्यानि। कौ० सू० २५।१ से कण्डिका ३२ तक

२. उत दे॑वा अव॑हितं दे॑वा उन्न॑यथा पुन॑ः ॥ ऋ० १०।१३७।१ ab इत्यादि
मु॒ञ्चामि॑ त्वा ह॒विषा॒ जीव॑नाय ॥ ऋ० १०।१६१।१ a इत्यादि
अ॒क्षीभ्यां॑ ते॒ नासि॑काभ्याम् ॥ ऋ० १०।१६३।१ a इत्यादि

३. कङ्क॑तो न कङ्क॒तोऽथो॑ सती॒नक॑ङ्कतः। ऋ० १।१९१।१ ab इत्यादि
आ मां मि॑त्रावरुणे॒ह र॑क्षतम् ॥ ऋ० ७।५०।१ a इत्यादि
क॒न्या॒ ३॒ वार॑वाय॒ती ॥ ऋ० ८।९१।१ a इत्यादि
मा प्र गा॑म प॒थो व॒यम्। ऋ० १०।५७।१ a इत्यादि

कुछ रोचक एवं महत्त्वपूर्ण समानताएँ खोज निकाली हैं; खासतौर से कृमि तथा घावों से संवद्ध उपचारों के क्षेत्र में। ये समानताएँ, हो सकता है, दो जातियों के समान मानसिक विचारों के आधार पर उभर आई हों। किंतु यह बात भी कम संभव नहीं है कि इन जन-भावनाओं में से कुछ प्रागैतिहासिक युग में ही स्पष्ट हो गई हों और संभवतः ये समानताएँ अविकसित भारोपीय जन-साहित्य के सातत्य पर प्रकाश डालती हैं; जो कि ट्यूटन लोगों और हिन्दुओं में वचकर चलता रह गया था। इस बात का उग्रता के साथ विरोध करना हठवादिता होगी।

आथर्वणिक ओषधि-सूक्तों का परवर्ती हिन्दू-औषध (आयुर्वेद)-शास्त्र के साथ संवन्ध हिन्दुओं को सदा से मान्य रहा है; क्योंकि वे तो आयुर्वेद को अथर्ववेद का ही उपवेद मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इन दोनों के संवन्ध को खुले-मन स्वीकार किया है। 'ज्वर' (अथर्ववेद में 'तक्मन्' एवं आयुर्वेद में 'ज्वर') विशेषतः मीयादी ज्वर के, फेफड़े के रोगों के (यक्ष्मा), और अन्य वहुत से रोगों के भी लक्षण दोनों में एक से हैं। व्लूमफील्ड ने अथर्ववेद के 'आस्राव' का परवर्ती 'अतिसार' से, अपचित् का 'अपची' से एवं उस आथर्वणिक रोग की, जिसे (अथ० ६. २५) 'मन्य' और 'स्कन्ध' कहा गया है, मैन्सकुन्देर (गण्डमाला-संवन्धी रोग) से एकता दिखाई है, और ऐसा ही वाइज ने भी (हिन्दू मेडसिन पृ० ३१६) परवर्ती शास्त्रों के आधार पर वताया है। दूसरी ओर आथर्वणिक एवं परवर्ती औषध के बीच का अन्तर, जो अव भी वहुत वड़ा है, सङ्कीर्ण हो गया है। आयुर्वेद की मन-गढन्त प्राचीनता (१००० ई० पू०) के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के प्रारम्भिक विचारों की आलोचना, 'ह्रास' और त्सिमर ने की है, किंतु परवर्ती औषध के विषय में उनकी राय भी त्रुटि से दूषित है। प्राचीनतावादी उसे जितना ही प्राचीनता की ओर खींचते हैं नवीनतावादी उसे उतना ही वाद की ओर लाने की कोशिश करते हैं। हाल ही में मिली वॉवरहस्त-प्रति से ज्ञात होता है कि औषध-विज्ञान ५ वीं सदी में विकास की उसी अवस्था और मात्रा में पक चुका था जिस अवस्था में कि यह सुश्रुत और चरक के औषध-शास्त्रों में मिलता है और कौशिक में प्राप्त होने वाले औषध-विज्ञान को देखकर कहा जा सकता है कि उसके युग से बहुत पहले से इसका विकास होता आ रहा होगा। मामूली समानता के आधार पर हिन्दू औषधशास्त्र पर विदेशी, विशेषकर ग्रीक प्रभाव भी माना गया है, जब कि हिन्दू औषध का प्रारम्भिक अरवी औषध पर और उसके माध्यम से सामान्य योरपीय औषध पर प्रभाव निश्चित रूप से मान लिया गया है। जाली के इनसाइक्लोपीडिया (विश्वकोश) के अन्तर्गत 'हिन्दू औषध का विवेचन' नामक प्रकरण से इस प्रकार के सभी प्रश्नों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

अथर्ववेदीय सूक्तों के वर्गीकरण में अनेक कठिनाइयां हैं : रोगों के नामों का अर्थ प्रायः संदिग्ध है और अभिचारों में कई असंबद्ध रोगों को एक कर दिया

गया है। रोगों और दानवों एवं दानवीय शक्तियों द्वारा उत्पन्न की गई बाधाओं के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं मिल पाती। विहित उपचार या तो प्रतीकात्मक हैं, अथवा कष्ट-निवारक द्रव्य न होकर यन्त्र (तावीज) हैं। ये यन्त्र प्रायः वनस्पतियों से लिये गये हैं। पर यहां भी वनस्पतियों के नाम प्रायः संदिग्धार्थक हैं। पाण्डु-रोग के अभिचार में (१२२) और 'तक्मन्' के अभिचार में (७. ११६) प्रतीकात्मक उपचार का अच्छा नमूना मिल जाता है। पहले में रोगी के पीतवर्ण को उसके मूल देश, पीले सूर्य और पीले पक्षियों में भेज दिया जाता है और पीले के स्थान पर गाय के लाल वर्ण का विधान किया जाता है। दूसरे में दाहक ज्वर को शीत मेंढक पर रोप दिया जाता है, जिसे, हो सकता है, दाहक ज्वर में आनन्द मिलता हो। दूसरी ओर कुष्ठ पौधा, जिसकी प्रार्थना ज्वर के विरुद्ध सहायता करने के लिये की गई है, (५. ४; १९. ३९)[1] और मरीच का पौधा, जिसका घावों के विपरीत अभिचार में प्रयोग बताया गया है (६. १०९)[2] इन प्रसङ्गों में इसलिये नहीं रखे गये कि उनमें सचमुच ऐसा कर देने की शक्ति है। इन सब कारणों से सूक्तों के वर्गीकरण से हिन्दू-औषध का एक ऐसा धुंधला चित्र उभरता है जिसके विवेचन में बाद के आयुर्वेदिक शास्त्र ने इतनी पटुता प्रदर्शित की है। अधिक स्पष्ट हैं वे सूक्त जिनका संबन्ध तक्मन् अथवा बाद के आयुर्वेद के ज्वर के साथ है। कहना न होगा कि अथर्ववेद के बाहर 'तक्मन्' शब्द नहीं मिलता। चार सूक्त १. २५; ५. २२; ६. २० और ७. ११६[3] इसके उपचार के लिये अभिप्रेत हैं। दो अन्य सूक्त ५. ४ और १९. ३९[4] इस रोग की चिकित्सा के लिये कुष्ठ वनस्पति के प्रति कहे गये हैं। जिस प्रकार सुश्रुत ज्वर को 'रोगों का राजा' बताता है उसी प्रकार आथर्वणिक साहित्य में भी इसे भयंकरतम व्याधि माना गया है। इसके निदान में खोज से काम लिया गया है। इसका प्रधान लक्षण है, ताप एवं धुड़धुड़ी का अदल-बदल; यह मीयादी होता है; यह या तो रोज निश्चित समय पर, या हर तीसरे दिन नागा देकर चढ़ता है। इसके साथ पाण्डु रोग भी आ धमकता है, जो मलेरिया ज्वर का, विशेषतः, वर्षा ऋतु में, सूचक होता है। इसके साथ अन्य रोग, जैसे शिरोवेदना, कफ, बलास, उद्युग और तक्मन् के भ्रातुष्पुत्र 'पामन्'

---

१. यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः। अ० ५।४।१ ab इत्यादि
ऐतु देवस्त्रायमाणः॥ अ० १९।३९।१ a इत्यादि

२. पिप्पली क्षिप्तभेषज्यु१तातिविद्धभेषजी। अ० ६।१०९।१ ab इत्यादि

३. यदग्निरापो अदहत्प्रविश्य यत्राकृण्वन्धर्मधृतो नमांसि॥ अ० १।२५।१ ad
अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः॥ अ० ५।२२।१
अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपायति। अ० ६।२०।१ ab
७।११६।१ (दे० पृ० ७८)

४. यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः। अ० ५।४।१ ab इत्यादि
ऐतु देवस्त्रायमाणः॥ अ० १९।३९।१ a इत्यादि

'खाज' (अवेस्ता में भी) उठ खड़े होते हैं। आमतौर से प्रार्थनाओं और मन्त्रों द्वारा इसे झाड़ा जाता है, जिनके साथ कौशिक सूत्र प्रतीकात्मक विधियों को जोड़ देता है। कुष्ठ वनस्पति और जंगिड पौधे के टुकड़ों का इसके लिये रक्षायन्त्र (तावीज) बनाया जाता है। एक (७. ११६. २)[1] मन्त्र में शीत मेढ़क की ओर भी संकेत किया गया है जो सूत्र की समानान्तर क्रिया में प्रयुक्त हुआ है। 'तक्मन्' सूक्तों से १. १२ सूक्त संबद्ध है, जो ज्वर, कफ, एवं शिरोवेदना के निदानभूत अग्नि के प्रति एक रुचिपूर्ण अभिचार है। ज्वर के साथ बहुधा उठ खड़े होने वाले पाण्डुरोग के उपचार के लिये सूक्त १. २२[2] का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग बताया गया है। उपरिनिर्दिष्ट प्रतीकात्मक विधान सूत्रों के अनुष्ठानों में उत्साह के साथ किये जाते हैं।

प्राचीन वैदिक रोग जलोदर, जो नैतिक दुराचरण (अनृत) के कारण वरुण द्वारा दिया गया दण्ड है, तीन सूक्तों में वर्णित है : १. १०; ७. ८३ और ६. २४[3]। अन्तिम सूक्त में इसका हृद्रोग के साथ संबन्ध बताया गया है जो रोगविज्ञान का अच्छा खासा नमूना है। सूक्तों और सूत्रों दोनों में इसका उपचार जल से बताया गया है, जहां जल का प्रयोग प्रतीकात्मक है और जिसमें होमियोपैथी का आभास मिल जाता है। एक अन्य रोग में, जिसमें रोगी बहुत अधिक हंसता है, (त्रिदोष) जल एवं जल को लाने वाली चीटियों द्वारा उपचार बताया गया है। यह उपचार भी जलोदर की भांति प्रतीकात्मक, एवं होमियोपैथी जैसे ढंग का है। आस्राव रोग का उपचार १. २; २. ३; ६. ४४[4] में है; टीकाकार इसका अर्थ 'अतिसार' करते हैं; जो सम्भवतः ठीक है, यद्यपि सम्भवतः अधिक सूत्र-त्याग की इच्छा एवं स्राव जैसे अन्य रोग भी प्रारम्भ में इसमें संमिलित रहे होंगे। इनमें का एक (१. २) सूलतः युद्धाभिचार प्रतीत होता है और मन्त्र ४ को जोड़कर प्रस्तुत प्रयोग में लाया गया है। एक दूसरा सूक्त (६. ४४) 'विषाणका' नामक एक वस्तु से सहायता की याचना करता है, जो या तो वनस्पति है अथवा सींग (इसमें

१. यो अ॑न्येद्युरु॑भयद्युर॒भ्येती॒मं म॒ण्डूक॑म॒भ्ये॑त्वव्र॒तः ॥ अ० ७।११६।२ पृ० ९५. a वो० ३
ज॒रा॒यु॒जः प्र॑थ॒म उ॒स्रियो॒ वृषा॑ ॥ अ० १।१२।१ a

२. अ॒नु॒ सूर्य॒मुद॑यतां हृद्यो॒तो ह॑रि॒मा च॑ ते।
सो रोहि॑तस्य॒ वर्णे॑न॒ तेन॑ त्वा॒ परि॑ दध्मसि ॥ अ० १।२२।१

३. अ॒यं दे॒वाना॒मसु॑रो॒ वि रा॑जति॒ वशा॒ हि स॒त्या वरु॑णस्य॒ राज्ञः॑।
तत॒स्परि॒ ब्रह्म॑णा॒ शाश॑दान उ॒ग्रस्य॑ म॒न्योरुदि॒मं न॑यामि ॥ अ० १।१०।१
अ॒प्सु ते॑ राजन्वरुण गृ॒हो हि॑र॒ण्ययो॑ मि॒तः ॥ अ० ७।८३।१ ab
हि॒मव॑तः॒ प्र स्र॑वन्ति॒ सिन्धौ॑ समह संग॒मः। अ० ६।२४।१ ab

४. अ० १।२।१ (दे० पृ० ८१ नोट १)
अ॒दो यद॑व॒धाव॒त्यव॒त्कमधि॒ पर्व॑तात्। अ० २।३।१ ab
अस्था॒द् द्यौरस्था॑त्पृथि॒व्यस्था॒द्विश्व॑मि॒दं जग॑त्। अ० ६।४४।१ ab इत्यादि

श्लेष का भाव अवश्य विद्यमान है 'वि + षा' ढीला करना)। अधिक प्रस्राव के विपरीत अवरोध अर्थात् कोष्ठबद्धता और मूत्र की रुकावट को १. ३[१] अच्छा करता है। कौशिक सूत्र २५. १०[२] १९ में भी इसकी एक रोचक चिकित्सा बताई गई है। एक अन्य रोग, जिसका धुंधला वर्णन रुद्र के अस्त्र से उत्पन्न वायु-रोग अथवा उदर-शूल की ओर संकेत करता है ६. ९०[३] के द्वारा दूर किया जाता है। कौशिक सूत्र ३१. ७[४] होमियोपैथी के ढंग पर इसे दूर करने वाले बर्छी के यन्त्र को जोड़ देता है, मानो यह रोग बर्छी से ही उत्पन्न हुआ हो। ६. १४[५] में बलास, ६. १०५, ७. १०७[६] में कास (खाँसी) के प्रति कहे गये सूक्तों में फुफ्फुस-संबन्धी रोगों को कीला गया है। यक्ष्मा, राजयक्ष्मा और अज्ञातयक्ष्मा (तै० सं० में पापयक्ष्मा) शब्द औषध-शास्त्र में फुफ्फुस-संबन्धी रोगों के लिये प्रयुक्त हुए हैं। वैदिक काल के लिये यह परिभाषा कुछ संकीर्ण-सी प्रतीत होती है। अथ० २. ३३[७] (ऋ० १०. १६३[८]); ३. ११; ९. ८; १९. ३६, ४४[९] आदि का संकेत तो अत्यन्त व्यापक अर्थ में 'क्षयकानि' की ओर है। अवे ६. ८०[१०] अत्यन्त विवादास्पद है। यह सूर्य के लिये, जिसे दो दिव्य कुत्तों में से एक माना गया है, दी जाने वाली हविष् (देखिये पृ० ६०) के साथ संबद्ध है। याज्ञिक विधानों में इसे 'पक्षहत्' का उपचार बताया गया है। तीन सूक्त 'क्षेत्रिय', अर्थात् पैतृक रोगों के प्रतिकूल हैं (२. ८; १०. ३, ७[११])। क्षेत्रिय के लक्षण नहीं बताये गये, और हो सकता है कि यह रोग कण्ठमाला या

---

१. विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्। अ० १।३।१ ab इत्यादि
२. विद्मा शरस्येति प्रमेहणं बध्नाति। कौ० सू० २५।१० से १९ तक
३. यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च॥ अ० ६।९०।१ ab इत्यादि
४. यां ते रुद्र इति शूलिने शूलम्। कौ० सू० ३१।७
५. अस्थिस्रंसं परुःस्रंसमास्थितं हृदयामयम्॥ अ० ६।१४।१ ab
६. यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्॥ अ० ६।१०५।१ ab
अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः॥ अ० ७।१०७।१ ab
७. अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्याम्। अ० २।३३।१ a इत्यादि
८. अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्याम्। ऋ० १०।१६३।१ a इत्यादि
९. मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय। अ० ३।११।१ a इत्यादि
शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम्। अ० ९।८।१ ab इत्यादि
शतवारो अनीनशद्यक्ष्मान् रक्षांसि तेजसा। अ० १९।३६।१ ab इत्यादि
आयुषोऽसि प्रतरणं विप्रभेषजमुच्यसे॥ अ० १९।४४।१ ab
१०. अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत्॥ अ० ६।८०।१ ab इत्यादि
११. उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके। अ० २।८।१ a इत्यादि
क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद्॥ अ० २।१०।१ a इत्यादि
अ० ३।७।१ (दे० पृ० ९२ नोट १)

उपदंश के समान ही हो। अन्य आन्तरिक रोगों का भी यत्र-तत्र निर्देश किया गया है, अथवा रोगघ्न ओषधियों (टीकाकारों के अनुसार सर्वभैषज्य) में इनकी ओर इशारा कर दिया गया है; विशेषतः २. ३३, ९. ८ और १९. ४४[1] में। इनके लिये त्सिमर, पृ० ३७८ और सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट की रोग-सूची ४२, ६९७ देख लेनी उचित है।

बाह्य रोगों, विशेषतः चर्म-रोगों की चिकित्सा के लिये बहुत से अभिचार-सूक्त कहे गये हैं। कुष्ठ (किलास) को १–२३[2] और २४ में काली वनस्पति 'रजनी' और 'श्यामा' (एलोपैथिक प्रतीकवाद) द्वारा ठीक किया गया है। 'विद्रध' का अन्य रोगों के साथ निर्देश अवे० ६. १२७. १; ९. ८. २०[3] में हुआ है। 'अपचित्' और बाद में 'अपची' कहाने वाली गण्डमाला के दुःखों एवं उनसे संबद्ध रोगों के अभिचार खासतौर से रुचिकर हैं : ६. २५; ६. ५७; ७. ७४; १. २; ७. ७६; १. २; ७. ७६. ३[4]। इस विषय पर ब्लूमफील्ड के निबन्ध से पहले भ्रान्त धारणाएं प्रचलित थीं। पीड़ा, सूजन एवं छोटे-मोटे फोड़ों को, जो इन रोगों में उभर आते हैं, स्वयं सूक्त में अपने आप हट जाने या समाप्त हो जाने के लिये कहा गया है, क्योंकि सामान्य जनता की नजर में वे रोगियों पर पक्षियों की तरह आ बैठा करते हैं। सूत्र ग्रन्थ इस रोग का उपचार कठोर प्रकार से करता है और एक स्थान पर (६. ५७) स्वयं मन्त्रों ने रुद्र की प्रसिद्ध औषध 'जलाष' (ठण्डी) को इस बीमारी का उपचार माना है। चोटों एवं घावों के उपचार के लिये दो सूक्त (४. १२; ५. ५) मिलते हैं, जो प्रकृत वनस्पति की उसके अरुंधती, 'लाक्षा' अथवा सिलाची आदि विविध नामों से मिन्नत-समाजत करते हैं। 'अरुंधती' शब्द रोग (अरुस्-घाव) और वनस्पति के बीच लाक्षणिक संबन्ध को ख्यापित करता है। ए० कुह्न ने इन दो सूक्तों में से प्रथम की तुलना मेर्सबुर्ग अभिचार से और इसी प्रकार की रचनाओं की बहुत सी ट्यूटानिक तथा स्लाविक रचनाओं से की है।

---

१. २।३३।१ a (दे० पृ० ७५ नोट १)
   ९।८।१ (दे० पृ० १२४ नोट ९)
   १९।४४।१ (दे० पृ० १२४ नोट ९)

२. १।२३।१ (दे० पृ० ९१ नोट १३)

३. विद्रधस्य॑ बलास॑स्य लोहि॑तस्य वनस्पते। अ० ६।१२७।१ ab इत्यादि
   विसल्यस्य॑ विद्रधस्य॑ वातीकारस्य॑ वालजेः।
   यक्ष्मा॑णां सर्वे॑षां विषं निर॑वोचमहं त्वत्॥ अ० ९।८।२० a इत्यादि

४. पञ्च॑ च याः प॑ञ्चाशच्च॑। अ० ६।२५।१ a
   इदमिद्वा उ॑ भेषजमिदं रुद्रस्य॑ भेषजम्॥ अ० ६।५७।१ ab इत्यादि
   अपचितां लोहि॑नीनां कृष्णा मातेति॑ शुश्रुम॥ अ० ७।७४।१ ab इत्यादि
   आ सुस्रसः॑ सुस्रसो॑ असतीभ्यो असत्तराः। अ० ७।७६।१ ab इत्यादि

अवे० ६. १०९[1] में मरीच (पिप्पलि) को उसी रोग के उपचार के लिये बताया गया है। रक्त-प्रस्राव को सूक्त १. ११७[2] में अभिचार द्वारा बन्द किया जाता है जो वालुका-पूरित रक्तस्राव-रोधक पट्टी की ओर संकेत करता है। ब्राह्मण तथा सूत्र ग्रन्थ में वैदिक साहित्य के दो भेद 'सर्पविद्या' तथा 'विषविद्या' (साँपों एवं विषों का शास्त्र) का उल्लेख मिलता है। ये दोनों विज्ञान यातु-विद्या और रक्षोविद्या के समान ही अथर्ववेद की ओर संकेत करते हैं, जिसमें न केवल सर्पों को घर से दूर रखने के लिये ही (नीचे प्र० ५७) अपितु उनके विषाक्त दंशन की चिकित्सा के लिये भी कई अभिचार पढ़े गये हैं। ऐसे अभिचार हैं : ५. १३; ५. १६; ६. १२; ७. ५६ और ७. ८८[3]। इनमें ५. १३ विशेष रोचक है, क्योंकि इसमें लोकसाहित्य के शब्द पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। अन्य शब्दों में 'तावबुम' शब्द रोचक है, जिसकी वेबर ने 'टेबू' के साथ समानता दिखाई है, यद्यपि इसमें साम्य की कठिनाई को भी उन्होंने स्वीकार किया है। इस प्रकार के अभिचारों का महत्त्व गारुड-उपनिषद् से प्रकट हो जाता है, जो सर्पदंश के लिये एक अभिचार-मात्र है, और जो ब्रह्मा के मुख से निकली होने के कारण ब्रह्म-विद्या के पद पर आसीन कर दी गई है। अकेली बंगाल प्रेसीडेन्सी में ही १८७६ में सर्पदंश से मृतकों की संख्या ११४१६ आंकी गई थी। सांप के अलावा अन्य विषों के प्रति भी मन्त्र मिलते हैं—४. ६[4] (विषाक्त बाण) ४. ७[5]; और ६. १००[6]। इन स्थलों पर जल ही को उपचार माना गया प्रतीत होता है। अवे० ७. १०० विशेष रोचक है, क्योंकि इसमें जलोत्पादिका पिपीलिकाएँ (उपजीका) ही आरोग्यप्रद द्रव को उत्पन्न करती हैं। याज्ञिक साहित्य इन विषाभिचारों को सर्पराज तक्षक (वैशालेय) के लिये प्रार्थना से सुसज्जित करता है। कृमि-अभिचार से संबद्ध तीन अभिचार हैं : १. ३१[7] (सामान्य कृमि), २. ३२[8] (पशुओं

---

१. पिप्पली क्षिप्तभेषज्यु१तातिविद्धभेषजी ॥ अ० ६।१०९।१ ab इत्यादि

२. अ० १।१७।१ (दे० पृ० ८८ नो० ११)

३. ददिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम् । अ० ५।१३।१ ab
यद्यंकवृपोऽसि सृजारसोऽसि । अ० ५।१६।१ इत्यादि
परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम् । अ० ६।१२।१ ab इत्यादि
तिरश्चिराजेरसितात्पृदाकोः परि संभृतम् ॥ अ० ७।५६।१ ab
अ० ७।८८।१ (दे० पृ० ७८ नो० ५)।

४. ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः । अ० ४।६।१ ab

५. वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि ॥ अ० ४।७।१ ab

६. देवा अदुः सूर्यो अदाद् द्यौरदात्पृथिव्यदात् ॥ अ० ६।१००।१ ab

७. इन्द्रस्य या मही दृषत् ॥ अ० २।३१।१ a

८. अ० २।३२।१ (दे० पृ० ७४ नो० ६)।

के कृमि) और ५. २३[1] (शिशुओं के कृमि)। इन मन्त्रों के समानान्तर मन्त्र अनेक ग्रन्थों, विशेषतः तैत्तिरीय आरण्यक और सामवेद मन्त्र-ब्राह्मण में मिलते हैं। ए० कुह्न ने दर्शाया है कि जन-ओषधि—संबन्धी साधारण विचार में बहुत से रोगों को कृमि-जन्य माना जाता है। सिर के कृमि (२. ३१. ४[2]), चार आँखों वाले रंग-विरंगे कृमि (२. ३२. २[3]) तथा अन्य कृमियों का आधार यही प्रतीत होता है। इस संबन्ध में सूत्र जटिल क्रियाओं को उपस्थित करते हैं। सूक्त ६. १६[4] 'आवयु' नाम के पदार्थ के प्रति है। इसे कौशिक सूत्र सरसों बताता है और यह नेत्र-रोग के लिये है। आँख का एक रोग अलजि, जिसका परवर्ती औषध-शास्त्र में भी उल्लेख मिलता है, अवे० ९. ८. २०[5] में निर्दिष्ट है। उसी सूक्त में (एवं अन्यत्र भी) कर्ण-रोगों का भी उल्लेख मिलता है (९. ८. १, २[6])। तीन जीवन्त एवं सुन्दर अभिचार ६–२१, १३६,[7] १३७ केश-वर्धन के लिये हैं : 'अश्वरश्मि से केश मापे जा सकते हैं, बाहों को फैलाकर वे मापे जा सकते हैं। तुम्हारे बाल बेंतों की भांति बढ़ें और सिर के चारों ओर काली जटाओं के रूप में फैले रहें (६. १३७. ३)। इन तीनों अभिचारों में से एक (६. १३६) वनस्पति 'नितत्नी' (वह जो मूल ग्रहण करती है) से संपन्न होने वाली यातु क्रिया का वर्णन करता है। किंतु ये तीनों सूक्त काल्पनिक प्रतीकात्मक

---

१. ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ॥ अ० ५।२३।१ ab

२. अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् । अ० २।३१।४ ab

३. विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ अ० २।३२।२ a

४. आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो ॥ अ० ६।१६।१ ab

५. अ० ९।८।२० (दे० पृ० १२५ नोट ३)

६. अ० ९।८।१ (दे० पृ० १२५ नोट १)

७. इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा । अ० ६।२१।१ ab
यां जमदग्निरखनद्दुहित्रे केशवर्धनीम् । अ० ६।१३७।१ ab इत्यादि
दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे । अ० ६।१३७।३ ab
देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे ।
तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि ॥ अ० ६।१३६।१ a
आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो ।
आ ते करम्भमद्मसि ॥ ६. १६. १
विहल्हो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता ।
स हि न त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ २ ॥
तौविलिकेऽवेलय यावायमैलब ऐलयीत् ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥
अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा ।
नीलागलसाला ॥ ४ ॥

अनुष्ठानों से संवलित हैं। तीन अभिचार ४. ४; ६. ७२ और ६. १०१[1] स्पष्ट भाषा में वाजीकरण हैं और वे शेप-हर्षण के लिये बताये गये हैं।

'बँध जाने और वश में पड़कर भी बड़बड़ाने वाले' पागल व्यक्ति का अभिचार ६. १११[2] में है। उन्मत्तता, प्रेतों से धरे जाने पर पैदा होती है, विशेषतः मस्तिष्क को डिगा देने वाले गंधर्वों और अप्सराओं के छलछद्म से। इस स्थान पर पर आते ही आथर्वण चिकित्सा भूत-विद्या में प्रवेश कर जाती है। दोनों के बीच की सीमा-रेखा शायद ही कहीं सुस्पष्ट उभर पाई हो। ये सूक्त प्रस्तुत प्रबन्ध के तृतीय वर्ग में विवेचित सूक्तों से अत्यन्त घनिष्ठता के साथ संवद्ध हैं। विलक्षण अभिचार ४. ३७[3] में राक्षस, गंधर्व तथा अप्सराओं को आविष्ट व्यक्ति से दूर करने के लिये बकरी के सींग वाली वनस्पति (अजश्रृङ्गी-टीकाकार इसे मेषश्रृङ्गी या विषाणी कहते हैं) से दुआ मांगी गई है। इस विशिष्ट वनस्पति का चयन अंशतः या पूर्णतः इसके अर्थ (निर्वचनात्मक प्रतीकवाद) के कारण किया गया है। रक्षस् और ग्राही २. ९[4] में दश पवित्र (शान्त) लकड़ियों से निर्मित तावीज के

---

१. यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ ४।४।१
आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ४।४।७ ॥
अश्वस्याश्व तरस्याजस्य पेत्वस्य च।
अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥ अ० ४।४।८
यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु ॥ ६।७२।१
यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम्।
यावत्परस्वतः पसस्तावत्ते वर्धतां पसः ॥ ६।७२।२ ॥
यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत्ते वर्धतां पसः ॥ ३ ॥ अ० ६।७२।३
आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च।
यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि ॥ ६।१०१।१
येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम्।
तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ ६।१०१।२ ॥
आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ३ ॥ अ० ६।१०१।३ ab

२. अ० ६।१११।१ (दे० पृ० ८०, अन्तिम मन्त्र)।

३. त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे। अ० ४।३७।१ ab दे० पृ० ३८ नोट १

४. दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु। अ० २।९।१ ab

द्वारा हटाए गए हैं। १९. ३६[1] में दानव एवं रोग दूसरी सौ प्रकार की वस्तुओं के मिश्रण से निर्मित तावीज के द्वारा हटाए गए हैं। अन्तिम तीन अभिचारों का ट्यूटानिक लोक-साहित्य के अभिचारों के साथ सादृश्य स्पष्ट है। ४. ३६ और ६. ३२[2] में राक्षस तथा पिशाच झाड़-फूक द्वारा हटाए गए हैं। 'पृश्निपर्णी' वनस्पति रोगों के दैत्य कण्व पर—जिसे गर्भस्थित भ्रूण का भक्षक माना गया है—जादू का काम करती है (२. २५[3])। सुश्रुत आज भी पृश्निपर्णी को गर्भस्राव का निरोधक (गर्भस्रावे) मानता है। 'जंगिड' वनस्पति से निर्मित तावीज के प्रति कहे गए तीन सूक्त रोगों तथा दानवों के प्रति कारगर बताये गये हैं: २. ४; १९. ३४; ३५[4]।

दूसरे स्थल पर ये उपचारात्मक अभिचार द्वितीय वर्ग के आयुष्य सूक्तों में जा मिलते हैं। विशेष पदार्थ और सामान्यतः जल और वनस्पतियों की प्रार्थना, रोग से पूरी तरह छुटकारे के लिये की गई है (= सर्व-रोग भैषज्य)। इस प्रकार ६-१५[5] में वरण वृक्ष (वर् रक्षा करना); ६-९५[6] में कुष्ठ वनस्पति; ६-१२७[7] में चीपुद्रु वृक्ष; १९.३८[8] में गुग्गुलु; ६. ९१[9] में जल तथा जौ; १९. ४४[10] में अनुलेप (आंजन) का रक्षायन्त्र निर्दिष्ट है। सोम एवं रुद्र से ७. ४२[11](ऋ० ६. ७४. २, ३[12]) में प्रार्थना की गई है। ४. १३[13] में 'वात' वायु से (ऋ० १०. १३७[14]) तथा-कथित

१. शतवारो अनीनशद् यक्ष्मान् रक्षांसि तेजसा। १९।३६।१ ab; ६ मन्त्र
२. तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा। अ० ४।३६।१ ab
अन्तर्दावे जुहुता स्वे३ तद्यातुधानक्षयणं घृतेन। अ० ६।३२।१ ab
३. शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः। अ० २।२५।१ ab
४. अ० २।४।१ (दे० पृ० ८० नो० ३)
अङ्गिरा असि जङ्गिड रक्षितासि जङ्गिड।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वं रक्षतु जङ्गिडः। अ० १९।३४।१ ab इत्यादि
५. इन्द्रस्य नाम गृह्णन्त ऋषयो जङ्गिडं ददुः। अ० १९।३५।१ ab
६. अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि॥ अ० ६।९५।१ ab
७. वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम्। अ० ६।१२७।२ cd
८. न तं यक्ष्मा आ रन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते। अ० १९।३८।१
९. इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः।
तेना ते तन्वो३ रपोऽपाचीनमप व्यये॥ अ० ६।९१।१ इत्यादि ३ मन्त्र
१०. आयुषोऽसि प्रतरणं विप्रभेषजमुच्यसे। अ० १९।४४।१ ab १० मन्त्र
११. सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश। अ० ७।४२।१ इत्यादि
१२. सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश। ऋ० ६।७४।२ ab इत्यादि
१३. उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः। अ० ४।१३।१ ab इत्यादि
१४. उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः। ऋ० १०।१३७।१ ab इत्यादि

शंतातीय सूक्त में प्रार्थना की गई है। जल के प्रति कहे गए सूक्त और मन्त्र—जो संभवतः अथर्ववेद में मौलिक नहीं—सर्वरोगघ्न औषध (१, ४–६[1]) के रूप में अथवा किसी विशेष रोग के उपचार के लिये (यथा ६–७२[2]) प्रयुक्त हैं, और सूत्र इनका जलोदर के शमनार्थ विधान करते हैं। इसी प्रकार ६. ९६[3] और विशेषतः लम्बे सूक्त ८. ७[4] में वनस्पतियों के प्रति प्रार्थनाएं आती हैं, जो सभी संभव अभिचारों और औषध-वनस्पतियों के गुणों को (जो ऋ० १०–९७[5] के तथा-कथित ओषधि-स्तुति के सदृश है) गिनाता है, अथवा जिसे एक सामान्य सूक्त या मन्त्र-भैषज्यम् के रूप में अपनाया गया है, जैसे कि ७. १०[6] (ऋ० १. १६४. ४९[7]) को जो जम्भ-नामक दैत्य द्वारा धरे गये बालक के उपचारार्थ एक अभिचार है, उस समय जब कि बालक अभी अपनी माता की गोद में होता है। (इस मन्त्र के 'स्तन्' शब्द पर ध्यान दीजिये)। ऐसे भी सूक्त हैं, जिनका उद्देश्य सभी रोगों से मुक्ति दिलाना है फिर चाहे ये रोग वास्तविक हों या काल्पनिक। इन रोगों को एक-एक करके नाम गिनाकर, झाड़-फूंक द्वारा झाड़ा गया है : अवे० २. ३३[8] (ऋ० १०. १६३=[9] अथ० २०. ९६[10]) और ९. ८ (१९. ४४[11] से भी तुलना कीजिये)। अन्त में दीर्घायु प्राप्ति के लिए प्रयुक्त सूक्त २. २९ [12] का उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है, जिसे कौशिक सूत्र २७. ९–१३[13] प्यासे (तृष्णागृहीत) व्यक्ति के रोग को दूसरे पर डालने के लिये अभिचार-रूप में प्रयुक्त करता है।

५१. *वर्ग २. दीर्घायुष्य एवं स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिये प्रार्थनाएँ*—(आयुष्याणि) सूक्तों के द्वितीय वर्ग में—जो परंपरा से 'आयुष्याणि' कहाता आ रहा है—और भैषज्यानि में विभाजक रेखा सुस्पष्ट नहीं उभर पाती है। इस प्रकार १९. ४४

---

१. अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ अ० १।४।१ इत्यादि; दे० पृ० ७२ नो० ४

२. कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति। अ० ६।२२।१ ab ३ मन्त्र

३. या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ अ० ६।९६।१

४. या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः। अ० ८।७।१ ab इत्यादि

५. या ओषधीः पूर्वा जाताः। ऋ० १०।९७।१ c इत्यादि

६. अ० ७।१०।१ (दे० पृ० ७८ नो० १)

७. यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि। ऋ० १।१६४।४९ ab

८. अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्याम्। अ० २।३३।१ a दे० पृ० ७५

९. अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्याम्। ऋ० १०।१६३।१ a इत्यादि

१०. तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहि। अ० २०।९६।१ a इत्यादि

११. अ० १९।४४।१ (दे० पृ० १२९ नो. १०)

१२. अ० २।२९।१ (दे० पृ० ८०)

१३. पार्थिवस्येत्युद्यति पृष्ठसंहितावुपवेशयति। कौ० सू० २७।९ इत्यादि

यद्यपि मुख्यतया 'आयुष्यम्' के लक्षणों को प्रदर्शित करता है, तथापि यह रोगों की एक लम्बी सूची को भी प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार का सूक्त ३-११[1] है। यह रोगों का उल्लेख करता है पर साथ ही एक रुचिकर विधान में कौशिक सूत्र २७. ३२-३३[2] द्वारा ग्राम्यव्याधि के प्रतिकूल भी प्रयुक्त हुआ है। टीकाकार इस ग्राम्य व्याधि को जननेन्द्रिय-संवन्धी रोग वताते हैं। पूरे श्रौत एवं गृह्यसूत्रों में ऐसे सूत्र और मन्त्र अधिक मात्रा में पाये जाते हैं, जिनमें जीवन (आयुष्) एवं प्राण-रक्षा के लिये प्रार्थनाएँ की गई हैं; और कभी-कभी अन्य इष्ट पदार्थों के लिये भी – जैसे कि वर्चस्, वल, यशस्, कीर्ति, पशु तथा अन्य प्रकार की संपत्ति। 'वैदिक कन्कार्डेन्स' में ऐसे सूत्र या पद, जो केवल आयुः और दीर्घ (आयुः) इन शब्दों से अथवा इनसे बने शब्दों से प्रारम्भ होते हैं, २०० से भी कहीं ऊपर हैं। अथर्ववेद के ऐसे सूक्तों, अर्थात् 'आयुष्याणि' की विशेषता उनमें की गई रोगमुक्ति के लिये प्रार्थनाएं उतनी नहीं हैं, जितनी कि यज्ञकर्ता अथवा किसी एक हिन्दू वालक के लिये सौ वर्ष का आदर्श जीवन पाने के लिये की गई प्रार्थना, जो वालक कि जन्म से उपनयन तक के विविध संस्कारों में से होकर वयस्क जीवन में प्रवेश कर रहा है। फलतः इन सूक्तों का आथर्वण कर्मकाण्ड में 'आयुष्याणि' (कर्माणि) के नाम से उचित प्रयोग हुआ है जो कौशिक सूत्र ४२. १८[3] से प्रारम्भ होते हैं और जिनमें चूडाकरण, श्मश्रुवपन (गोदान) और उपनयन संस्कार संमिलित हैं। गृह्यसूत्र भी इन्हें उन्हीं अवसरों पर प्रायः उसी रूप में प्रस्तुत करते हैं। आथर्वण सामग्री में मौलिकता नहीं के समान है; क्योंकि आथर्वणमन्त्र अन्य संहिताओं के मन्त्रों से मिलते-जुलते हैं। इनमें से २. २८, ३. ११[4] जैसे एक या दो सूक्तों का निदर्शन पूरे वर्ग के वैशिष्ट्यों की वानगी के लिये पर्याप्त है। इनमें आयुष्, जीवन, असु, प्राणापानों की मांग की गई हैं : जीवन सौ वर्ष का होगा (शतशारद, शतंहिमाः, शतायुः), वुढ़ापे से पहले मृत्यु नहीं आयेगी (जरस्, जरा, जरिमन्, जरामृत्यु, जरदष्टि)। यह अभिचार शत या शताधिक मृत्युओं से वचावेगा। (मृत्यवो·····शतं ये २. २८. १), 'अन्ये मृत्यवो यान् आहुरितराञ्छतम्' ३. ११. ७ एकशतम् ८. २. २७)। सुश्रुत आज भी १०१ मृत्युओं को अथर्ववेद की धारणा के अनुरूप ही स्मरण करता है (आयुर्वेद १. १२२. १०) 'एकोत्तरं शतमथर्वाणः प्रचक्षते' (तुल० सेक्रेड

---

१. अ० ३।११।१ (पृ० १२० नो. २)

२. मुञ्चामि त्वेति ग्राम्ये पूतिशफरीभिरोदनम् । कौ० सू० २७।३२
अरण्ये तिलशणगोमयशान्ताज्वालेनावनत्त्रेऽवसिञ्चति । कौ० सू० २७।३३

३. विश्वे देवा इत्यायुष्याणि ॥ कौ० सू० ५२।१८

४. तुभ्यमे॒व ज॑रिमन्वर्धताम॒यं मेमम॒न्ये मृ॒त्यवो॑ हिंसिषुः श॒तं ये। अ० २।२८।१ a इत्यादि
अ० ३।११।१

बुक्स आफ दि ईस्ट ४२, पृ० ३०७)। अन्त में यम, मृत्यु, अन्तक, निर्ऋति आदि को नम्रता एवं भक्ति से मनाया गया है। निःसंदेह यह पद्धति केवल 'आयुष्याणि' एवं औषध अभिचारों तक ही सीमित नहीं, अपितु समृद्धि के लिये अपनाए गए अभिचार सामान्य रूप में, और यातुक्रिया-संबन्धी अभिचार स्वाभाविक रूप में इसका उपयोग करते हैं। फिर भी यह उक्त वर्ग की एक प्रमुख विशेषता है। सूत्र एवं अथर्व टीकाकारों को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने एक व्यवस्थित ढंग से इनकी व्याख्या की और काफी हद तक इन सूक्तों का ठीक उन्हीं अवस्थाओं में प्रयोग प्रस्तुत किया जिन अवस्थाओं में कि बहुत सीमा तक उनकी रचना हुई थी।

इन सूक्तों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इनमें अग्नि को प्रमुखता मिली है, जिसके साथ प्राचीन आख्यानात्मक इतिहास के एक अंश का संबन्ध जुड़ा हुआ है। अग्नि स्वयं आयु 'जीवित' हैं; कथाओं एवं आख्यानों के 'आयु का', विशेषतः पुरूरवस् और उर्वशी के पुत्र 'आयु' का वास्तविक स्वरूप इस प्राकृतिक पृष्ठभूमि के बिना शायद ही कभी स्पष्ट हो पाता। फलतः आयुष्य-सूक्त जीवन को अग्नि की ही संरक्षकता प्रदान करते हैं; किंतु ये अन्य देवताओं को भी छोड़ नहीं देते। याजुष-ग्रन्थों, गृह्यसूत्रों और उपनिषदों में भी अग्नि बहुधा प्राणों के साथ संबद्ध मिलते हैं। अथर्ववेद के लिये तो अग्नि सर्वेसर्वा हैं; देखिये ७. ५३. ६ 'आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः' सूक्त २. १३; २८; २९; ७. ३२[1]; और इसी प्रकार के अनेक छिट-फुट मन्त्र, जो इस बात के उचित निदर्शन हैं। तभी तो इन सूक्तों के फीकेपन को इनका संबन्ध जीवनदायी एवं जीवनरक्षक ताबीजों के साथ जोड़ कर दूर किया गया है। सोने का ताबीज, जिसे स्वर्णधनी दाक्षायणों ने शतानीक के बाँधा था (१. ३५[2]) इसी प्रकार का है। १९. २६[3] में भी एक स्वर्ण रक्षायन्त्र का प्रयोग हुआ है। अनुलेप (आञ्जन) का प्रयोग ४. ९; १९. ४४, ४५[4] में है; मोती और इसके आवरण ४. १०[5] में आते हैं;

---

१. आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने। अ० २।१३।१ ab
अ० २।२८।१ (दे० १३१ नो. ४) अ० २।२९।१ (दे० पृ० ८०)
उपप्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम्। अ० ७।३२।१ ab

२. यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ अ० १।३५।१

३. अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यममृतं दध्रे अधि मर्त्येषु। अ० १९।२६।१ ab

४. एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम्। अ० ४।९।१ ab
अ० १९।४४।१ (पृ० १२९ नो. १०)
ऋणादृणमिव सं नय कृत्यां कृत्याकृतो गृहम्। अ० १९।४५।१ ab

५. वाताज्जातो अन्तरिक्षाद्विद्युतो ज्योतिषस्परि। अ० ४।१०।१ ab

पूतुद्रु वृक्ष ८. २[1] में आया है, 'अस्तृत' (अजितः') नामक एक रक्षायन्त्र का १९. ४६[2] में उल्लेख है। इसी प्रकार पवित्र मेखला ६. १३३[3] में 'आयुष्यम्' का आधार प्रस्तुत करती है; और ६. ६८[4] में श्मश्रुवपन आयुष्यदायक अनुष्ठान के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। सूक्त ३. ३१[5] मिश्रित रचना के साथ-साथ आख्यानात्मक स्मृतियों से उसी लक्ष्य पर जा पहुँचता है। सूक्त ८. १ और २[6], जिनका (कौशिक सूत्र ५८. ३. ११[7]) 'ब्राह्मणोक्तम्' तथा 'ऋषिहस्त' (उपनयन के अङ्ग) नामक विशिष्ट संस्कारों में प्रयोग हुआ है अपनी भाव-प्रवलता एवं दीर्घ विस्तार के कारण सच्चे रूप में आथर्वणिक हैं। इस वर्ग के सूक्तों का यजुष् एवं गृह्यसूत्रों के गद्य-सूत्रों से संवन्ध तथा-कथित २. १५-१७, ९. ९[8] सूक्तों में निखर उठता है। गद्य मन्त्र, जिनसे १९. ५१, ६०, ६१, ६७[9] का निर्माण हुआ है, इन पाठों में भी दिखाई पड़ते हैं। शेष आयुष्य-सूक्त देवशास्त्रीय एवं प्राचीन रोचकता से खाली हैं (१. ३०; ३. ११; ५. २८; ३०; ६. ४१; ५३; १९. २४; २७; ५८; ७०[10]) और शनैः-शनैः अस्पष्ट रूप में ऐसी सूक्तशैली में बह जाते हैं,

---

१. अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम् । अ० ८।२।२८ cd

२. प्रजापतिष्ट्वावध्नात्प्रथममस्तृतं वीर्याय कम् । अ० १९।४६।१ ab

३. य इमां देवो मेखलामाबबन्ध । अ० ६।१३३।१ a

४. आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि । अ० ६।६८।१ ab इत्यादि

५. वि देवा जरसावृतन्वि त्वमग्ने अराल्या । अ० ३।३१।१ ab

६. अन्तकाय मृत्यवे नमः । अ० ८।१।१ a इत्यादि

७. वि देवा जरसोत देवा आवतस्त उप प्रियमन्तकाय मृत्यव आ रभस्व प्राणाय नमो विषासहिमित्यभिमन्त्रयते । कौ० सू० ५८।३ से ११ तक ।

८. यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः । अ० २।१५।१ ab इत्यादि
दिवे स्वाहा । अ० ५।९।१ इत्यादि

९. अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः । अ० १९।५१।१
वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः । अ० १९।६०।१ ab
तनूस्तन्वा मे भवेदन्तः सर्वमायुरशीय । अ० १९।६१।१ ab
पश्येम शरदः शतम् । अ० १९।६७।१

१०. विश्वे देवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन् । अ० १।३०।१ ab इत्यादि
अ० ३।११।१ (पृ० १२० नो. २)
नव प्राणान्नवभिः सं मिमीते । अ० ५।२८।१ a
आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः । अ० ५।३०।१ ab
मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये । अ० ६।४१।१ ab
द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन्दक्षिणया पिपर्तु । अ० ६।५३।१ ab
येन देवं सवितारं परि देवा अधारयन् । अ० १९।२४।१ ab

जो वस्तुतः 'आयुष्य' नहीं है; इन्हें सूत्र दूसरे ही रूप में लेता है (पौष्टिक वर्ग ८, प्रकरण ५७)। फिर भी वे अपने सामान्य उद्देश्य से दूर नहीं हुए हैं। (१. ३१; ४. १३; ६. ५; १३; १६. ४; १९. ३०; ३२, ३३[1]; देखिये बड़ा तथा-कथित विषासहिसूक्त, काण्ड १७)।

५२. *वर्ग ३ दैत्यों, आभिचारिकों, एवं शत्रुओं के विरुद्ध टोने (आभिचारिकाणि एवं कृत्याप्रतिहरणानि)*—तृतीय वर्ग के सूक्तों का दानवों, आभिचारिकों और शत्रुओं के विरुद्ध प्रयोग होता है। शत्रुओं, आभिचारिकों और दानवों के बीच आथर्वणिक हिन्दू अन्तर नहीं करता, जैसा कि २-१८ से स्पष्ट है, जिसमें भ्रातृव्य, सपत्न, अराय, पिशाच और सदान्वा सबको एक ही श्रेणी में रख दिया गया है। इस वर्ग की सीमा-रेखाएं भी बहुत कुछ दबी हुई हैं और हर व्यक्ति के लिये आत्मनिष्ठ हैं। दैत्य-विद्या के दृष्टिकोण से इसका प्रथम वर्ग के साथ संबन्ध स्पष्ट है, क्योंकि उपचारात्मक अभिचारों का दानवों के प्रतिकूल प्रयोग किया जाता है। जहाँ तक इसमें शत्रुओं के विपरीत टोनों का प्रश्न है, इसकी राजकर्माणि (वर्ग ६ प्र० ५५) के साथ समता स्पष्ट है, जिसके युद्ध-सूक्त भी शत्रु को हानि पहुँचाने के लिये पढ़े जाते हैं। इसकी ब्राह्मणों के उन अभिचारों के साथ भी समता व्यक्त है, जिनका वे अपना अनादर करने वाले एवं अपने को सताने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध प्रयोग करते रहे हैं; और स्त्रियों के प्रेमाभिचारों से इसकी समानता सुव्यक्त है, जिस अंश में उनका सपत्नियों का अहित करने के लिये विधान किया गया है (वर्ग ४ प्र० ५३); साथ ही उन अभिचारोंसे भी जो समाज में धाक एवं रौब जमाने

गोभिष्ट्वा पात्वृषभो वृषा त्वा पातु वाजिभिः । अ० १९।२७।१ ab
घृतस्य जूतिः समाना सदेव संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती ।
श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः ॥ अ० १९।५८।१ a
इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवत जीव्यासमहं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ अ० १९।७०।१

1. आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः । अ० १।३१।१ ab इत्यादि
उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ अ० ४।१३।१
उदेनमुत्तरं नयाग्ने घृतेनाहुत । समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि ॥ अ० ६।५।१
नमो देववधेभ्यो नमो राजवधेभ्यः । अ० ६।१३।१ ab
नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम् । अ० १६।४।१
यत्ते दर्भ जरामृत्युः शतंवर्मन्त्सुवर्म ते । अ० १९।३०।१ ab
शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तरः ।
दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नाम्यायुषे । अ० १९।३२।१ ab आदि १-१०
सहस्रार्घः शतकाण्डः पयस्वानपामग्निर्वीरुधां राजसूयम् ।
स नोऽयं दर्भः परि पातु विश्वतो देवो मणिरायुषा सं सृजाति नः ॥ अ० १९।३३।१ ab
इत्यादि १-५ मन्त्र

के लिये बोले जाते हैं (वर्ग ५ प्र० ५४), क्योंकि इन सभी प्रसङ्गों में प्रतिद्वन्द्विता की भावना प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से रहा ही करती है। प्रस्तुत वर्ग में इस वेद का घोर पक्ष, अर्थात् अभिचार एवं यातु-विद्या (रक्षो-विद्या) प्रायः आ जाते हैं। एक अच्छी खासी परंपरा के अनुसार-जो स्वयं वैदिक मन्त्रों से भी पहले की है—यह वेद अङ्गिरसों की अर्ध-दैवी जाति से संबद्ध है। ऐसे अभिचार अङ्गिरसः कहाये हैं, और ये अथर्ववेद के पुराने नाम (अथर्वाङ्गिरसः) का पिछला अंश हैं। 'आङ्गिरस-वेद' यह नाम उक्त प्रकार के घोर अभिचारों को समस्त आथर्वण से पृथक् करता है; क्योंकि 'आथर्वण' इस शब्द का प्रयोग प्रायः इस वेद के शोभन अभिचारों एवं क्रियाओं (भेषज, शान्त और पौष्टिक) के लिये किया गया है। अभिचार शब्द का प्रयोग सामान्य जादू-टोने के लिये होता है। अथर्वन् तथा अन्य वैदिक ग्रन्थ इसके अतिरिक्त कृत्या 'जादू', वलग 'प्रच्छन्नजादू' और मूल-कर्मन् 'जड़ों से की जाने वाली क्रियाओं, और प्रत्यक्ष वस्तुओं से की जाने वाली क्रियाओं से भी परिचित हैं। यातु या जादू उन स्थानों में निहित है, जहाँ से वे अधिकतम हानि कर सकते हैं। सूक्त १०. १ एक 'कृत्या' को प्रस्तुत करता है, जो शिर, नाक और कानों वाला एक पुतला है। यज्ञिय विधान ऐसे कलात्मक उपकरणों से परिचित हैं। वैदिक ग्रन्थ एवं परवर्ती विधि-साहित्य यातु-कर्म के विशिष्ट अंगों के लिये ऐसे शब्दों का व्यवहार करते हैं जो धीरे-धीरे रूढ़ बन जाते हैं: सपत्न-बाधन, नैर्बाध, विनाशन, पीडन, मारण, वशीकरण, विद्वेषण, मोहन, स्तम्भन, चेतन, और उच्चाटन; इनका अभिचार के विशिष्ट विभागों के रूप में विविध रूप से वर्गीकरण किया गया है। आथर्वण भगत यातु-क्रिया (अभिचार) तथा रक्षात्मक अथवा प्रतीकारात्मक अभिचार में भेद करते हैं। दूसरे प्रकरण का अभिचार केवल दूसरों द्वारा प्रयुक्त अभिचारों को कीलता है (प्रत्यभिचारण, प्रतिसर तथा प्रतीवर्त)। बाद के परिपाटीकरण में (यथा ऋग्विधान ४. ६.४; ८.३[1]) आङ्गिरस (=आभिचारिक) शब्द प्रत्याङ्गिरस (=प्रत्यभिचरण) में ढल जाता है।

ऋग्वेद (७. १०४; १०. ८४; १२८; १५५[2]), यजुर्वेद एवं उपनिषदों से लेकर शक्ति के उपासक तन्त्रों तक का सारा ही भारत यातु-क्रिया से कीलित दीख पड़ता है। इनमें भी यजुःसंहिता और श्रौत ग्रन्थ तो 'वह जो हमें घृणा करता है, अथवा जिसे हम घृणा करते हैं' की रट में अपने मानवीय औचित्य तक को भूल जाते हैं। यह किसी यज्ञिय अनुष्ठान को प्रतीकात्मक परिवर्तन द्वारा अभद्र रूप प्रदान करके, या तथाकथित काम्येष्टयः के प्रसंग में किया जाता है, जिनमें से अधिकतर का शत्रुओं के प्रतिकूल प्रयोग किया जाता है। फलतः

---

१. तस्याभिचरतः साक्षादङ्गिरसोऽप्यृषेः स्वयम्।
प्रत्यङ्गिरसकल्पेन सर्वं तत्प्रतिबाधते ॥ ऋ० ४।२०

२. ऋ० ७।१०४; १०-८४; १२८; १५५

यज्ञिय साहित्य के सूत्र बहुशः अथर्ववेद के अभिचार-सूक्तों के गद्यांशों के अनुरूप हैं अथवा उनसे मिलते-जुलते हैं। 'यो अस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः' सूत्र के अतिरिक्त हम इसी कोटि के 'इदम् अहं तं वलगमुत्किरामि' अथवा इस प्रकार की अत्यन्त प्रचलित कहावत 'इमम् अहम् आमुष्यायणम् अमुष्याः पुत्रम्' का उल्लेख कर सकते हैं। कहना न होगा कि अथर्ववेद के अभिचार-सूक्तों का यह समूह २. १९–२३[1] आथर्वणिक भावनाओं के अनुसारी मै० सं० १–५[2] एवं आप० श्रौ० सू० ६–२१. १[3] के विधानों से उद्भूत हुआ है। अथर्व-संग्रहों का, इनके परिनिष्ठित पूर्ण रूप में, समय-निर्धारण करते समय यह बात याद रखनी आवश्यक है कि इस प्रकार के कथन वैदिक साहित्य के बाहर भी प्रचलित थे और आदितम अथर्व-संस्करण से भी पहले विद्यमान थे। सच पूछो तो इस प्रकार के अभिचार का प्रयोग, भले ही उसे हम बुरा प्रयोग क्यों न कहें, भा-ईरानियन युग तक जा पहुँचता है। (दे० अवेस्तन 'यातु')।

अभिचार-सूक्तों का वह वर्ग, जिसमें दानवीय कोटि की घातक शक्ति है, इस प्रकार है : अवे० १. ७; ८, और २८[4], को यातुधान, किमीदिन्, अत्रिन्, पिशाच आदि के विपरीत प्रेरा गया है; प्रथम दो का प्रयोग यातुधानों को सामने आने और अपना स्वरूप उघाड़ने के लिये किया जाता है; क्योंकि जैसे ही वे अपना स्वरूप प्रकट करते हैं वैसे ही वे सीधे एवं पालतू कुत्ते जैसे बन जाते हैं। १. १६[5] में दानवीय झुण्डों पर शीशे से आक्रमण किया गया है, क्योंकि शीशे को दानवों का विशेष रूप से कीलक माना जाता है। क्रव्याद् अग्नि के विस्तृत अभिचारों में भी शीशे का प्रयोग निर्दिष्ट है (१२. २)।[6] परिवार की स्थापना में, अथवा जब पिता की अन्त्येष्टि के बाद गृह्याग्नि प्रज्वलित की जाती है, तब क्रव्याद् अग्नि को इसके लिये अभिप्रेत पदार्थ शीशा, बेंत, काली भेड़ और सेम आदि देकर कीला जाता है (कौशि० ७१. ६)।[7]

---

१. अ० २।१९।१ (दे० पृ० ७६ नो० ३।४) इत्यादि

२. त्वमग्ने सूर्यवर्चसा असि, सं मामायुषा वर्चसा सृज······मै० सं० १।५।८

३. वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यायुः कृदायुः पत्नी स्वधावो गोप्त्र्यो···आप० श्रौ० सू० ६।२१।१

४. अ० १।७।१ दे० पृ० ८१ नो० १
इदं हविर्यातुधानान्नदीफेनमिवा वहत्। अ० १।८।१ ab इत्यादि
उप प्रागाद् देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः। अ० १।२८।१ ab इत्यादि

५. येऽमावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्रिणः। अ० १।१६।१ ab इत्यादि

६. नडमा रोह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि। अ० १२।२।१ ab

७. यद्यग्निर्यो अग्निरविः कृष्णा मा नो रुरोः शुचिद्विदः शिवो नो अस्तु भरतो रराणः अतिव्याधी व्याधो अग्रभीष्ट क्रव्यादो अग्नीञ्छमयामि सर्वानिति शुक्त्या माषप्रिष्टानि जुहोति। कौ० सू० ७१।६

मन्त्र १३ और १४ में इसी प्रकार की झाड़-फूक की गई है, जो आप० श्रौ० सू० ९. ३-२२[1] में कुछ परिवर्तन के साथ मिलती है। इसी कोटि में और बहुत से अभिचार आ जाते हैं, जिनका संबन्ध धुंधले क्रूर दानवों के साथ है : ८. ६[2], तो स्पष्टतः स्त्री के सुप्रसव के लिये बना है। (देखिये नीचे प्रकरण ५३)। विष्कन्ध या 'काबव' कहाने वाले दानवों (या रोग) को ३. ९[3] में विशिष्ट रक्षायन्त्रों द्वारा, जिन्हें कौशिक सूत्र 'अरत्नु पौधे' का बना कहता है, तथा जिन्हें भूरे रंग के तागे से बाँधा जाता है, कीला गया है। स्त्री-दानवों (सदान्वा, तुल० ऋ० १०. १५५[4]) की एक बड़ी संख्या को, जिनके व्यक्तिगत नाम संदिग्धार्थक हैं, और जो मनुष्यों, पशुओं एवं गृहों की विद्वेषिणी हैं, २-१४[5] के द्वारा कीला जाता है। सूर्यमुखी के समान और यज्ञियग्रन्थों में सदंपुष्पा के नाम से विख्यात एक छोटी-सी अंखियावाली वनस्पति से एक रक्षायन्त्र बनाया जाता है जो सभी प्रकार के दानवों को प्रकट होने के लिये बाध्य करता और उन्हें भीगी बिल्ली बना देता है; ४. २०[6] में इसके विषय में कहा गया है[7] : यह यहाँ देखता है, वहाँ देखता है, दूरी पर देखता है' और इसलिये अपने मार्ग से आभिचारिकों तथा किमीदिनों को भगा देता है, अपामार्ग वनस्पति से भी उसके निर्वचन (अप + मृज् = हटाना) और श्रौत सूत्रों में एवं यहाँ भी उसके स्वाभाविक इतिहास की विशिष्टताओं के कारण उन्हीं दानवीय शक्तियों को कील देने के लिये प्रार्थना की गई है। तीन अभिचार ४. १७-१९[7] (तुल० ७. ६५[8] भी) इसके प्रति हैं। इससे भी अधिक नियमित ६. २; ३४[9] और ५२ हैं जो राक्षसों के प्रति प्रयुक्त हैं। उनका अधिकांश भाग ऋग्वेद में एवं अन्यत्र भी मिल जाता है। गद्य-सूक्त २. १८ और १. १९-२३[10]

---

१. अग्नये शुचयेऽष्टाकपालं यदि प्रदाव्येनाभ्यादाह्येन शवाग्निना वा······

आप० श्रौ० सू० ९।३।२२

२. यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ। अ० ८।६।१ ab इत्यादि

३. कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता। अ० ३।९।१ ab

४. अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे। ऋ० १०।१५५।१ ab इत्यादि

५. निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम्। अ० २।१४।१ ab

६. आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति। अ० ४।२०।१ ab

७. ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे। अ० ४।१७।१ ab

८. प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ। अ० ७।६५।१ ab

९. अ० ६।२।१ दे० पृ० १०२ नो० ५
प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम्। स नः पर्षदति द्विषः॥ अ० ६।३४।१ इत्यादि

१०. भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा। अ० २।१८।१
अ० २।१९।१ दे० पृ० ७६ नो० २

(देखिये ऊपर) दानवों और मानव शत्रुओं के बीच की अस्पष्ट सीमा को साफ कर देते हैं।

मानव शत्रुओं के विपरीत अनेक सूक्त कहे गये हैं। कहीं-कहीं तो वे सामान्य कोटि के हैं और नीरस हैं। बहुधा उनका प्रयोग किसी विशिष्ट देवता के लिये किया गया है, अथवा किसी अन्य वस्तु के प्रति, जिसका प्रयोग तावीज या किसी आक्रमण से बचाने वाली वस्तु के रूप में हुआ है। इस प्रकार ६. ३७, ७. १३ ५९[1] केवल अभिशाप हैं; ५. २९; ७. ३४, ८. ३[2] (= ऋ० १०. ८७[3]) रक्षोहन् अग्नि के प्रति हैं; १९. ६५; ६६[4] अग्नि के प्रति हैं, ७. ११०[5] अग्नि और इन्द्र (युद्धदेवों) के प्रति हैं; ७. ३१[6] इन्द्र के प्रति, ७. ९१, ९२[7] इन्द्र सुत्रामन् के प्रति; ७. ५१[8] इन्द्र और बृहस्पति के लिये; ८. ४[9] इन्द्र और सोम के लिये (ऋ० ७. १०४[10]); ६. ६[11] बृहस्पति और सोम के प्रति; और ७. ४५[12] मरुत् सांतपन के प्रति हैं (ऋ० ७. ५९[13]; तै० सं० ५. ३, १३. ३[14]) : इन सूक्तों के मन्त्र अन्य संहिताओं में बहुधा मिल जाते हैं, और ये स्वरूप से ही वैदिक हैं; इनमें कोई खास आथर्वणिकता नहीं है। अधिक महत्त्वपूर्ण तो वे हैं, जिनमें रक्षा-यन्त्र या

---

१. उप प्रागात्सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम् । अ० ६।३७।१ ab
यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे । अ० ७।१३।१ ab
यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् । अ० ७।५९।१ ab

२. पुरस्ताद्युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम् । अ० ५।२९।१ ab
अग्ने जातान्प्र णुदा मे सपत्नान्प्रत्यजातां जातवेदो नुदस्व । अ० ७।३४।१ ab
रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि । अ० ८।३।१ a

३. रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि । ऋ० १०।८७।१ a

४. हरिः सुपर्णो दिवमारुहोऽर्चिषा । अ० १९।६५।१ a इत्यादि

५. अ० ७।११०।१ दे० पृ० ९२ नो० १६

६. इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य । अ० ७।३१।१ a

७. इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः । अ० ७।९१।१ a
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु । अ० ७।९२।१ ab

८. बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः । अ० ७।५१।१ ab

९. इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतम् । अ० ८।४।१ a

१०. इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतम् । ऋ० ७।१०४।१ a इत्यादि

११. योऽस्मान्ब्रह्मणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते । अ० ६।६।१ ab

१२. जनाद्विश्वजनीनात्सिन्धुतस्पर्याभृतम् । अ० ७।४५।१ ab

१३. यं त्रायध्व इदमिदं देवासो यं च नयथ । ऋ० ७।५९।१ ab

१४. ······सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन ।······तै० सं० ४।३।१३।३

इसी प्रकार के अन्य किसी उपकरण का निर्देश मिलता है : १. २९[1], जो ऋग्वेद १. १७४ तथा १५९[2] के मन्त्रों के आधार पर गौण रूप में निर्मित हुआ है, शत्रु पर 'अभीवर्तेन मणिना' विजयी यन्त्र द्वारा आक्रमण करता है। इसी प्रकार ६. ७५[3] 'नैर्बाध्यम् हविष्' ('दबाने वाला हविष्') द्वारा आक्रमण करता है, और ३. ६[4] अश्वत्थ-निर्मित रक्षा-यन्त्र द्वारा, जिसका विशेषण 'वैबाध' अर्थात् 'हटाने वाला' है। एक वनस्पति का, जिससे दुष्ट घृणा करते हैं और जो शत्रुओं के अभिशापों को कील देती है' २. ७[5] में अभिमन्त्रण किया गया है। इसी प्रकार ६. १५[6] में तलास वृक्ष, लम्बे सूक्त १. ३[7] में वरणवृक्ष (वर् = बचाना, तुलना करो ६. ८५[8]) और १०. ६[9] में हल के समान बनाए गए एक तावीज को, जो खदिर वृक्ष से निर्मित है—खदिर वृक्ष हल बनाने के काम में भी आता था—समृद्धि तथा शत्रुनाश दोनों के लिये याद किया गया है। १९. २८; २९, ३०, ३२, ३३[10] में दर्भतृण इस काम को करता है। ६. १३४[11] में एक दण्ड (वज्र) को अभिचार के रूप में शत्रु के प्रति फेंका गया है और ६. १३५[12] तो स्वयं अपने भोजन और पेय को शत्रु के जीवन और प्राण को खा जाने के लिये अभिमन्त्रित करता है। दो सूक्त ६-९५ और ९७[13], जो यद्यपि कुछ गूढ़ हैं, शत्रु के दो गुर्दों के प्रति प्रयुक्त हैं। इनका आशय मूत्राशय की क्रिया को बन्द कर मूत्र को अवरुद्ध कर देना मालूम पड़ता है। इनमें का दूसरा सूक्त ७. ९६[14] मूलतः चल जाने वाले गुर्दे के उपचारार्थ बना औषध-सूक्त

---

१. अ० १।२९।१ a (दे० पृ० ९६, नो० ३) इत्यादि

२. त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नृन्पाह्यसुर त्वमस्मान्। ऋ० १।१७४।१ ab
प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवी ऋतावृधा मही स्तुषे विदथेषु प्रचेतसा। ऋ० १।१५९।१ ab

३. निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति। अ० ६।७५।१ ab

४. पुमान्पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि। अ० ३।६।१ ab

५. अ० २।७।१ दे० पृ० ९०, नो० ६

६. उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः। अ० ६।१५।१ ab

७. वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः। अ० ६।८५।१ ab

८. अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा। अ० १०।३।१ ab

९. अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः। अपि वृश्चाम्योजसा। अ० १०।६।१

१०. इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे। अ० १९।२८।१ ab
निक्ष दर्भ सपत्नान्मे निक्ष मे पृतनायतः। अ० १९।२९।१ ab
अ० १९।३०।१ दे० पृ० १३४, नो० १ अ० १९।३२।१ दे० पृ० १०९
सहस्रार्घः शतकाण्डः पयस्वानपामग्निर्वीरुधां राजसूयम्। अ० १९।३३।१ ab

११. अ० ६।१३४।१ दे० पृ० ७७, नो० ६

१२. अ० ६।१३५।१ दे० पृ० ७८

१३. अ० ६।९६।१ दे० पृ० १३०, नो० ३ इत्यादि

१४. असदन् गावः सदनेऽपप्तद्वसतिं वयः। अ० ७।९६।१ ab

प्रतीत होता है, जो गौण रूप में द्रोह की दृष्टि से प्रयुक्त हो गया है। वरुण के प्रति कहा गया सूक्त ४. १६[1], जो सचमुच उदात्त है—और जिसका अनुवाद बार-बार किया गया है—अथर्ववेद का निश्चित रूपसे अच्छा एवं मौलिक सूक्त है। यह छल-छद्म से बचाने के निमित्त वरुण से की गई प्रार्थना है, जिसकी शैली एवं नैतिक स्वरूप को देखकर धर्मग्रन्थ, विशेषतः साम्स्, याद आ जाते हैं। इतना ही सुन्दर २. १२[2] है, जो याज्ञिक साहित्य में 'भरद्वाज का भेदक' इस नाम से प्रसिद्ध है। काफी समय तक अग्नि-परीक्षा के रूप में इसका अर्थ गलत समझा जाता रहा था, किंतु यह तो पावन अनुष्ठान में विघ्न डालने वाले शत्रुओं के प्रति एक अभिचारमात्र है। इसके विपरीत ५-८ और ७. ७०[3] इसी अपवित्र कर्म के लिये अर्थात् शत्रु के यज्ञ-विध्वंस के लिए निर्मित हैं: 'निर्ऋति, मृत्यु के साथ, उसकी आहुतियों को उनके फल से पूर्व ही नष्ट कर दे' (७. ७०. १[4])। इनसे अत्यधिक संबद्ध तथा-कथित विहव्य सूक्त ५-३[5] (ऋ० १०. १२८[6]; तै० सं० ४, ७. १४) है, जिसका विहव्य नाम 'विहव' से व्युत्पन्न हुआ है और जिसका कोशों में 'आह्वान' अर्थ दिया गया है। इसका अर्थ है 'विभिन्न दिशाओं में 'आह्वान', विविध आह्वान। यह सूक्त प्राचीन यातु-विद्या का खासा निर्देशक है; एवं देवताओं को अन्य व्यक्ति के यज्ञ से हटाकर अपने यज्ञ में लाने के लिये बनाया गया है। श्रौत यज्ञों में यही धारणा स्पष्ट रूप से 'संसव' एवं 'विस्पर्धा' नाम से प्रसिद्ध यज्ञों के संघर्ष पक्ष में मिलती है। अथर्ववेद ७. ५[7] में एक विशिष्ट आथर्वणिकता दिखाई पड़ती है, और यह है इसी सूक्त में इसी सूक्त (विहव्य) की अत्यधिक प्रशंसा की बातें। देवताओं ने पुरुषमेध किया, किंतु उससे भी ऊँचा विहव्य यज्ञ है, 'व्यर्थ ही उन्होंने कुत्ते की बलि दी, एवं व्यर्थ ही उन्होंने गौ के अंगों की बलि दी, अकेले विहव्य ने उनका काम चला दिया' (मन्त्र ४. ५)। काम-सूक्त में मौलिक आध्यात्मिक विचारों के साथ-साथ अभिचार का मिश्रण भी मार्के का है: 'वह वृषभ, जो शत्रु का नाश करता है' ९. २[8]: 'काम-प्रेम' मूलतः एक सृजनात्मक शक्ति है (ऋ० १०. १२९. ४[9] = अथ० १९. ५२-१[10]); किंतु उसका सर्वोत्तम जीव

---

१. अ० ४।१६।१ दे० पृ० ७०, नो० १

२. द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षम्। अ० २।१२।१ a

३. वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह। अ० ५।८।१ ab अ० ७।७०।१ दे० पृ० ९२, नो० १२

४. अ० ७।७०।१। दे० पृ० ९२, नो० १२

५. ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु। अ० ५।३।१ a इत्यादि

६. द्यावा ह क्षामा प्रथमे ऋतेनाभिश्रावे भवतः सत्यवाचा। ऋ० १०।१२।१ ab

७. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। अ० ७।५।१ ab

८. सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन। अ० ९।२।१ ab

९. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। ऋ० १०।१२९।४ ab

१०. कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। अ० १९।५२।१ ab

के रूप में मूर्त बनना उसकी शक्ति की ओर संकेत करता है, जिससे वह अपने पूजकों की रक्षा करता है, एवं उनके शत्रुओं का नाश करता है (तु० नीचे प्र० ५९)। कृत्याओं के विपरीत प्रयुक्त अभिचारों (कृत्या-प्रतिहरण) का वर्ग, विशेषतः 'प्रति' एवं इससे बने समस्त शब्दों द्वारा सूचित है, यथा प्रत्यभिचरण २-११. २[1]; प्रतिसर एवं प्रतीवर्त ८. ५. १, ४[2]; प्रत्यञ्च् एवं प्रतीचीन १०. १. ६। जिन व्यक्तियों के विरुद्ध ये रक्षात्मक अभिचार प्रयुक्त होते हैं, उनके अभिधान हैं : (५. ३१. १२[3]) 'कृत्याकृत्' अभिचार का निर्माता, 'वलगिन्' जादू के लिये खोदने वाला, 'मूलिन्' जड़ों को खोदने वाला, और 'शपथेय्य' शाप छोड़ने वाला, (तु० ४. ९-५[4])। इन रक्षात्मक अभिचारों की शैली का एक अच्छा उदाहरण १०. १. ६[5] है; 'प्रतीचीन (पीछे मारने वाला) अङ्गिरसों का वंशज, हमारा निरीक्षक और पुरोहित है, तुम इन जादुओं तथा इन जादुओं के निर्माताओं को (प्रतीची......) हटाओ।' इन सूक्तों में से दो (२. ११, ८. ५[6]) स्रक्त्य वृक्ष (भाष्य० तिलक) से निर्मित 'स्राक्त्य' यन्त्र के साथ प्रयुक्त हैं। दूसरा (५. १४[7]) ऐसी वनस्पति के प्रति है, जिसका नाम नहीं लिया गया, तथापि एक अन्य २. २४[8] चार पुरुषों 'किमीदिनों' का और चार स्त्रियों 'किमीदिनियों' का विचित्र अभिधानों से उल्लेख करता है, और उनके अभिचारों को उन्हीं की ओर लौट जाने के लिये कहता है; दूसरे शब्दों में वह इनके अभिचारों को इनके रचयिताओं के पास ही लौटा देता है। ५. ३१[9] विशेष महत्त्व का है। इसमें गृहस्थी के जीवित एवं निर्जीव पदार्थों की लम्बी सूची दी गयी है, और इनमें जादू निहित किये गये हैं : यथा बिना पका पात्र, अन्न, कच्चा मांस, मुर्गा, बकरा तथा अन्य पशु; गार्हपत्याग्नि, गृहाग्नि, गृह, सभा-भवन, क्रीडा-स्थल, सेना, दुन्दुभि, बाण, अस्त्र, कुआ और श्मशान। एक अभिचार को, जो भयंकर तथा विनाशक (कोको, हौवा, भूत) है जिसके नाक, कान हैं और जो कई शकलों का

---

१. स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ अ० २।११।२

२. अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते। अ० ८।५।१ ab
अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः। अ० ८।५।४ ab

३. कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम्। अ० ५।३१।१२ ab

४. नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम् ॥ अ० ४।९।५ ab

५. प्रतीचीन आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः। अ० १०।१।६ ab

६. दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि। अ० २।११।१ ab

७. सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा। अ० ५।१४।१ ab

८. शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः। अ० २।२४।१ ab

९. यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये। अ० ५।३१।१ ab

है, जिसे एक राजा ने, स्त्री ने, अथवा ब्राह्मणों ने बनाया है, १०. १[1] में अत्यन्त घृणा एवं भय के साथ भगाया गया है। कौशिक सूत्र ४९.७[2] में इसी उद्देश्य से ४. ४० और ५-१०[3] जैसे सूक्तों को परस्पर जोड़ दिया गया है। ६. ३७ और ७. ५९[4] में अभिशाप देने वाले के अभिशाप को अभिशाप द्वारा कीला गया है।

५३. *वर्ग ४. स्त्रियों से संवद्ध मन्त्र (स्त्री-कर्माणि)*—आथर्वण अनुष्ठानों की योजना में एक अन्य प्रकार की क्रियाएं संमिलित हैं, जिन्हें उचित रूप से स्त्रियों का कर्म अर्थात् (स्त्री-कर्माणि) इस नाम से पुकारा गया है। इनका कौशिक सूत्र चतुर्थाध्याय के द्वितीयांश में विवेचन करता है, देखिये (३२-३८ से अध्याय के अन्त तक)। वहाँ कहे विधानों में अथर्ववेद के प्रथम सात काण्डों में विकीर्ण (इन क्रियाओं में ८, ६[5] का भी) मन्त्रों का बड़ी चतुराई से उपयोग किया गया है। साथ ही इनकी ऐसी और इतनी प्रचुर विशेषताएं हैं, कि इन्हें एक स्वतन्त्र वर्ग में रखना उचित होगा। इन सूक्तों के मध्य में सूर्यासूक्त (ऋ० १०-८५[6]) के प्रसिद्ध विवाह-मन्त्र हैं, जिनके विस्तार और महत्त्व को दिखाने के लिये उनसे संवद्ध अथ० काण्ड १४ और कौशिक सूत्र काण्ड १० की क्रियाओं की अलग से विवेचना अपेक्षित है। एक स्त्री के विवाह से पूर्व, विवाह के समय और विवाह के बाद के महत्त्वपूर्ण जीवन के आधार पर उन बहुत से अभिचारों और क्रियाओं का जन्म हुआ था, जिनकी वैदिक परंपरा की प्रधान धारा श्रौत ग्रन्थों ने तो उपेक्षा की थी किंतु अथर्वन् एवं गृह्यसूत्रों ने उचित रूप से विवेचना की है। ऋग्वेद में विवाह-मन्त्रों (१०. ८५ देखो १०. ४०[7] आदि) के अतिरिक्त १० वें मण्डल में ऐसे अनेक सूक्त हैं (१४५, १५९, १६२, १८३[8])। श्रौत सूत्रों में तै० सं० २. ३.

---

१. यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः।
सारादेत्वप नुदाम एनाम्। अ० १०।१।१

२. इदमहं यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासादपवादीदिपूगुहः तस्येमौ प्राणापानावपक्रामामि ब्रह्मणा। कौ० सू० ४९।७

३. ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्। अ० ४।४०।१ ab
अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ अ० ५।१०।१

४. अ० ६।३७।१ दे० पृ० १३८, नो० १ अ० ७।५९।१ दे० पृ० १३८, नो० १

५. अ० ८।६।१ दे० पृ० १३७, नो० २

६. ऋ० १०।८५।१ दे० पृ० ८१, नो० ३

७. रथं यान्तं कुह को ह वां नरा प्रति द्युमन्तं सुविताय भूषति। ऋ० १०।४०।१ ab

८. इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम्। ऋ० १०।१४५।१ ab
उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः। ऋ० १०।१५९।१ ab
ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः। ऋ० १०।१६२।१ ab
अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्। ऋ० १०।१८३।१ ab

९. १[1], मै० सं० २. ३. २[2], तै० ब्रा० २. ३. १०[3] (प्रेमसूक्त) या श० ब्रा० १४. ९. ४[4] = बृह० उप० ६. ४[5] जैसे मन्त्रों पर, जिनका कि स्त्रियों के साथ संबन्ध है, इनकी विरलता एवं श्रौत वातावरण में इनके मेल न खा सकने की ओर पाठक का ध्यान खिंच जाना स्वाभाविक सा है। गृह्य-संस्कारों में सामान्यतः शोभन स्त्री-कर्म ही संमिलित हैं; जैसे कि विवाह-संस्कार, गर्भाधान और संतानोत्पत्ति से संबद्ध अन्य अनेक संस्कार। आप गृ० सू० २. ९. ४[6] (मन्त्रपाठ १. १५=ऋ० १०. १४५ = अथ० ३. १८[7]) की अभिचार-क्रिया, जो किसी स्त्री की सपत्नियों अथवा प्रतिस्पर्धिनियों को मारने के लिये है, आकस्मिक सी है और साफ तौर से आथर्वणिक लक्षणों से युक्त है। इसी प्रकार की बात लागू होती है हिरण्यकेशी गृ० सू० १. १४, ७[8]; आप० गृ० सू० ८. २३. ३[9] पर। किंतु परवर्ती विधान-साहित्य में हमें स्त्रियों से संबद्ध अभिचार-क्रियाएं फिर मिलती हैं और यहाँ इनको एक व्यवस्था में पेश किया गया है, जो प्रत्यक्षतः आथर्वण शाखाओं में प्रचलित क्रियाओं के क्रम में है। पाणिनि ४. ४. ९६ में उन मन्त्रों का उल्लेख 'ऋषौ' (= वैदिक) कह कर करते हैं, जिन्हें वह 'हृद्य' बताते हैं। भाष्यकार के अनुसार 'हृद्य' शब्द का अर्थ 'हृदयस्य बन्धनः' 'हृदय को बाँधने वाला' या 'वशीकरण मन्त्रः' है। निःसंदेह इस प्रसङ्ग में उनकी दृष्टि इस वर्ग के प्रेम-सूक्तों पर तथा इसके बाद आने वाले वर्गके इनसे भी अधिक हृदयग्राही सूक्तों पर रही है। ऋग्विधान इन दोनों प्रकार के मन्त्रों के लिये हृद्य-संवनन और वशीकरण शब्द का प्रयोग करता है: ३. ११०, २. १८८;

---

१. ध्रुवोऽसि ध्रुवोऽहं सजातेषु भूयासं धीरश्चेत्ता वसुविद् ध्रुवोऽसि ध्रुवोऽहं········
तै० सं० २।३।९।१

२. वैश्वदेवं चरुं निर्वपेद्भ्रातृव्यवान्, देवाश्च वा असुराश्चास्पर्धन्त······मै० सं० २।३।२

३. ······तस्माद् ह स्त्रियो भोगमेव हारयन्ते॥······तै० ब्रा० २।३।१०

४. स ह प्रजापतिरीक्षाञ्चक्रे। हन्तास्मै प्रतिष्ठाङ्कल्पयानीति स स्त्रियं ससृजे········
श० ब्रा० १०।९।४।२

५. स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स्त्रियं ससृजे··········
बृह० उ० ६।४।२ इत्यादि

६. उभयोर्हृदयसंसर्गेप्सुस्त्रिरात्रावरं ब्रह्मचर्यं चरित्वा स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽग्नेरुपसमाधाना-द्याज्यभागान्तेऽन्वारब्धायां स्थालीपाकादुत्तरा आहुतीर्हुत्वा········सिद्धिं वाचयीत।
आप० गृ० सू० ३।९।४

७. अथ० ३।१८।१ दे० पृ० ५०, नो० ९ = ऋ० १०।१४५

८. स्थूरा दृढा जारी चूर्णानि कारयित्वा सुप्तायै योनिमुपवसेत्········
हिरण्य० गृ० सू० १।१४।७

९. असम्भवेप्सुः परेषां स्थूलाढारिकाजीवचूर्णानि कारयित्वोत्तरया सुप्तायास्सम्बाध उपविशेत्॥ आप० गृ० सू० ८।२३।३

३. ९२[1] इत्यादि। सामविधान-ब्राह्मण इसके समान मन्त्रों को २.५ और ६ में उपस्थित करता है, जहाँ सायण भी अनेक बार 'वशीकर' शब्द का प्रयोग करते हैं। तन्त्र-यातुग्रन्थों में भी ये मन्त्र स्त्री-वश्य, और पति-वश्य आदि रूप में बहुधा मिल जाते हैं।

इन सूक्तों में से अधिकतर स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबन्ध के विषय में हैं। किंतु खास तौर से ध्यान देने योग्य हैं स्त्रियों या पुरुषों द्वारा प्रयुक्त वशीकरण ओषधि, अथवा प्रेम-मन्त्र : जैसे कि १. ३४; २. ३०; ३. २५; ६. ८; ९; ८९; १०२; १२९, १३०–१३२, १३९. ७. ३८[2]। इन मन्त्रों में वनस्पतियों, अन्य पदार्थों एवं सुगन्धित द्रव्यों के प्रयोग से और साथ ही अनुलेप आदि के प्रयोग से उस व्यक्ति को मोहक बनाने की प्रार्थना की गई है जो वशीकरण-अभिचार का प्रयोग करता है। साथ ही पशु-जीवन और प्रकृति के उन व्यापारों का, जिनमें प्रेमभावना है, प्रिय वस्तु में आधान मांगा गया है। 'मैं तेरे मन को अपनी ओर खींचता हूँ, जैसे आगे चलने वाला घोड़ा साथ चलने वाली घोड़ी को' (६. १०२. २[3];) 'वे गौएं जो अपने बछड़े को चाटतीं हैं, जिनके हृदय में प्रेम है, इस स्त्री को मुझे चाहने वाली बना दें' (६. ९. ३[4]); 'जैसे वायु पृथ्वी

---

१. रिपुघ्नमेतज्जानीयादप्रयुक्तमपराजितम्।
पराकदासद्वेष्यार्थं हृद्यं संवननं स्मृतम्॥ ऋ० ३।११५
तानि दद्याद्यमिच्छेत्तु वशीकर्तुं जपन्नृषिम्।
सुहृद्भूत्वा सुहृद्यस्य देयं सवननं स्मृतम्॥ ऋ० ३।११०
गृणन्नपोहते रिप्रं वश्यं वा कुरुते जगत्।
यद्वागिति द्वृचेनैव गौरीं योऽर्चति सुव्रतः॥ ऋ० २।१८८
वशं नयति राजानं क्षिप्रं जनपदं पुरम्।
पुष्टिकर्मापि कर्तव्यं हृद्येनोक्तं यतात्मना॥ ऋ० ३।९७
अथैवं मनुष्याणामावर्तनं स्त्रिया वा पुंसो वा॥ सामवि० ब्रा० २।५।१ इत्यादि

२. इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि। अ० १।३४।१ ab
यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति। अ० २।३०।१ ab
उत्तुदस्त्वोत्तुदतु या धृथाः शयने स्वे। अ० ३।२५।१ ab
यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे। अ० ६।८।१ ab
वाञ्छ मे तन्वं पादौ वाञ्छाक्ष्यौ वाञ्छ सक्थ्यौ। अ० ६।९।१ ab
इदं यत्प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम्। अ० ६।८९।१ ab इत्यादि
इदं खनामि भेषजं मांपश्यमभिरोरुदम्। अ० ७।३८।१ ab ५ मन्त्र

३. आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव।
रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः॥ अ० ६।१०२।२

४. यासां नाभिरारेहणं हृदि संवननं कृतम्। अ० ६।९।३ ab

पर से इस तृण को उड़ा लेता है, वैसे ही मैं तेरे आत्मा को अपना लूं' (२. ३०. १[1]) 'जैसे लता वृक्ष को चारों ओर से लपेट लेती है, उसी प्रकार तू मुझ से लिपट जा' (६. ८. १[2]) 'तेरा हृदय मेरे प्रेम से जल जायगा और तेरा मुँह मेरे प्रेम में सूख जायगा' (६. १३९. २[3]) 'हम तेरे हृदय को प्रज्वलित करते हैं, हम तेरे मन को प्रज्वलित करते हैं' (६. ८९. २[4])। ३. २५. २ में प्रेम-देवता के वाण का वर्णन है। 'अचूक-लक्ष्य काम अपने उस वाण से, जो आशाओं के पंख वाला है, प्रेम से तेज किया गया है, जिसकी मूठ अचूक इच्छाएं हैं, तेरे हृदय को बींध दे' टेकरूप अर्धर्च अथवा इसका द्वितीय पाद 'यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि' (मेरी आज्ञा में रहने के लिये मेरे विचार का अनुगमन करो) बहुशः उल्लिखित है: १. ३४. २, ३. २५. ५; ६. ४२. ३; ४३. ३[5]; इसी प्रकार का है: 'यथा मां कामिन्यसो, यथा मन्नापगा असः': १. ३४. ५; २. ३०. १; ६. ८. १[6]। उक्त वर्णनों से इन वशीकरण ओषधियों के निर्माण की एक खास विधि का संकेत मिलता है। निश्चय ही इन औषधों का प्रचुर प्रचार रहा होगा। किंतु इन वशीकरण ओषधियों से संबद्ध एक दूसरा वर्ग है, जिसमें अपने प्रेम में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को अथवा अपनी सपत्नियों को कीलने अथवा नष्ट कर देने की बातें आती हैं: देखो सपत्नी-बाधन, ऋग्विधान ४. ६४.[7]। इस प्रकार के दो सूक्त ऋ० १०. १४५[8] (अथर्व० ३. १८[9]; आप० मन्त्र-ब्रा० १. १५) और १०. १५९[10] (आप० मन्त्र १. १६) हैं। अथर्ववेद में १. १४[11] (पहले व्याख्याताओं ने विवाह-सूक्त के रूप में इसका गलत अर्थ समझा था) ३. १८; ७. ३५; ११३

---

१. यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति।
एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ अ० २।३०।१

२. यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे।
एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ अ० ६।८।१

३. शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम्। अ० ६।१३९।२ ab

४. शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः। अ० ६।८९।२ ab

५. जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्। अ० १।३४।२ ab
अजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः। अ० ३।२५।५ ab
अभि तिष्ठामि ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च। अ० ६।४२।३ ab
वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि। अ० ६।४३।३ ab

६. परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे। अ० १।३४।५ ab इत्यादि

७. इमामिति तु सूक्तेन शतकृत्वो दशावरम्।
सपत्नीं बाधते तेन पतिश्चातीव मन्यते ॥ ऋ० ४।६४

८. इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम्। ऋ० १०।१४५।१

९. अ० ३।१८।१ दे० पृ० ५०, नो० ९

१०. ऋ० १०।१५९।१ दे० पृ० ११६

११. भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्। अ० १।१४।१ ab

और ११४[1] में तीव्र निन्दा और अन्य अजनबी क्रियाओं द्वारा एक स्त्री दूसरा स्त्री के मोहन, उसके 'भग' और उसकी संतानोत्पत्ति-क्षमता का हरण करती दीखती है। इससे भी अधिक भयंकर हैं पुरुषों के पुंस्त्व का हरण करने वाले वे दो सूक्त ६. १३८[2] और ७. ७०, जहाँ कहा गया है : 'हे ओषधि आज तू मेरे लिये इस पुरुष को षण्ढ कर दे, जो अपने बालों को सजाए हुए है···जो जूड़ा रखे हुए हैं। तब इन्द्र दो पत्थर मार कर उसके दोनों अण्डकोषों को तोड़ डालते हैं। 'हम उसके सिर पर जूड़ा और केशपाश रखते हैं', (६. १३८)। इसके विपरीत विद्वेष को शान्त करने वाले अभिचार भी हैं जो अग्नि को शान्त करते एवं कामजन्य हृदय-दाह को दूर करते हैं : ६. १८; ७. ४५[3] और ७. ७४. ३। रोमाण्टिक प्रेम से संबद्ध सूक्त भी हैं (६. ७७[4]) जो पराङ्मुख स्त्री को अपनी ओर लौटा लाने के लिये एक अभिचार हैं : और जिसमें कौशिक सूत्र ३६. ५०९[5] महत्त्वपूर्ण प्रतीकात्मक क्रियाएं जोड़ देता है। ४. ५[6] निद्रा-मन्त्र हैं और संभवतः अभिसार के लिये प्रयुक्त हैं। इनमें ऋग्वेद ७. ५५[7] के कई मन्त्रों का प्रयोग किया गया है।

इस वर्ग के अवशिष्ट सूक्तों का वैवाहिक जीवन के शान्त क्षेत्र के साथ संबन्ध है। अभिचार १. १८[8] (तुल० ७. ११५[9]) का उद्देश्य शारीरिक विकृतियों को हटाना और किसी स्त्री के पास से अराति को भगा देना है, जिससे कि वह संतान उत्पन्न कर सके (मन्त्र १ d)। इन मन्त्रों का उन कुलक्षणों की ओर संकेत प्रतीत होता है जिनका वधू-चयन के समय गृह्यसूत्रों एवं धर्मशास्त्रों ने परहेज लिखा है। प्रस्तुत सूक्त दुर्लक्षण स्त्री को विवाह-योग्य बनाने के लिये किया जाने वाला अभिचार प्रतीत होता है। इसके बाद तथा-कथित 'पतिवेदनानि' (पति अथवा पत्नी प्राप्त करने के अभिचार) आते हैं :

---

१. अ० ७।३५।१ दे० पृ० ७५, नो० ५ अ० ७।११३।१ दे० पृ० ७९, नो० ३
अ० ७।११४।१ दे० पृ० ७९, नो० ३

२. त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे।
इमं मे अद्य पूरुषं क्लीवमोपशिनं कृधि। अ० ६।१३८।१ इत्यादि

३. ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्। अ० ६।१८।१ ab इत्यादि
जनाद्विश्वजनीनात्सिन्धुतस्पर्याभृतम्। अ० ७।४५।१ ab इत्यादि

४. अस्थाद् द्यौरस्थात्पृथिव्यस्थाद्विश्वमिदं जगत्। अ० ६।७७।१ ab इत्यादि

५. अस्थाद् द्यौरिति निवेष्टनम्। कौ० सू० ३६।५ से ९ तक

६. सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्।
तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि॥ अ० ४।५।१

७. ऋ० ७।५५।७ = अ० ४।५।१ इत्यादि

८. अ० १।१८।१ दे० पृ० ७९, नो० ४

९. अ० ७।११५।१ दे० पृ० ७९, नो० ३

२. ३६, ६. ६० और ६. ८२[1]। यहाँ शान्ति एवं मङ्गल के देवता अर्यमन् तथा भग का साम्राज्य है; स्वरूप इनका भी विवाह-मन्त्रों और क्रियाओं जैसा ही है। कुछ ऐसा ही स्थान है ६–७८ का, जो एक विवाहित जोड़े के लिये आशीर्वाद है। ७. ३७[2] जिसमें वधू वर से कहती है : मैं तुम्हें अपनी ओढ़नी में ढकती हूँ, जिसे मनु ने बनाया है, जिससे तुम अकेले मेरे ही रहो और दूसरी स्त्रियों की ओर फूटी आँख भी न करो'। इसी प्रकार ७. ३६[3] भी एक प्रेमाभिचार है; इसका उच्चारण नव-विवाहित दंपति करते हैं : 'हम दोनों की आँखें मधु जैसी बनें, हमारे ललाट लेपन जैसे दमकें, मुझे अपने हृदय में स्थान दो, हम दोनों का मन एक होवे'। अन्त में विवाहोत्तर क्रियाओं का, जैसे कि गर्भाधान, पुत्रजन्म और शिशु-पालन आदि का पर्याप्त सूक्तों में वर्णन है। इनका गृह्यसूत्रों के समान संस्कारों के साथ गहरा संबन्ध है, जिनमें इन सूक्तों के बहुत से मन्त्रों का अल्पाधिक पाठान्तर के साथ पाठ किया जाता है। अनुमति, राका, सिनीवाली और कुहू इन चार चान्द्र देवताओं को प्रगाढ आस्था के साथ बुलाया गया है। प्रजापति, त्वष्टा और धाता कई स्थानों पर दिखाई पड़ते हैं। वरिष्ठ विवाह-गीत ५. २५[4] में, और इससे भी अधिक आथर्वणिक ६. ८१[5] में गर्भाधान का वर्णन है। इसमें 'परिहस्त' नाम के कंगन से गर्भधारण कराने के लिये प्रार्थना की गई है : 'जिस कंगन को पुत्र की कामना होने पर अदिति ने धारण किया था उसे त्वष्टा इस स्त्री के बाँध दे, जिससे यह पुत्रोत्पादन कर सके।' वन्ध्यात्व को हटाने के लिये कौशिक सूत्र ३४. १[6], अथर्व १. ३२[7] पर केन्द्रित एक विधान का निर्देश करता है। यह स्वर्ग, पृथ्वी और विशेषतः अन्तरिक्ष की प्रशंसा में मौलिक सृष्टि-संबन्धी सूक्त है। विधान के

---

१. आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन। अ० २।३६।१ ab
अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद्विषितस्तुपः।
अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये ॥ अ० ६।६०।१
आगच्छत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः। अ० ६।८२।१ ab इत्यादि

२. (क) तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः। अ० ६।७८।१ ab
(ख) अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ अ० ७।३७।१

३. अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम्।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ॥ अ० ७।३६।१

४. पर्वताद्दिवो योनेरङ्गादङ्गात्समाभृतम्। अ० ५।२५।१ ab

५. यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि। अ० ६।८१।१ ab

६. इदं जनास इत्यस्यै शिंशपाशाखासूदकान्ते शान्ता अधिशिरोऽवसिञ्चति।
कौ० सू० ३४।१

७. इदं जनासो विदथ महद्ब्रह्म वदिष्यति। अ० १।३२।१ ab इत्यादि

साथ सूक्त का संबन्ध गहरा है। गर्भ में भ्रूण की रक्षा अर्थात् गर्भपात को रोकने के लिये ६. १७ तथा ५. १. १[1] एवं कौशिक ९८. २[2] के मन्त्रों का पाठ विहित है। अज्ञातनामा विविध राक्षसों के अपसारण के लिये अथर्ववेद के अभिचार ८. ६ का, कौशिक ३५-२०[3] के एक अनुष्ठान में प्रयोग आता है, जिसे केशव सीमन्त-कर्म कहते हैं। पुत्र की उत्पत्ति के अभिचार (पुंसवन) ३. २३, ६. ११, ७. १७ और ७. १९[4] हैं। सूषन् देवता को, जो पूषन् के नमूने पर 'सू' (उत्पन्न होना) धातु से निष्पन्न है, १. ११[5] के सुन्दर सूक्त में सुप्रसव के लिये बुलाया गया है। इसका गृह्यसूत्रों एवं अन्य ग्रन्थों में तथा-कथित सोष्यन्ती कर्म के क्षेत्र से संबन्ध है। यदि बालक बुरे नक्षत्र में पैदा हो जाय, तो प्रायश्चित्त अभिचार ६-११०[6] का पाठ किया जाता है 'जो ज्येष्ठघ्नी (नक्षत्रों) में उत्पन्न हो अथवा जो 'विचृतौ' (जो उखाड़ देते है) में पैदा हो हे अग्नि! उसे तुम यम के द्वारा समूल नष्ट होने से बचा लो···चीते जैसे दिन में बहादुर पैदा हुआ···जब वह बड़ा हो तो वह अपने पिता को न मार डाले, और नौ महीने पेट में रखने वाली माता को न मार डाले'। अन्ततः पहली दो दंतलियों (दो कीले) के उगने पर, संभवतः उनके उलटे उगने पर—प्रायश्चित्तसूक्त ६. १४०[7] का विधान है।

५४. *वर्ग ५ सांमनस्य एवं सभा पर धाक आदि की प्राप्ति के अभिचार* (*सांमनस्यानि*)—सूक्तों के इस वर्ग का पूर्वोक्त वर्गों के साथ बहुत सी बातों में मेल बैठता है। अन्तर इस बात का है कि इसमें स्वच्छन्द कामुक प्रेम की छटा नहीं मिलती। फिर भी दोनों वर्गों के बीच सीमा निश्चित करना कठिन है: १. ३४[8] जैसे आकर्षक अभिचार का विपरीत-लिंगी व्यक्ति के प्रेम की प्राप्ति के

---

१. यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ अ० ६।१७।१
ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आबभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा। अ० ५।१।१ ab

२. अच्युता द्यौरच्युतमन्तरिक्षमच्युता भूमिर्दिशो अच्युता इमाः।······इत्यादि
कौ० सू० ९८।२

३. यौ ते मातेति मन्त्रोक्तौ बध्नाति। कौ० सू० ३५।२० अ० ८।६।१ दे० पृ० ११२

४. येन वेहद्बभूविथ नाशयामसि तत्त्वत्। अ० ३।२३।१ ab इत्यादि
शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम्। अ० ६।११।१ ab इत्यादि
प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे। अ० ७।१७।३ b इत्यादि
प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः ॥ अ० ७।१९।१ ab

५. अ० १।११।१ दे० पृ० ७७, नो० ४

६. प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि। अ० ६।११०।१ ab

७. यौ व्याघ्राववरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च।
यौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः ॥ अ० ६।१४०।१

८. अ० १।३४।१ दे० पृ० ५०, नो० ८

लिये प्रयोग किया जा सकता है, और इसका प्रयोग हुआ भी है (कौशिक ७६. ८, ९; ८९. १०[1]) साथ ही इसका उच्चारण वह व्यक्ति भी कर सकता है जो पंचायत का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता है। (कौशिक ३८. १७[2]) अथवा ६. ४२[3] जिसका, क्रुद्ध व्यक्ति का निर्देश किये बिना ही क्रोध शान्त करने के लिये प्रयोग विहित है। (तुल० हिरण्यकेशी गृ० सू० १. १५. ३[4])। हो सकता है कि आरम्भ में इसका निर्माण पति-पत्नी या दोस्तों के बीच के झगड़े निपटाने के लिये किया गया हो (कौशिक २६. २८. ३१[5])। किंतु परवर्ती परंपरा ने दोनों सूक्तों एवं क्रियाओं को हृद्य, संवनन और वशीकरण में समन्वित कर दिया है (देखिये ऊपर प्र० ५३) और दोनों के साहित्यिक स्वरूप को भी मिला दिया है। श्रौतसूत्रों में भी ऐसी क्रियाएं आती हैं जो 'काम्या इष्टयः' में आती हैं! जैसे शां० श्रौत सूत्र ३. ६. १, और तथा-कथित 'मित्रविन्दा' शां० श्रौत सूत्र ३. ७[6]; आश्व० श्रौत सूत्र २. ११[7], कात्या० श्रौत सूत्र ५. १२[8]। प्रस्तुत वर्ग का सारांश है समन्वय (संमनस्, सांमनस्य, सौमनस, संज्ञान) या एकचित्तता है; सांमनस्य उस व्यक्ति के दृष्टिकोण से, जो इन मन्त्रों का प्रयोग कर रहा है, ऐसा सांमनस्य जो उसकी व्यक्तिगत भावनाओं एवं इच्छाओं के अनुकूल पड़ता है और उसे सर्वश्रेष्ठ पद पर बिठा देता है। भार्गव च्यवन या आङ्गिरस की ब्राह्मणीय कथा साफतौर से गृहकलह को एक अभिशाप के रूप में चित्रित करती है: 'पिता पुत्र से लड़ा और भाई-भाई से, उस समय न तो माता पुत्र को जान सकी और न पुत्र माता को।' परिवार के झगड़े (कुले कलहिनि यत्रैतत् कुलं कलहि भवति) विनाश-सूचक माने गये हैं, ऐसे परिवारों पर निर्ऋति आक्रमण करती है; उनके लिये प्रलम्ब प्रायश्चित्त की

१. इयं वीरुदिति मदुघमणिं लाक्षारक्तेन सूत्रेण विग्रथ्यानामिकायां बध्नाति। कौ० सू० ७६।८
अनन्तो ह मणिर्भवति बाह्यो ग्रन्थिः॥ कौ० सू० ७६।९

२. अर्वाच्युपसंक्रमे मा पराच्युप वस्तथा।
अन्नं प्राणस्य बन्धनं तेन बध्नामि त्वा मयीति॥ कौ० सू० ८९।१०
इयं वीरुदिति मदुघं खादन्नपराजितात्परिषदमाव्रजति॥ कौ० सू० ३८।१७

३. अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः।
यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै॥ अ० ६।३२।१

४. या त एषा रराट्या तनूर्मन्योर्मृड्वस्य नाशिनी।
तां देवा ब्रह्मचारिणो विनयन्तु सुमेधस······हिरण्य० गृ० सू० १।१५।३

५. उल्मुके स्वस्त्याद्यम्। कौ० सू० २६।२८ से ३१ तक

६. मित्रविन्दायाः। शां० श्रौ० ३।७।१ इत्यादि

७. मित्रविन्दा महावैराजी। आ० श्रौ० सू० २।११।१ इत्यादि

८. मित्रविन्दा श्रीराष्ट्र-मित्रायुष्यकामस्य। का० श्रौ० सू० ५।१२।१

अपेक्षा होती है। यही इस वर्ग के सूक्तों का विषय है; द्रोह एवं संघर्ष की शान्ति, और संघर्षरत पक्षों में समन्वय की स्थापना। दूसरे वर्ग का प्रधान लक्ष्य सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में सफलता, प्रमुखता, अथवा श्रेष्ठता, मनुष्यों में बहुमत, सभा में प्रभाव, विवाद में विजय और इच्छा की अवध्यता प्राप्त करना है। इन विषयों में से कोई भी सामान्य वैदिक साहित्य में नितान्त अप्राप्य नहीं है, किंतु विस्तृत वैदिक साहित्य में कहीं भी इतने प्रमुख एवं स्पष्ट रूप से इनका निर्देश नहीं हो पाया है जितना कि अथर्ववेद में। ऋग्वेद में ऐसे दो सूक्त हैं: १०. १६६ और १९१[1] (तुल० ऋ० खिल १०. १९१)। इसी प्रकार के मन्त्र मै० सं० २. ६. ६[2], तै० ब्रा० २-४. ४. ४[3] में मिलते हैं; तुलना कीजिये वा० सं० ७. २५[4]; शत० ब्रा० ४. २. ४. २३ इत्यादि। इन सूक्तों पर आधृत क्रियाओं का कौशिक सूत्र १२. ५; ३८. १२; ९७. १[5]; हिरण्यकेशी गृह्य सूत्र १. १३. १९; १५. २[6]; आप० गृह्य सूत्र ८. २२-१९[7]; सामविधान २. ५[8], ऋग्विधान ४. २०. ३; २४, ४ में निर्देश मिलता है।

दो सूक्तों का, अर्थात् अवे० ६. ४२[9] और ४३ का निर्माण क्रोध-शान्ति के लिये किया गया है। बाद वाले सूक्त में 'दर्भ' का भी प्रयोग आता है, जिसे यहाँ क्रोधनाशक (मृत्यु-शमन) बताया गया है। ये दो सूक्त अवे० ४. ३१ और ३२[10] (ऋ० १०. ८४ और ८३) के विपरीत हैं, जिनमें शत्रुओं के नाश के

---

१. ऋ॒ष॒भं मा॑ समा॒नानां॑ स॒पत्ना॑नां विषास॒हिम् ।
ह॒न्तार॒ं शत्रू॑णां कृधि वि॒राज॒ं गोप॑तिं॒ गवा॑म् ॥ ऋ० १०।१६६।१ इत्यादि
संस॒मिद्यु॑वसे वृष॒न्नग्ने॒ विश्वा॑न्य॒र्य आ। ऋ० १०।१९१।१ ab इत्यादि

२. इन्द्र॒ायाँहो॒मु॑चा ए॑का॒दशकपाल॒ं निर्व॑पे॒दिन्द्र॒ाय······इत्यादि मै० सं० २।६।६

३. न॒क्तं॒ जा॒तास्यो॑षधे। रा॒मे कृ॒ष्णे॒ असि॑क्नि च।······इत्यादि तै० ब्रा० २।४।४।४

४. उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि ध्रु॒वो॒सि ध्रु॒वक्षि॑तिर्ध्रु॒वाणा॑न्ध्रुवत॒मोच्युताना॒मच्युत॒क्षित्त॑मऽए॒ष ते योनि॑र्वैश्वान॒रा य॑त्त्वा।······इत्यादि वाज० सं० ७।२५

५. सहृदयं तद्रू पु संजानीध्वमेह यातु सं वः पृच्यन्तां सं वो मनांसि संज्ञानं न इति सांमनस्यानि। कौ० सू० १२।५ इत्यादि

६. यं कामयेत न विच्छिद्येतेति। यस्मिन्भूतं च भव्यं च सर्वे लोका इह श्रिताः।······ हिरण्य० गृ० सू० १।१३।१९ इत्यादि

७. संवादमेष्यन् सव्येन पाणिना छत्रं दण्डं चादत्ते। आप० गृ० सू० ८।२२।१९

८. अथैकमनुष्याणामावर्तनं स्त्रिया वा पुंसो वा। सामविधान २।५।१ इत्यादि

९. अ० ६।४२।१ दे० पृ० १२०

१०. (a) त्वया॑ मन्यो स॒रथमारु॒जन्तो॒ हर्ष॑माणा हृ॒षितासो॑ मरुत्वन्। अ० ४।३१।१ ab
(b) अ० ४।३२।१ दे० पृ० १४९, नो० ३

लिये मानवीय भव्य को अभिमन्त्रित किया गया है। चार सूक्त ६. ६४, ७३; ७४, ७. ५२[1] के विवाद लिये हैं, और इनसे कलह एवं रक्तपात तक दब जाता है। विशेष रूप से आकर्षक एवं सुन्दर है परिवार में समन्वय के लिये प्रार्थना ३. ३०[2] : 'हृदय की एकता और मन की एकता, घृणा से मुक्ति मैं तेरे लिये देता हूँ। तुम एक दूसरे में उसी प्रसन्नता को प्राप्त करो, जिसका एक गौ अपने नवजात वत्स में अनुभव करती है। पुत्र पिता के प्रति भक्त, माता के प्रति समान मन वाला, स्त्री पति से मधुमय वचन बोले। भाई-भाई से घृणा न करे और नहीं बहन बहन से। एकचित्त होकर, एक उद्देश्य में संलग्न होकर तुम प्रेम-भरे वचन बोला करो।' दूसरा अभिचार ३-८[3] कौशिक ५५. १७[4], १८ में विशेष रूप से उपनयन के अवसर पर गुरु और शिष्य में चित्तैक्य स्थापित करने के लिये आता है; मन्त्र ७. ४४[5] को (= ऋ० ६ ६९. ८[6]) कौशिक ४२. ६[7] ने दो शत्रुओं के बीच समन्वय स्थापित करने के लिये अभिचार-रूप में कुशलता से अपनाया है। सभा में धाक जमाने के उद्देश्य से पढ़े जाने वाले अभिचारों में दो २. २७ और ७. १२[8] सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पहले में प्रतिस्पर्धी (प्रतिप्राश) के साथ होने वाले विवाद (प्राश्) में विजय प्राप्त करने के लिये पाटा वनस्पति के तावीज का प्रयोग किया गया है; दूसरे में प्रजापति की दो पुत्रियों 'संसद्' और सभा से प्रार्थना है: वे सभा में बैठे हुओं की शक्ति और बुद्धि पर अधिकार करने में सहायक होवें, इसी प्रकार का है ६. ९४[9], जिसका मूलमन्त्र 'संनम्' अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल झुकाना है। इस शब्द का तथा इससे व्युत्पन्न 'संतति' (होमाः) शब्द का अन्यत्र भी दिव्यशक्तियों को अपनी इच्छा के अनुकूल बना लेने के अर्थ में प्रयोग मिलता है। सूक्त १. ३४ (देखिये ऊपर); ५. १५; ६. १५;

---

१. सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्। अ० ६।६४।१ ab इत्यादि

२. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अ० ३।३०।१ ab इत्यादि

३. आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन्पृथिवीमुस्रियाभिः। अ० ३।८।१ ab

४. अस्मिन्वसु वसवो धारयन्तु विश्वेदेवा वसव आ यातु मित्रोऽमुत्र भूयादन्तकाय मृत्यव आरभस्व प्राणाय नमो विपासहिमित्यभिमन्त्रयते। कौ० सू० ५५।१७
अथापि परित्वरमाण आ यातु मित्र इत्यपि खल्वेतावतैवोपनीतो भवति॥ कौ० सू० ५५।१८

५. उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः। अ० ७।४४।१ ab

६. ऋ० ६।६९।८ = अ० ७।४४।१

७. उभा जिग्यथुरित्यार्द्रपादाभ्यां सांमनस्यम्। कौ० सू० ४२।६

८. नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि। अ० २।२७।१ ab इत्यादि
सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। अ० ७।१२।१ ab

९. सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि। अ० ६।९४।१ ab इत्यादि

७. ९४[1]; और सूक्त ५. १५, १९. ६२. १[2] भी अल्पाधिक रूप में इन्हीं विषयों से संबद्ध हैं।

५५. *वर्ग ६. राजकर्म-विषयक अभिचार (राजकर्माणि)*—निश्चय ही सामाजिक क्षेत्र भी अथर्व-मन्त्रों की पहुँच से बाहर नहीं रहा था। एक तरफ इस वेद के अनुष्ठाताओं ने भारत के अकिंचन ग्रामीणों की आवश्यकताओं और उनकी भय आदि की भावनाओं को काफी मात्रा में सामग्री प्रदान की, और इसी कारण बाद में उनके लिये 'ग्रामयाजिन्' और 'पूगयज्ञिय' जैसे तिरस्कार-पूर्ण विशेषणों का प्रयोग चालू हुआ; दूसरी तरफ उच्च वर्गों, राजाओं और पुरोहितों को भी आथर्वण पुरोहितों ने पर्याप्त मात्रा में व्यावहारिक कर्मों में अपने सामने रखा। पुरोहितों के हितों की व्याख्या दूसरे वर्ग में की गई है। उनके धर्म की आध्यात्मिक उदात्तता (ब्रह्म) का अतिरञ्जित एवं अस्पष्ट रूप में आध्यात्मिक सूक्तों (वर्ग १०) में निदर्शन मिल जाता है। इसमें संदेह नहीं कि इन्हीं उदात्त तत्त्वों के आधार पर आथर्वण याज्ञिकों ने अपने वेद का नाम ब्रह्म-वेद रखा था। किंतु दूसरे क्षेत्र में दीख पड़ने वाले इसी प्रकार के औचित्य के आधार पर इस वेद का 'क्षत्र-वेद' नाम भी पड़ सकता था यदि इसका यह नाम आथर्वण पुरोहितों को जंच सका होता। प्रो० वेबर तथा ब्लूमफील्ड ने कुछ अवस्थाओं एवं साहित्यिक विवरणों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जिनसे यह प्रतीत होता है कि कतिपय विशिष्ट अर्थों में अथर्ववेद को क्षत्रियों का वेद भी माना जाता था। एक सीमा तक तो यह बात निश्चित सी थी; किंतु इस वेद के अन्य अङ्गों ने जोर मारा और इस वेद का नाम ब्रह्म-वेद प्रचलित हो गया। इस विषय में अथर्व-शाखाओं के दृष्टिकोण को श्रौतसाहित्य के उत्कर्ष से नीचे ढल जाने पर हिन्दू धर्म के विकास के लिये महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। यदि परवर्ती आथर्वणों की उपनिषदों के समजातीय आध्यात्मिक विचारों में अधिकाधिक रुचि न रही होती तो वे 'ब्रह्म' एवं 'ओम्' पर अनेकानेक ग्रन्थ क्यों लिखते (अथर्व-उपनिषद्)। इसके विपरीत वे अपने वेद से संबद्ध सांसारिक बातों में ही रमे रहते जो कि उनके लिये सांसारिक दृष्टि से अधिक उपयोगी सिद्ध होतीं। व्यापार के क्षेत्र में उनकी अभिलाषाएं 'दशकुमारचरित' के समय तक युद्ध में राजाओं के मन्त्रियों एवं पुरोहितों जैसे मार्के के पदों को प्राप्त करके फलवती होती रहीं। उनके इस कोटि के कार्यों का आधार हैं प्रस्तुत वर्ग के सूक्त : इनका संबन्ध राज्य-प्राप्ति (अभिषेक), निर्वाचन, इसकी शक्ति और महत्ता के

---

१. अ० १।३४।१ दे० पृ० ५०, नो० ८
एका॑ च मे॒ दश॑ च मेऽपव॒क्तार॑ ओषधे। अ० ५।१५।१ ab अ० ६।१६।१
दे० पृ० १२७, नो० ७
ध्रु॒वं ध्रु॒वेण॑ ह॒विषाव॒ सोमं॑ नयामसि। अ० ७।९४।१ ab

२. प्रि॒यं मा॑ कृणु दे॒वेषु॑ प्रि॒यं राज॑सु मा कृणु।
प्रि॒यं सर्व॑स्य॒ पश्य॑त उ॒त शू॒द्र उ॒तार्ये॑॥ अ० १९।६२।१

विकास एवं वढ़ती, और वाह्य शत्रुओं से राजा एवं राज्य की रक्षा के साथ है। निश्चय ही इनसे पुरोहितों को आध्यात्मिक शक्ति भी प्राप्त होती है, जो राजा के प्रमुख सहायक की कार्यकुशलता के लिये आवश्यक है। इन सभी विषयों की ओर ऋग्वेद तथा अन्य संहिताओं में यत्र-तत्र निर्देश मिलते हैं (तु० विशेषतः ऋ० १०. १०३; १५२, १७३, १७४ और ६. ४७. ६. ७५[1]) किंतु अथर्ववेद ने इन वातों से संवद्ध सूक्तों को उपस्थित करके वास्तविक जनजीवन के साथ अपना गहरा संवन्ध स्थापित कर लिया है। कौशिक सूत्र (१४-१७[2]) के तथा-कथित राज-कर्माणि के लम्वे खण्ड इस वात का समर्थन करते हैं; और क्योंकि ये विषय जनता के लिये स्वाभाविक महत्त्व के हैं इसलिये श्रौत यज्ञों में क्षत्रियों के कल्याण से संवद्ध अनुष्ठानों का—जैसे कि राजसूय, वाजपेय, सौत्रामणी और अश्वमेध-वर्णन किया गया है। इन सव प्रचलित अनुष्ठानों को पुरोहितों ने इनमें अन्य क्रियाएँ जोड़कर विस्तृत रूप दे दिया है। काम्येष्टयः, जो विशेष-विशेष इच्छाओं की पूर्ति के लिये किये जाने वाले यज्ञ हैं, भी समय-समय पर राजकर्माणि के उभरे वाहुल्य को सूचित करते हैं, जैसे कि इन्द्र एवं बृहस्पति (दैवी राजा और पुरोहित) के लिये आहुति-प्रदान राज्यनाश के खतरे से दूर करने का अभिचार (शक्तिस्तम्भन-निवारक) है : तै० सं० २. ४. १३[3] मै० सं० २. १. १२[4]; अथवा (राज्यकाम) जयाभिलाषी द्वारा किये जाने वाले यज्ञों में तै० सं० २. १. १३, मै० सं० २. ५. ३, ८, ९[5]। गृह्यसूत्रों में इस प्रकार का विषय यदि है भी तो अत्यल्प है (यथा युद्ध-सूक्त आश्व० गृह्य सूत्र ३. ९[6]), जब कि विधान-साहित्य एवं अथर्वपरिशिष्टों में राज-कर्माणि भरे पड़े हैं : ऋग्विधान २. २२. १;

१. आशुः शिशानो वृषभो न भीमो। ऋ० १०।१०३।१ a इत्यादि १३ मन्त्र
ऋ० १०।१५२।१ दे० पृ० ७१, नो० ८
आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः। ऋ० १०।१७३।१ ab
अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभिवावृते। ऋ० १०।१७४।१ ab
वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥ ऋ० ६।४७।२६
जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे। ऋ० ६।७५।१ a इत्यादि

२. पूर्वस्य हस्तित्रसनानि॥ कौ० सू० १४।१ से कण्डिका १७ तक

३. देवा वै राजन्याज्जायमानादबिभयुस्तमन्तरेव सन्तं दाम्नाऽपौम्भत्स वा······
तै० सं० २।४।१३

४. ऐन्द्राबार्हस्पत्यं हविर्निर्वपेद्यो राष्ट्रीयो नैव प्रस्तिङ्नुया······मै० सं० २।१।१२

५. देवाश्च वा असुराश्चास्पर्धन्त, ते वै समावदेव यज्ञे कुर्वाणा आयन्···मै० सं० २।५।३
इन्द्राय मन्युमते मनस्वते ललाममालभेत् संग्रामे······मै० सं० २।५।८
यः प्रथम एकाष्टकायां जायत यस्तमालप्स्यमानः······इत्यादि मै० २।५।९

६. संग्रामे समुपोह्ळे राजानं सन्नाहयेत्। आश्व० गृ० सू० ३।९।१ इत्यादि

२४. ३–५; ४. २. ३; ८. १. २; १४. ५; २१. १[१]) सामविधान ३. ५. और ६[२]; यजुर्विधान, अग्नि-पुराण अध्याय २५९, श्लोक ६६. ७३[३], अथर्वपरिशिष्ट २। यह ऊपर कहा जा चुका है कि धर्मसूत्र, आर्षकाव्य और उसके बाद का संस्कृत साहित्य इस प्रकार के अनुष्ठानों की विद्यमानता को स्वीकार करता है। अथर्ववेद के इन सभी संदर्भों में राजा इन्द्र लौकिक राजा की दैवी प्रतिकृति है, दोनों में पूर्ण समानता है, या यों कहिये कि यहाँ दोनों घुल-मिल गये हैं (३. ३. २, ४. ६[४]); और यही बात राजा वरुण पर लागू होती है, जो कभी-कभी नाम-गत श्लेष के आधार पर अपनी निर्वाचन शक्ति का संकेत कर देते हैं ('वर्' चुनना ३. ४. ५, ६[५])। बृहस्पति अथवा ब्रह्मणस्पति वस्तुतः पुरोहित का प्रतिनिधित्व करते हैं (११. १०. १०[६])।

राजा के राज्याभिषेक ने सूक्त ४. ८[७] को जन्म दिया है, जो पूर्णतः राजत्व की प्रशंसा से भरा पड़ा है और उस समय के प्रचलित रिवाजों का सूचक है। श्रौतसूत्रों के राजसूयवर्णन से अत्यन्त साम्य वाली दो प्रमुख क्रियाओं का संकेत इसमें मिलता है। राजा का माङ्गलिक वनस्पतियों के रसों से मिश्रित पवित्र जल से अभिषेक किया जाता है और उसे व्याघ्र-चर्म पर बिठाया जाता है। इसी प्रकार के उच्च विचार से प्रेरित है ३. ४[८], जिसमें स्वयं वरुण ही दैवी निर्वाचनकर्ता के रूप में उपस्थित होते हैं। उनका नाम इस कार्य के अनुसार 'वर्' चुनना धातु से निष्पन्न है। ३. ३[९] से देश-बहिष्कृत राजा के राज्य को पुनः प्राप्त किया जाता है। यह कौशिक सूत्र में प्रसिद्ध प्रतीकात्मक क्रियाओं से मिश्रित है। बहुत से सूक्त ऐसे हैं, जो राजा को अन्य राजाओं पर आधिपत्य, एकच्छत्र शासन और

---

१. यादृगेव जयेन्मन्त्रं वदर्थग्रे तु लक्षकम्।
राजन्यहिंसा नरकः प्रणश्यति न संशयः॥ ऋ० ४।२।२४ इत्यादि

२. राजानमभिषेचयेत्तिष्येण श्रवणेन वा व्रीहियवैस्तिलमाषैर्दधिमधुसुमनोजातरूपैर्यशस्विनीभ्यो······सामविधान ३।५।१ इत्यादि

३. केतुं कृण्वन्नतीत्येतत् संग्रामे जयवर्धनम्।
इन्द्रोग्निर्धर्म इत्येद्रणे धर्मनिबन्धनम्॥ अग्निपुराण २५९।६६ इत्यादि

४. दूरे चित्सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम्। अ० ३।३।२ ab
अ० ४।६।१ दे० पृ० १२६, नो० ४
तदयं राजा वरुणस्तथाह। अ० ३।४।५ c

५. सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः। अ० ३।४।६ b

६. बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः। अ० ११।१०।१० ab

७. अ० ४।८।१ दे० पृ० ९२, नो० ३

८. आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ्विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज। अ० ३।४।१

९. अ० ६ मन्त्र ३।४।१ इत्यादि पृ० १०२, नो० ८

प्रभुता देने वाले बताये गये हैं : ४. २२; ६. ५४, ८६–८८; ७. ८४[1]। पर्णकाष्ठ का रक्षायन्त्र ३. ५ में स्वामित्व को पुष्ट करने वाला बताया गया है। बहुत से सूक्त राजा के लिये वाञ्छनीय गुणों को प्राप्त करने के लिये हैं : 'वह शक्ति (वर्चस्) जो सिंह, व्याघ्र, एवं सर्प में है, अग्नि, ब्राह्मण एवं सूर्य में है···वह शक्ति, जो हाथी, चीता और स्वर्ण में है : जल, पशु एवं पुरुषों में है' (६. ३८[2] तुलना कीजिये १. ९; १९. ३७[3])। हाथी की धाक को प्राप्त करने के लिये हस्तिवर्चस्) एक विशेष सूक्त ३. २२[4] है। यश एक दूसरा गुण है, जो एक राजा (६. ३९[5]) और ब्राह्मण में होना अभीष्ट है (६. ५८, ६९[6])। ६. ६१[7] में राजा या ब्राह्मण की आत्मस्तुति प्रतीत होती है। ऐसा लगता है कि यह आत्मप्रशंसा में रत इन्द्र-सूक्त से ले लिया गया हो, या उसी के आधार पर बनाया गया हो, किंतु यह और कहीं नहीं मिलता। 'रोहित' और 'रोहिणी' के सूक्त (काण्ड १३) इसी वर्ग से संबद्ध हैं; वे दैवी जोड़े को लाक्षणिक ढंग से राजा और रानी के रूप में उपस्थित करते हैं (देखिये नीचे प्र० ६१); किंतु जिन शब्दों द्वारा उसकी प्रशंसा की गई है, वे शब्द पार्थिव सम्राट् की स्तुति एवं प्रशंसा को सूचित करते हैं। राज्य-सूक्तों से संबद्ध याज्ञिक अनुष्ठान भी—जैसे श्रौतग्रन्थों में वर्णित राजसूय—राजा और पुरोहित को अन्योन्याश्रित बताते हैं : क्योंकि फलवती पुरोहिति के बिना स्थायी क्षत्र की स्थापना नहीं हो सकती। ३. १९[8] में एक पुरोहित राजा की सफलता का उत्तरदायित्व संभालता है, और स्थिति को देखते हुए, यह आत्मश्लाघा क्षम्य है : 'मेरी यह प्रार्थना तीव्र है; मेरा पौरुष एवं बल तीव्र है, अतः जिसका मैं विजयी पुरोहित हूँ, उसका शासन तीव्र एवं

---

१. अ० ४।२२।१ दे० पृ० ९२, नो० ५; ७ मन्त्र
इदं तदुज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये । अ० ६।५४।१ ab
वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम् । अ० ६।८६।१ ab से सूक्त ६।८८ तक
अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद्दीदिहीह । अ० ७।८४।१ ab इत्यादि
आयमगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् । अ० ३।५।१ ab

२. अ० ६।३८।१ दे० पृ० ९२, नो० ७

३. अस्मिन्वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः । अ० १।९।१ ab इत्यादि
इदं वर्चो अग्निना दत्तमा गन् । अ० १९।३७।१ a

४. हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद्यशः । अ० ३।२२।१ a

५. यशो हविर्वर्धतामिन्द्रजूतम् । अ० ६।३९।१ a इत्यादि

६. यशसं मेन्द्रो मघवान्कृणोतु । अ० ६।५८।१ a
गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद्यशः । अ० ६।६९।१ ab

७. मह्यमापो मधुमदेरयन्ताम् । अ० ६।६१।१ a

८. संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः । अ० ३।१९।१ cd इत्यादि

अविनाशी होगा'। इसी प्रकार का सूक्त ७. १६[1] भी है। गद्यमय सूक्त ५. २४[2] पुरोहित कार्य में सफलता पाने के लिये नम्र शब्दों में देवताओं से एक प्रार्थना है, और १९. ६३[3] देवताओं को वश में करने, और राजा को सक्षम बनाने के लिये पुरोहित (ब्रह्मणस्पति) के प्रति कही गई प्रार्थना है।

विस्तार एवं भाव-प्रवणता और अन्यत्र दुष्प्राप्य विस्तृत विवरणों के महत्त्वपूर्ण प्रदर्शन में, अथर्ववेद के युद्ध-अभिचार भी इस वेद की एक अनूठी विशेषता हैं। शत्रु को गिराने तथा व्याकुल करने के लिये (८. ८[4]) अस्त्रों की युद्ध-सामग्री, फंदा, जाल, एवं अग्नि में जली-सड़ी रस्सी की दुर्गन्ध 'घोर' वेद के प्रमुख लक्षणों को मुखरित करते हैं। युद्ध-सूक्त प्रायः जोड़े में या तीन के वर्ग में दिखाई पड़ते हैं : १. १९[5] बाण के घाव के विरुद्ध अभिचार है, और इसके बाद १. २०[6] और २१ आते हैं जो मामूली तरह के युद्ध-सूक्त हैं। सूक्त ६. ६५–६७[7] भी समान अर्थ के हैं : प्रथम दो में 'निर्हस्त' और 'नैर्हस्त' शब्द आकर्षक हैं : छलपूर्ण शत्रु हस्तहीन होगा, उसकी बाहें टूट जायेंगीं।' सूक्त ३. १, २[8] शत्रु को भ्रमिक करने के लिये अग्नि के प्रति कहे गये युद्धाभिचार हैं। ४. ३१, ३२[9] (ऋ० १०. ८४, ८३[10]) युद्ध की अधिष्ठात्री शक्ति 'मन्यु' के प्रति हैं (तु० ६. ६५)। ६. ९७–९९[11] राजा द्वारा युद्ध के पूर्व की जाने वाली अग्नि-इन्द्रादि की स्तुति है। ६. १०३–१०४[12] शत्रु को शक्तिहीन (संदान, आदान) करने के अभिचार हैं। विशेष रूप से घोर एवं विस्तृत हैं : ११. ९ और १०[13] जो शत्रु पर

१. बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय। अ० ७।१६।१ ab इत्यादि

२. अ० ५।२४।१ a दे० पृ० १०६, नो० ३; १७ मन्त्र

३. उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान्यज्ञेन बोधय। अ० १९।६३।१ ab

४. इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरन्दरः।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः॥ अ० ८।८।१

५. मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन्। अ० १।१९।१ ab इत्यादि

६. अ० १।२०।१ दे० पृ० १०९, नो० ३; ४ मन्त्र अ० १।२१।१ दे० पृ० १०९, नो० ४; ४ मन्त्र

७. अवं मन्युरवायतावं बाहू मनोयुजा। अ० ६।६५।१ ab इत्यादि

८. अग्निर्नः शत्रून्प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्। अ० ३।१।१ ab इत्यादि

९. अ० ४।३१।१ दे० पृ० १३४, नो० १; ४ मन्त्र अ० ४।३२।१ देखो नो० १०

१०. त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः। ऋ० १०।८४।१ ab इत्यादि
यस्ते मन्योऽविधद्वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक्। ऋ० १०।८३।१ ab = अ० ४।३२।१

११. अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः। अ० ६।९७।१ ab इत्यादि सूक्त ९९ तक

१२. संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत्। अ० ६।१०३।१ ab इत्यादि

१३. ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च। अ० ११।९।१ a
उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह। अ० ११।१०।१ ab

आक्रमण करने वाले युद्ध के दैत्य अर्बुदि, न्यर्बुदि और त्रिसन्धि के प्रति कहे गये हैं, जिन्हें इन्द्र का सहयोगी बताया गया है। 'त्रिसन्धि' (तीन जोड़ वाला) देवता स्पष्टतः इन्द्र के तीन धार वाले वज्र का मूर्तिमान् रूप प्रतीत होता है (११. १०. ३[1]); अर्बुदि और न्यर्बुदि, अर्बुद राक्षस के आख्यान से लिये गये हैं, जो मेघ-सर्प है और जिसे इन्द्र मारता है। न्यर्बुदि अर्थहीन उपसर्ग 'नि' को 'न्यर्बुदं वावृधानो अस्तः' २. ११. २०[2] के आधार पर रखा गया प्रतीत होता है। हेनरी अर्बुद को मूलतः इन्द्र का ही दूसरा पुराणोक्त रूप मानते हैं, किंतु इस विषय में यह कहा जा सकता है कि इन्द्र और अर्बुद से बने अर्बुदि और न्यर्बुदि का मित्रता का संबन्ध उनके बाद के काल में, सर्प देवता मान लेने के कारण पनपा है, जो कि इन्हीं नामों के आधार पर माङ्गलिक बन गए हैं। प्रस्तुत आख्यान का प्रारम्भिक आशय आज भुलाया जा चुका है। सूक्तों का एक दूसरा युगल ५. २० और २१[3] जो आथर्वण रचना का खासा नमूना दीख पड़ता है, शत्रु के लिये दारुण युद्ध-दुन्दुभि को लेकर बनाया गया है : 'जब शत्रु की रमणियां दूर बजने वाली दुन्दुभि का शब्द सुनें, तब वह शब्दमात्र से त्रस्त होकर पुत्र को बाहों में दबाकर, अस्त्रों की झनकार से भयभीत होकर भाग जाँय; तुलना ६. १२६[4] (ऋ० ६. ४७. २९–३१[5]) से भी। अन्य विशेषताएँ १९. २०[6] में वर्णित हैं, जो राजा की कवच पहनते समय की एक प्रार्थना है। (तु० मन्त्र ७. ११८[7] = ऋ० ६. ७५. १८[8]) एवं ६. १२५[9] (ऋ० ६. ४७. २६–२८[10]) तथा ७. ३[11] में रथ पर सवार होते समय राजा के लिये प्रार्थना है। अन्त में प्रसिद्ध अप्रतिरथ-सूक्त १९. १३[12] (ऋ० १०. १० ३[13]) एवं युद्ध का वर्णन करने वाले ६.

---

१. क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान्वज्रेण त्रिषन्धिना। अ० ११।१०।३ cd

२. अस्य सुवानस्य मन्दिनस्त्रितस्य न्यर्बुदं वावृधानो अस्तः। ऋ० २।११।२० ab

३. उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन्वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः। अ० ५।२०।१ ab
विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे। अ० ५।२१।१ ab

४. अ० ६।१२६।१ दे० पृ० ९८, नो० ६

५. ऋ० ६।४७।२९ दे० पृ० ९८, नो० ७

६. अप न्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी धाता सविता बृहस्पतिः। अ० १९।२०।१ ab

७. मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम्। अ० ७।११८

८. ऋ० ६।७५।१८ = अ० ७।११८

९. वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः। अ० ६।१२५।१ ab इत्यादि

१०. वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः। अ० ६।४७।२६ ab इत्यादि

११. अया विष्ठा जनयन्कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः। अ० ७।३।१ ab

१२. इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणौ चित्रा इमा वृषभौ पारयिष्णू। अ० १९।१३।१ ab इ०

१३. आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्। ऋ० १०।१०३।१ ab

१३; ७. ८६, ९१; ९२; ९३; १०८; और ११०[1] भी इसी वर्ग में आ जाते हैं।

५६. *वर्ग ७. ब्राह्मणों के हित में प्रार्थना एवं शाप*—ब्राह्मणों का दावा और उनका प्रभुत्व अथर्ववेद में चरम सीमा पर पहुँच गया है। किंतु दानस्तुतियों, नारांशसों एवं श्रौत सूत्रों के प्रारम्भिक विवरणों में दक्षिणा के रूप में दिये जाने वाले पशुओं एवं अन्य प्रकार के द्रव्यों की संख्या एवं मात्रा जहाँ वाद के साहित्य में और श्रौत सूत्रों तक में अतिरञ्जित रूप में दिखाई पड़ती है वहाँ वह अथर्ववेद के दक्षिणा-सूक्तों में एक सीमा में वांध दी गई है। ब्राह्मण अपने लिए 'देव' विशेषण का प्रयोग निरन्तर करते दीखते हैं, और यह कदाचित् इसलिये कि यज्ञ और इष्टापूर्तम् दोनों पवित्र क्रियाएं हैं, और इसलिये इन दोनों में से प्रत्येक को एक दैवी व्यक्ति के प्रति मुखातिब होना चाहिये। साथ ही वे इस बात का भी गर्व करते हैं कि पुरोहित होने के नाते वे राजा के प्रभुत्व एवं देश के रक्षक हैं और इसके साथ ही सामान्य जनता की सभी सुख-संपत्ति इन ब्राह्मणों से ही उपजती है, क्योंकि ये ईश्वर और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ का कार्य करते हैं। ब्राह्मणों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति अथर्ववेद में प्रायः वही है जो श्रौत साहित्य के विवरणों में, और इनका वेबर ने अपने 'कलेक्टेनिआ आन दि कास्ट्स' इ० स्टू० १०.१-१६० में उचित संकलन कर दिया है। उनका अपनी अजेयता एवं अवध्यता का दावा और उनकी दक्षिणा की कभी न बुझने वाली माँग, जो दानस्तुतियों को देखते हुए तो उदार मालूम पड़ती है, ध्यान देने योग्य है। पहले वर्ग में अथर्व तत्त्व शाप के रूप में दिखाई पड़ता है, जो साहित्य के किसी भी दारुण से दारुण वर्णन से अधिक उग्र है। ब्राह्मणों का दमन और उनका वध तो स्वयं पावन आत्मा के विरुद्ध पाप है। दक्षिणा-दान का वर्णन करने वाले सूक्त एक दम विचित्र हैं। इन क्रियाओं का कभी-कभी अत्यधिक लम्बे वर्णनों में स्वयं स्वतन्त्र याज्ञिक अनुष्ठानों के समान विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इनका उन सभी पदार्थों के साथ संपर्क उभर आया है जो कि पावन हैं, रहस्यमय हैं और आध्यात्मिक हैं। उन सूक्तों की मुख्य विशेषताओं में प्रधान यह है कि जहाँ 'अज' को दक्षिणा का अंश वताया गया है, वहाँ वह एकदम वकरा और दैवी 'अज एकपाद्' वन गया है। जब वैल दक्षिणा में दिया जाता है तब वह एक दम एक वैल, एवं दैवी वृष (अनड्वान्) वन जाता है; फलतः व्यक्तिरूप उदाहरणों में इस बात का निश्चय करना कठिन हो जाता है कि किसी एक उदाहरण में आध्यात्मिक विचारों की शृङ्खला, जो प्रायः एक क्रमहीन मिश्रण के रूप में होती है—दक्षिणा को मिस बना कर घड़ी गई है अथवा उस उदाहरण में दक्षिणा ही मौलिक विषय है, और उसे रोचक वनाने के लिये उस पर ब्रह्म-संवन्धी सुवर्ण का मुलम्मा चढ़ा दिया गया है।

---

१. अ० ६।१३।१ दे० पृ० १३४, नो० २ इत्यादि

ब्राह्मणों की एवं उनके स्वत्व की अवध्यता को लेकर अथर्ववेद के चार भव्य सूक्तों का संकलन हुआ है (५. १७-१९; १२. ५[1]); इनमें से पहला ऋग्वेद १०. १०९[1] में आंशिक रूप से उपलब्ध होता है, जिसके केवल ७ मन्त्र हैं, किंतु ऋग्वेद के पाठ में ११ मन्त्रों के पूर्णपाठ का संकेत मिलता है, जो कदाचित् अथर्ववेद के प्रथम ११ मन्त्रों जैसे हों। अथर्ववेद के अन्तिम ७ मन्त्र अन्य मौलिक कारणों से भी पहले ११ मन्त्रों से बाद के माने जा सकते हैं। सकल सूक्त ब्राह्मण की पत्नी के साथ अभिगमन करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध एक शाप है; यहाँ कवि की दृष्टि में राजा अथवा अहङ्कारी सामन्त दोषी प्रतीत होते हैं। स्वयं राजा सोम ने ब्राह्मणों के पक्ष में अपने इस अधिकार को छोड़ दिया था कि प्रत्येक स्त्री के प्रथम पति वे स्वयं हैं; यहाँ तक कि ब्राह्मणों के विवाह-संस्कार का संचालन स्वयं देवताओं ने किया था। जहाँ ब्राह्मण की स्त्री का मर्दन होता है, उस देश पर और देश के राजा पर दुःखों का पहाड़ टूट पड़ता है। इनकी संपत्ति नष्ट हो जाती है, इनके संतानें होती ही नहीं, और बहुत सी दूसरी अशुभ घटनाएं लोगों की नाक में दम कर देती हैं। अन्य तीन सूक्त ब्राह्मणों को सताने वाले, विशेषतः उनके पशुओं को चुराने वाले के प्रति कहे गये हैं: 'उस राज्य को वह गाय उसी प्रकार डुबा देती है, जैसे छिद्रयुक्त जलपोत को जल डुबा देता है। जिस राज्य में ब्राह्मणों का कान तत्ता होता है, दुर्भाग्य उस राज्य को नष्ट कर देता है; हे नारद ? जो ब्राह्मण का धन हरता है उसे वृक्ष यह कहकर दुरा देते हैं कि 'हमारी छाया के नीचे मत आओ' (५. १९. ८, ९[3])। ब्राह्मण के क्रोध का पारा इतने ही से ठण्डा नहीं होता, वह अपने शत्रु को वेदरदी से मृत्यु के हाथ सौंप देता और वह अपने अभिचारों का उच्चारण अन्त्येष्टि क्रियाओं के अमङ्गलमय विषयों के अर्थ-भरे संकेतों सहित करता है: 'कूदी, जो मृत्यु का मार्ग साफ करती है, और जिसे मृतक के पैर में बाँधा जाता है, हे ब्राह्मण को सताने वाले ! उसी को देवताओं ने तुम्हारा निवासस्थान घोषित किया है।'.........'वह जल जिससे वे मृतक को नहलाते हैं, जिससे वे उसकी श्मश्रु को गीला करते हैं, हे ब्राह्मण को सताने वाले ! उसी जल को देवताओं ने तुम्हारे हिस्से में निश्चित किया है (५. १९, १२. १४[4])।

---

१. तेऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्विषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा। अ० ५।१७।१ ab इत्यादि
श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तऋते श्रिता। अ० १२।५।१

२. तेऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्विषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा। ऋ० १०।१०९।१ ab इत्यादि

३. तद्वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम्।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना॥ अ० ५।१९।८ इत्यादि

४. यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं पदयोपनीम्।
तद्वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन्॥ अ० ५।१९।१२ इत्यादि

खुले शब्दों में ब्राह्मण लोग पुरोहिति के महत्त्व एवं शक्ति पर जोर देते हैं: ३, १९; ५, २४; ७. १६; १९. ६३[1]; किंतु इन सबसे बढ़कर अथर्ववेद, प्रायः अन्य वैदिक अङ्गों के समान, ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों पर अपने विचारों का वर्णन दबी आवाज से नहीं, अपितु खुलेआम उत्साह के साथ करता है। वे दान-स्तुतियाँ, जो दान के काल्पनिक माहात्म्य का वर्णन, भविष्य में दाताओं को दान देने के लिये प्रेरित करने के ध्येय से करती हैं, यहाँ एक दम नहीं मिलतीं। इस विषय में अथर्ववेद का दृष्टिकोण अर्ध-ऐतिहासिक न होकर व्यावहारिक एवं उपदेशात्मक है। अथवा यातु-मन्त्रों का अभिचार और प्रार्थना लोभ को मन से हटाने और दानशीलता को बढ़ाने के लिये है। मात्सर्य ('अराति')-दानवी के प्रति कहा गया भव्य सूक्त ५. ७ उसे दूर भाग जाने के लिये एक प्रार्थना है, भले ही वह सुनहले रङ्गवाली, मदमाती सुवर्ण-शय्या पर विलास करने वाली अप्सरा ही क्यों न हो। 'उसको जिसकी आज मैं विचार की सहगामिनी वाच् सरस्वती के साथ प्रार्थना करता हूँ, श्रद्धा (विश्वास जो कार्यों में प्रकट होता है—जैसे दक्षिणा में) आज भूरे सोम से प्रदत्त किये जाने पर प्राप्त करेगी (मन्त्र ५)। यही परिणाम निम्न उद्धरण से भी निकलता है, जो शोकपूर्ण आर्त विलाप है। 'अधिक धन के लिये मरने वाला कौनसा राजा हमारी इस दरिद्रता को दूर करेगा? कौन यज्ञ करना चाहता है? कौन ब्राह्मण के दिये दान का फल पाना चाहता है? कौन देवताओं से दीर्घायु चाहता है: ७. १०३. तुलना ७. १०४[2]। इसी क्षेत्र का ५. ११[3] भी है; यह वरुण द्वारा अथर्वन् को दी गई विचित्र गौ के विषय में वरुण और अथर्वन् (विशिष्ट पुरोहित) का एक संवाद है। वरुण इस गौ को वापस लेना चाहते हैं, किंतु अथर्वन् इसे लौटाना नहीं चाहता। नियमित दक्षिणा के साथ-साथ धनार्थी ब्राह्मण लोग हर प्रकार का धन-धान्य एकत्र करने में तत्पर रहते थे। इस प्रकार यमल बछड़ों का जन्म, जिसे आजकल शुभ माना जाता है, अथर्ववेद में अमाङ्गलिक माना गया है, और इसके लिये प्रायश्चित्त की आवश्यकता बतायी गई है। उस प्रायश्चित्त में पशुओं को हानि पहुँचाने वाली भिन्न जाति की उस गौ को ब्राह्मण को दे देने का भी विधान आता है; ऐसी गौ जो कुछ समय के बाद वन्ध्या (वशा) हो गई हो इसी दृष्टि से देखी गई है। लम्बा अनुष्टुप् सूक्त १२. ४[4] सुन्दर भाषा में डरावनी धमकियों

१. संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम्। अ० ३।१९।१ ab इत्यादि
अ० ५।२४।१ दे० पृ० १०६, नो० ३; अ० ७।१६।१ दे० पृ० ११४, नो० १०; अ० १९।६३।१ दे० १५६, नो० ३; अ० ५।७।१ दे० पृ० ८०, नो० ३; पढ़ो 'आ नो भर' आ में भर के स्थान पर

२. को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन्। अ० ७।१०३।१ ab इ०
कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम्। अ० ७।१०४।१ ab इत्यादि

३. कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः। अ० ५।११।१ ab इत्यादि

४. अ० १२।४ दे० पृ० ८१, नो० २

के साथ ऐसी गौ को ब्राह्मण को देने के लिये कहता है; क्योंकि गौ तो क्या ब्राह्मण का तो कोई भी अनिष्ट नहीं कर सकता। किंतु आथर्वण क्रिया-विधि की असली दिशा तो उन विस्तृत सूक्तों के निर्माण की ओर मुड़ी मिलती है; जो साफ तौर से प्रचुर दक्षिणा देने को उकसाने के लिये और दक्षिणा से मामूली तौर से संबद्ध क्रिया-कलाप को अत्यन्त उच्चकोटि के याज्ञिक कर्मों का स्थान देने के लिये रचे गये हैं। इन दक्षिणाओं को कौशिक सूत्र 'सव' (सवान् दा = सव देना) कहता है। इस अर्थ में 'सव' शब्द संहिता-ग्रन्थों में नहीं मिलता; देखिये ऋ० १. १२६. १[1]। श्रौतग्रन्थ इन सवों से परिचित हैं जो इन्हें 'एकाह' का अङ्ग बताते हैं। ये सव विभिन्न संस्कारों के लिये धार्मिक अभिषेक हैं। तै० ब्रा० २. ७[2] इनमें से ७ का वर्णन करता है; एक का नाम 'ओदन सव' (२. ७. ७) है और यह अन्नाद्य-काम द्वारा संपादित होता है। कौशिक सूत्र इसी विचार को दक्षिणा के दान के लिये प्रयुक्त करता है, और संपूर्ण आठवें काण्ड में इस 'सव' ही की चर्चा की गई है। वहाँ 'सव' के संबन्ध में दो पाठ मिलते हैं : एक ६०–६६[3] और दूसरा परिशिष्ट के ढङ्ग पर ६७–६८[4]। यजमान और उसकी पत्नी दोनों, कर्तारौ के रूप में, इन विधानों में भाग लेते हैं। विशेष प्रकार के पात्रों (साविकाः संभाराः ६७. १) प्रयोग होता है। केशव पृ० ३६४ इन सवों की संख्या २२ बताते हुए इनका संक्षिप्त वर्णन देते हैं। इनका अधिक स्पष्ट रूप दो सूक्तों ११. १ और १२. ३[5] में दिखाई पड़ता है, जिसे केशव क्रमशः 'ब्रह्मौदन' तथा 'स्वर्गौदन' कहते हैं। वे ब्राह्मण को दक्षिणा के रूप में दिये जाने वाले दलिये के साथ संपृक्त सोम याग के अवसर पर बोले जाने वाले मन्त्रों के प्रतिनिधि हैं। स्वर्ण एवं वस्त्रों के दान का संकेत भी मिलता है : ११. १. २८, १२. ३. ५१[6]; फिर भी इन अनुष्ठानों में जिनमें पत्नी भाग लेती है और जो परिवार में बहुत दिनों से चलते आये बताये गये हैं (११. १. १९[7]) कुछ वास्तविकता एवं घरेलूपन-सा है : पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र– मैं पन्द्रहवाँ हूँ,

१. यो मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः। ऋ० १।१२६।१ cd

२. ······तस्य प्रातस्सवने सत्रेषु नाराशंसेषु······। तै० ब्रा० २।७।१ इत्यादि

३. अग्नीनाधास्यमानः सवान्वा दास्यन् संवत्सरं ब्रह्मौदनिकमग्निं दीपयति।
कौ० सू० ६०।१ से कण्डिका ६६ तक

४. संभृतेषु साविकेषु सम्भारेषु ब्राह्मणमृत्विजं वृणीत। कौ० सू० ६७।१ से क० ६८ तक

५. अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा। अ० ११।१।१ ab इत्यादि
पुमान्पुंसोऽधि तिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते। अ० १२।३।१ ab इत्यादि

६. इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात्कामदुघा म एषा। अ० ११।१।२८ ab
एषा त्वचां पुरुषे सं बभूवानग्नाः सर्वे पशवो ये अन्ये। अ० १२।३।५१ ab

७. उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके। अ० ११।१।१९ ab

हे मन्थ, जिसने तुझे पकाया।' इस प्रकार की उक्तियाँ दानस्तुतियों के संदेहास्पद वर्णनों से कहीं दूर हैं। इसी से संबद्ध ११. ३[1] भी है, जो ब्राह्मणीय गद्य में 'ओदन' का विधि-संबन्धी अर्थवाद है। ५०[2] वें मन्त्र में मन्थ को सूर्य से मिलाया गया है। एक बकरी, जिसका अज एक-पाद् के साथ ऐक्य मान लिया गया[3] है, सौ ओदनों से अलंकृत होकर[4] (अज पञ्चौदन) ९. ५ का विषय बनी है (तु० ४. १४)। सौ ओदनों से आचित एक गौ (शतौदना), जिसका सर्व-व्यापी दैवी गौ के साथ साम्य उभारा गया है, १०. ९[5] में दी जाती है। एक ओदन, जिसका मुख्य ध्येय मृत्यु से रक्षा करना है (अतितराणि मृत्युम्) ४. ३५ में वर्णित है; दूसरा पुलाव, जिसमें चटपटे मसाले पड़े हैं 'विस्तारिन्' 'फैलने वाला' कहलाया है, और इसे सृष्ट्युत्पत्ति-विषयक रहस्यमयी भाषा में परलोक में सुख देने वाला बताया गया है। ६. १२३[6] में स्पष्ट रूप से निर्देश मिलता है कि ब्राह्मणों को दिया गया धन परलोक के लिये संचित कोष है। इन सवों में से कई तो किसी एक पशु पर केन्द्रित हैं: १०. १०[7] वशा; ९. ४[8] ऋषभ, जिसका दैवी वृषभों के साथ (रोहित, इन्द्र, त्वष्टा) साम्य उभारा गया है; ४. ११[9] अनड्वान्; ७. २२[10] अन्यत्र आये अशुद्ध एवं गूढ़ संदर्भ, एक गो-सव; ६. ३१[11], उगते हुए सूर्य के प्रति एक सूक्त, (गौः पृश्निः), एक पृश्नि-सव; ३. २९. १–६[12] एक अवि-सव; जिसके बाद मन्त्र ७-८ में इसे स्वीकार करने के लिये एक प्रायश्चित्त है (इ० स्टू० १०. ५५); ६. ३०. १[13] मधु-मिश्रित यव की स्तुति है जिसे 'पौनःशिल मधुमन्थ' (कौशिक ६६. १५) कहा गया है। केशव की २२ सवों की सूची में दक्षिणा के संबन्ध में उच्चारित, कुछ अन्य सूक्त एवं मन्त्र भी संमिलित मिलते हैं; उदाहरण के लिये, १. ३१ 'चतुःशराव-सव' में सुख-समृद्धि के लिये दिशाओं (आशाः) से प्रार्थना है (चतुःशराव सव कौशिक ६४. १)। कहना न होगा कि इन सभी दक्षिणाओं

---

१. तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्। अ० ११।३।१ a

२. एतद्वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः। अ० ११।३।५० a

३. आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्। अ० ९।५।१ ab इत्यादि

४. अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे। अ० ४।१४।१ ab इत्यादि

५. इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः। अ० १०।९।१ ab

६. एतं सधस्थाः परि वो ददामि। अ० ६।१२३।१ a

७. स वशां प्रति गृह्णीयात। अ० १०।१०।२ d इत्यादि

८. साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान्विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत्। अ० ९।४।१ ab इत्यादि

९. अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्याम्। अ० ४।११।१ a

१०. ……मन्युमत्तमाश्रिते गोः। अ० ७।२२।२ d

११. आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः। अ० ६।३१।१ इत्यादि

१२. यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः। अ० ३।२९।१ ab

१३. देवा इमं मधुना संयुतं यवम्…… । अ० ६।३०।१ a इत्यादि

में सब से अधिक रोचक है ९. ३[1] में वर्णित दक्षिणा (शालासव) : एक घर को धीरे-धीरे ऐसे अलग कर दिया जाता है मानो कि वह एक जीवित प्राणी हो, फिर इसे ब्राह्मण को दे दिया जाता है, जो इसे, इसमें रहकर अपने भविष्य के मङ्गलमय होने की सभी प्रार्थनाओं के साथ ग्रहण कर लेता है और अन्त में इसे खुले आम अपना निवास-स्थान बना लेता है। धर्मशास्त्रों के समान अथर्ववेद में भी इस विचार का पाया जाना कुछ माने रखता है कि ब्राह्मणों को जल का दान, चाहे वह स्वतन्त्र रूप से हो, और चाहे दूसरी ठोस दक्षिणा के अंश के रूप में, एक पवित्र कार्य है : ६. १२२[2] (१०. ९. २७, ११. १. १७, २७[3])। ब्राह्मणों की जब-तब की अपने ऊपर की घृणा, कि वे आवश्यकता से अधिक धनलोलुप हैं, या अनुचित दक्षिणा लेते हैं, प्रायश्चित्त-सूक्त ६. ७. ७[4] में अथवा ३. २९. ७[5], ८ में उभर आती है। (तुलना० वेबर के संग्रह से इ० स्टू० १०. ५५।

ब्राह्मणों के लोभ और आत्मप्रतिष्ठा-संबन्धी विवरण को यहाँ इससे विपरीत प्रकार की विचार-धाराओं एवं भावनाओं से काफी हद तक राहत मिल जाती है। उनके चरित्र को चांद लगाने वाला उनका तथ्य है उनकी अपने विशेषाधिकारों के साथ-साथ उत्तरदायित्व की सतत भावना है। एक ब्राह्मण की समाज में प्रतिष्ठा होनी उचित है; इसी आधार पर वह अपनी ड्यूटी बजाने में समर्थ होता है। दो प्रार्थनाएँ (६. ५८ और ६९[6]) उनकी अपने समाज से आदर पाने की लालसा को अभिव्यक्त करती हैं। निश्चय ही इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उन्हें ज्ञानी, आध्यात्मिक दृष्टि से उदात्त और सद्विद्याओं में निष्णात होना चाहिये। तब तो ठीक ही 'अहं रुद्रेभिः' इस प्रसिद्ध सूक्त का, जो कि वाक् की स्तुति में है ५. ३० (ऋवे० १०. १२५) और जो आधुनिक भारत में भी एक संन्यासी की आधार शिला है, उस अनुष्ठान में प्रयोग किया जाता है, जिसका लक्ष्य मेधा की प्राप्ति होती है। ६. १०८[7] तो (तु० ऋ० खिल० १०. १५१) 'मेधा' बुद्धि के लिये प्रत्यक्ष प्रार्थना है; १९. ४[8] आकूति के लिये है; १९. ४१–४३[9] ब्रह्म और

---

१. उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत । अ० ९।३।१ ab

२. एतं भागं परि ददामि विद्वान् । अ० ६।१२२।१ a इत्यादि

३. यत्क्षाम इदमभिषिञ्चामि वोऽहं तन्मे सर्वं सं पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम् । अ० १०।९।२७ cd इत्यादि

४. येन सोमादितिः पथा मित्रा वा यन्त्यद्रुहः । तेना नोऽवसा गहि । अ० ६।७।१

५. कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश । अ० ३।२९।७ ab इत्यादि

६. यशसं मेन्द्रो मघवान्कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे । अ० ६।५८।१ ab

७. त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरा गहि । अ० ६।१०८।१ ab इत्यादि

८. यामाहुतिं प्रथमामथर्वा या जाता या हव्यमकृणोज्जातवेदाः । अ० १९।४।१ ab

९. भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे । अ० १९।४१।१ ab इत्यादि

दीक्षा के लिये प्रार्थनाएँ हैं, और १९. ६४[1] अग्निचयन करने वाले ब्रह्मचारी के लिये प्रज्ञा तथा अन्य सांसारिक लाभों के लिये प्रार्थना है। इन्हीं से संबद्ध निश्चय ही तीन प्रार्थनाएँ पवित्रता के लिये हैं—६. १९; ५१[2] और ६२। ऐसी रचनाओं के मूल में वैदिक अध्ययन के प्रति ब्रह्मचारी की श्रद्धा है जैसीकि ७. १०५ और १९. ६८[3] जो कि वैदिक शिक्षा के उपोद्घात रूप में हैं। ७. ५४ और ७. ६१[4] वेद के अध्ययन में सफलता के लिये की जाने वाली प्रार्थनाएँ हैं। ७. ६६ और ६७[5] पवित्र विद्या को याद करने के लिये प्रार्थनाएँ हैं जब कि १९. ७१[6] में गायत्री की प्रशंसा है। अत्यन्त वाद के विषय से संबद्ध १९. २१. २३[7] की भी तुलना कीजिये। संहिता का पहला सूक्त १. १[8] संहिता के पावन पाठ 'श्रुत' के बोध और स्मरण के लिये वाचस्पति 'वाणीपति' की प्रार्थना है: 'सभी स्वरूपों को धारण करने वाले इक्कीस (स्वर तथा अक्षर) की शक्ति वाचस्पति मुझे दें।' १९ वें काण्ड के अन्त में इसी प्रकार का मन्त्र (७२[9]) वेद-पाठ की समाप्ति पर एक आशीर्वाद है और यह काण्ड २० के स्वरूप को परवर्ती एवं गौण सिद्ध करने वाले सिद्धान्त की पुष्टि करता है (प्र० ३५)।

५७. *वर्ग ८. समृद्धि प्राप्त करने और विपत्ति से छुटकारा पाने के अभिचार (पौष्टिकानि)*—एक अर्थ में तो सारा वेद ही समृद्धि की याचना से परिव्याप्त है। यह याचना 'रत्नधातम' (ऋ० १. १. १) से आरम्भ होती है और लगभग प्रत्येक सूक्त एवं अनुष्ठान में चालू रहती है। अथर्ववेद का क्षेत्र समान्यतया श्रौतसाहित्यिक 'काम्येष्टि' के ढंग पर है; और कुछ अंश तक गृह्यसाहित्य की तरह व्यक्तिगत इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। किंतु एक दृष्टि से, और वह भी ऐसी पूर्णता के साथ जो और कहीं भी नहीं मिलती,

---

१. अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। अ० १९।६४।१ ab इत्यादि

२. पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया। अ० ६।१९।१ ab इत्यादि
वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः॥ अ० ६।५१।१ ab इत्यादि

३. अपक्रामन्पौरुषेयाद्वृणानो दैव्यं वचः। अ० ७।१०५।१ ab इत्यादि
अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया। अ० १९।६८।१ ab

४. ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते। अ० ७।५४।१ ab इत्यादि
प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः। अ० ७।६१।१ cd इत्यादि

५. तद्ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु। अ० ७।६६।१ d
पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च। अ० ७।६७।१ ab

६. स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानीं द्विजानाम्। अ० १९।७१।१ ab

७. गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यै। अ० १९।२१ इत्यादि

८. ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। अ० १।१।१ ab इत्यादि

९. अ० १९।७२ दे० पृ० ७७, नो० २

वैदिक साहित्य की व्यावहारिकता इससे अधिक मात्रा में और इतनी अधिक स्पष्टता के साथ और कहीं नहीं दिखाई पड़ती। बाद की व्यवस्था में इस प्रवृत्ति का नाम पुष्टि-कर्म (पौष्टिकानि कर्माणि) रख दिया गया है, जिनका 'भेषज' एवं 'अभिचार' के साथ गहरा संबन्ध है। ये दोनों नाम भी, सच पूछो तो अथर्व-साहित्य से ही निकले हैं। रिहायश और घर, खेत और नदी, अन्न और जल, पशु और अश्व, और द्यूत, यात्रा और यात्रा से लौटना, सर्प और कीट, ये ही इन अभिचारों एवं प्रार्थनाओं के प्रमुख विषय हैं, और इन सबके ऊपर हैं समृद्धि और संतान के लिये, विपत्ति-निवारण के लिये और विपत्ति तथा भय से त्राण के लिये की गई अनेक आग्रहपूर्ण प्रार्थनाएँ। इस वर्ग के सूक्तों से, जो बीसवें काण्ड को छोड़कर इस संहिता के सूक्तों के पञ्चमांश से भी अधिक हैं, यही धारणा बनती है। अब हम ऊपर निर्दिष्ट विषयों का संक्षिप्त दिग्दर्शन करेंगे :—

गृह-निर्माण-संस्कार का वर्णन ३. १२[1] में हुआ है; और इस संस्कार के मन्त्र प्रायः सभी गृहसूक्तों में, इस संस्कार के प्रसंग में, पढ़े गये हैं। इसी से संबद्ध एक गौण संस्कार है, जिसका नाम 'श्येनयाग' अथवा 'श्येनेज्या' है, (और जिसकी विवेचना ब्लूमफील्ड ने की है) इसका निर्देश ७. ४१[2] में आता है। यह सूक्त देवी पक्षी (विद्युत्) के प्रति कहा गया है। कौशिक सूत्र ४३. ३[3] के भाष्यकारों के अनुसार यह क्रिया नया गृह बनने के स्थान पर, अथवा नया गृह बन जाने पर उसी के भीतर की जाती है। इस संस्कार का उद्देश्य अशुभ स्थितियों को दूर करना है। साफ है कि इस संस्कार के बाद घर पर बिजली नहीं गिर सकेगी, 'पक्षिराज विश्राम ढूँढता हुआ (शिव) अपने मित्र इन्द्र के साथ यहाँ आयेगा।' विद्युत् देवी को प्रसन्न करने और उससे अन्नभण्डार भर देने के लिये दुआ करने वाले अभिचार १. १३ और ७. ११[4] में मिलते हैं। अग्नि-दाह से रक्षा ६. १०६[5] में गई है, जिसके साथ जल-वनस्पतियों एवं मेंढकों द्वारा एक महत्त्वपूर्ण क्रिया की जाती है, जबकि ३. २१[6] विस्तृत रूप में सब प्रकार की अग्नि की, विशेषतः श्मशानाग्नि की सभी दाहक शक्तियों को शान्त करने के लिये प्रेरित है। किसी नदी को नयी धारा में प्रवाहित करने का अभिचार ३. १३[7] में है। यह ६ सामान्य मन्त्रों का, जो जल की स्तुति में हैं बना है, सातवाँ मन्त्र इसके

१. इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा। अ० ३।१२।१ ab इत्यादि
२. अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः। अ० ७।४१।१ ab इत्यादि
३. अतिधन्वानीत्यवसाननिवेशनानुचरणानि निनयनेज्या। कौ० सू० ४३।३
४. अ० १।१३।१ दे० पृ० ७७, नो० ५
मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यम्। अ० ७।११।१ c
५. आयने ते परायणे दूर्वा रोहतु पुष्पिणी। अ० ६।१०६।१ ab इत्यादि
६. ये अग्नयो अप्स्वन्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु। अ० ३।२१।१ ab
७. अ० ३।१३।१ दे० पृ० १११, नो० २

बीच की क्रियाओं की ओर संकेत करता है। कौशिक सूत्र ४०. १–६[1] इसमें अत्यन्त रोचक विवरणों को जोड़ देना है। विभिन्न प्रकार के मन्त्रों से निर्मित सूक्त ३. १७[2] का गान करते हुए खेत की जोताई की जाती है। यह सूक्त कौशिक सूत्र २०[3] (तु० ऋ० ४. ५७)[4] में अन्य मन्त्रों एवं क्रियाओं से सज उठा है। इन्द्र के प्रति कहे गये छोटे से सूक्त ६. ३३[5] (शा० श्रौत सूत्र १८. ३. २[6] पाठान्तर के साथ) का कौशिक सूत्र २३. १७[7] ने हल चलाने की क्रिया में प्रयोग किया है। इसके बाद (६. १४२)[8] ओरे जाने वाले बीज के प्रति आशीर्वचन है। अन्नवृद्धि के लिये ३. २४[9] और ६. ७९[10] अभिचार हैं। दूसरा महत्त्वपूर्ण पाठान्तरों के साथ तै० सं० ३. ३. ८.२–३[11] में मिलता है। अत्यन्त मार्के का सूक्त ६. ५०[12] खेत में खड़े अन्न को हानि पहुँचाने वाली टिड्डियों को भगा देने के लिये हैं। हिन्दू किसान की सबसे बड़ी अभिलाषा वर्षाप्राप्ति के लिये है; इसके लिये भी तीन सूक्त हैं : ४. १५; ६. २२ और ७. १८[13]। इनमें से पहले के विषय मौलिक हैं और इसका ऋ० ७. १०३[14] के मण्डूकसूक्त एवं वर्षाभिचार के साथ घना संबन्ध है। पशुओं से संबद्ध अभिचार तो बहुत से हैं : २. २६, ३. १४, ४. २१ और ७. ७५[15]; पशु-समृद्धि के लिये ६. ५९[16] और पशुओं की रक्षा के लिये अरुन्धती वनस्पति से प्रार्थना है। तीन मन्त्र ४. ३८. ५–७[17], जो कौशिक सूत्र २१. ११ में 'कर्की प्रवादाः' कहाते हैं, भाष्यकार के अनुसार पशु-धन

---

१. यददः सम्प्रयतीरिति येनेच्छन्नदीं प्रतिपद्येतेति प्रसिञ्चन्व्रजति ।
कौ० सू० ४०।१ से ६ तक

२. सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नयौ । अ० ३।१७।१

३. सीरा युञ्जन्तीति युगलाङ्गलं प्रतनोति । कौ० सू० २०।१ इत्यादि

४. क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि । ऋ० ४।५७।१ ab

५. अ० ६।३३।१ दे० पृ० ११५, नो० ७

६. यस्येदमोज आरुजस्तुजो युजो बलं सह ।……इत्यादि शां० श्रौ० सू० १८।३।२

७. यस्येदमा रज इत्यायोजनानामप्ययः । कौ० सू० २३।१७

८. उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव । अ० ६।१४२।१ ab इत्यादि

९. अ० ३।२४।१ दे० पृ० १००, नो० ५

१०. अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु । असमातिं गृहेषु नः । अ० ६।७९।१

११. ……अयं नो नभसा पुरः संस्फानो अभि रक्षतु ।……तै० ३।३।८।२ से ३ तक

१२. हतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम् । अ० ६।५०।१ ab इ०

१३. समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु । अ० ४।१५।१ ab इत्यादि

१४. वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः । ऋ० ७।१०३।१ cd इत्यादि

१५. एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष । अ० २।२६।१ ab इत्यादि

१६. अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति । अ० ६।५९।१ ab इत्यादि

१७. सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनुसंचरन्ति । अ० ४।३८।५ ab इ०

प्रदान करते हैं; किंतु ब्लूमफील्ड ने उनका भटक गए वछड़ों को लौटाने के लिये प्रार्थना के रूप में संगमन किया है। विशेष रोचक है—६. ७०[1] गौ के अपने वछड़े के साथ लगे रहने के लिये अभिचार। ६. १४१[2] पशुओं को कानों पर दागते समय बोली जाने (तु० १२. ४. ६) प्रार्थना है और ४. ३[3] अत्यन्त कले गड़रियों का जंगली पशुओं एवं दस्युओं के प्रतिकूल (चीता, मनुष्य, भेड़िया और सर्प) शक्तिशाली अभिचार है। दीर्घकाल से प्रशंसित दौड़ का प्रेम ६. ९२[4] में उभर आया है। यह अश्व को तीव्र बनाने के लिये एक अधिचार है। ये मन्त्र हो सकता है वाजपेय अनुष्ठान के संबन्ध में बनाये गए हों; और ऐसा ही है कदाचित् १९. २५[5] भी। व्यापार और यात्रा का आपस में घना संवन्ध है: ३. १५[6] में एक व्यापारी 'वणिग् इन्द्र' से सफल यात्रा एवं प्रचुर धन-राशि के लिये प्रार्थना करता है। ७. ५५[7] में ६. ५५; ७. ८ मन्त्र प्रार्थना के रूप में अपनाये गये हैं; और अत्यधिक मिश्रित ५. ६[8] से इस बात का पता चल जाता है कि कोई यात्रा पर गया व्यक्ति यात्रा पर से वचकर लौटेगा या नहीं। यात्रा से लौटने पर ७. ६०[9] में घर से प्रार्थना है कि वह स्वामी के प्रति अपने अन्दर के भय को दूर कर दे; और खूब भरपूर बन जाय। विशेष रोचक है—६. १२८[10]! यह यात्रा पर जाने वाले को शुभाशुभ की सूचना देने वाले भविष्यवक्ता की प्रार्थना है (कौशिक ५०. १५, १६)[11]: जब नक्षत्रों ने शकधूम (जो जलते हुए गोवर के धुएँ से मौसम को वताता है) को अपना राजा बनाया, तब उन्होंने उसे सुन्दर मौसम दिया और कहा कि 'यह उस राज का होगा'। शकधूम मौलिक-रूप से

---

१. यथा॒ मांसं यथा॒ सुरा॑ यथा॒क्षा अ॑धिदे॒वने।
यथा॑ पुंसो वृ॑षण्य॒त स्त्रि॒यां नि॑ह॒न्यते॑ मनः॑ ॥
ए॒वा ते॑ अघ्न्ये॒ मनोऽधि॑ व॒त्से नि ह॑न्यताम् ॥ अ० ६।७०।१ इत्यादि

२. उच्छ्र॑यस्व ब॒हुर्भ॑व॒ स्वेन॒ मह॑सा यव ॥ अ० ६।१४१।१ ab इत्यादि

३. उदि॒तस्त्रयो॑ अ॒क्रमन्व्या॒घ्रः पुरु॑षो॒ वृक॑ः। अ० ४।३।१ ab

४. वात॑रंहा भव वाजिन्युज्यमा॑न। अ० ६।९२।१ a इत्यादि

५. अश्रा॑न्तस्य त्वा॒ मन॑सा युनज्मि प्रथ॒मस्य॑ च ॥ अ० १९।२५।१ ab

६. इन्द्र॑म॒हं व॒णिजं॑ चोदयामि। अ० ३।१५।१ a इत्यादि

७. ये ते॒ पन्था॒नोऽव॑ दि॒वो येभि॒र्विश्व॒मैर॑यः। अ० ७।५५।१ ab इत्यादि

८. अ० ५।६।१ दे० पृ० ९०, नो० १०

९. ऊर्जं॒ बिभ्र॑द्वसुवनिः सुमे॒धाः। अ० ७।६०।१ a इत्यादि

१०. श॒क॒धू॒मं न॒क्षत्रा॑णि॒ यद्राजा॑न॒मकु॑र्वत। भ॒द्रा॒हम॑स्मै॒ प्राय॑च्छन्नि॒दं रा॒ष्ट्रमसा॒दिति॑ ॥
अ० ६।१२८।१

११. उपोत्तमेन सुहृदो ब्राह्मणस्य शकृत्पिण्डान् पर्वस्वाधाय शकधूमं किमद्याहरिति पृच्छति।
कौ० सू० ५०।१५
भद्रं सुमङ्गलमिति'प्रतिपद्यते ॥ कौ० सू० ५०।१६

कोई मौसम बतानेवाला मानव था अथवा कोई पुराकल्पित खयाल इस बात का निश्चय करना आज कठिन है। इस देश में गृहस्थ एवं यात्री दोनों को सहमादेने वाले सर्प हैं : ६. ५६[1] आङ्गन के भीतर से सर्पों को भगादेनेवाला सूक्त है; जबकि ३. २६[2] और २७ तथाकथित 'दिग्युक्ते' (सूक्ते) घर से बाहर रहने पर चहुँ ओर सांपों के खतरे को दूर करने के लिये दिली प्रार्थना है। विशेष ध्यान देने योग्य है सर्पों के प्रतिकूल बड़ा सूक्त १०. ४[3], जो पेदु के श्वेत अश्व का, संभवतः सूर्य के अश्व का आह्वान करता है; व्यवहार में उस अप्राप्य अश्व के स्थान पर पैद्व नाम के कीड़े का प्रयोग होता है (कौशिक ३२. २०)[4]। सूक्त ७. ९[5] पूषन् के प्रति उक्त मन्त्रों के साथ, भूली हुई संपत्ति को प्राप्त करने का अभिचार है। अन्ततः तीन अथवा चार प्रार्थनाएँ द्यूत में सफलता के लिये हैं : ४. ३८. १-४; ७. ५०; ७. १०९[6] और संभवतः २. २ भी, जो खास तौर से एक अप्सरा के प्रति कही गई है। द्यूत का व्यसन यहाँ भी वैसा ही तीव्र है जैसा कि उस जुआरी के रुदन में (ऋ० १०. ३४)[7] जो अपना सुधार करना चाहता है।

इस वर्ग के अवशिष्ट सूक्त सामान्य स्वरूप के हैं और दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं: एक, स्वास्थ्य, एवं धनधान्य प्राप्त कराने वाले, दूसरे भय और मुसीबतों को दूर करने वाले। तीन सूक्त १. १५; २. २६[8] और १९. १ 'सांस्राव्य हविस्' पर केन्द्रित हैं, जो सभी धनों को प्राप्त करा देती है। सूक्त ४. १३, ७. ६९; १९. ९-११[9] 'शम्' और 'समृद्धि' के लिये प्रार्थनाएँ हैं। 'संनति' नाम का गद्य मन्त्र ४. ३९, जीवन की सभी अच्छी वस्तुओं के लिये एवं इच्छानुसार देवताओं को अपनी इच्छा के अनुकूल बनाने के लिये है; मन्त्र ७. २४[10] स्वयं देवताओं को समृद्धि प्रदान करने में लगा देने के लिये हैं। १. ३२[11] दिशाओं से सुख-संपत्ति के लिये प्रार्थना है। १. ३२ और ६-१०[12] सृष्ट्युत्पत्ति-विषयक मन्त्र हैं या इसी प्रकार

---

१. मा नो॑ दे॒वा अहि॑र्वधी॒त्सतो॑कान्त्स॒हपू॑रुषान्। अ० ६।५६।१ ab इत्यादि

२. ये॒ ३॒ स्थां स्थ प्राच्यां॑ दि॒शि हे॒तयो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो अ॒ग्निरिष॑वः। अ० ३।२६।१ ab

३. अहीनामपमा रथं॑ स्था॒णुमा॑रद॒र्थार्प॑त्। अ० १०।४।१ cd

४. इन्द्रस्य प्रथम इति तत्तकायेत्युक्तम्। कौ० सू० ३२।२०

५. प्रप॑थे प॒थाम॑जनिष्ट पू॒षा। अ० ७।९।१ a इत्यादि

६. अ० ४।३८।१ दे० पृ० ८५, नो० १

७. प्रा॒वे॒पा मा॑ बृह॒तो मा॑दयन्ति। ऋ० १०।३४।१ a इत्यादि

८. सं सं स्र॑वन्तु सिन्ध॑वः सं वाताः सं प॑तत्रिण॑ः।
इ॒मं य॒ज्ञं प्र॒दिवो॑ मे जुषन्तां संस्राव्ये॑ण ह॒विषा॑ जुहोमि॥ अ० १।१५।१ दे० पृ० १०९ इ०

९. अ० ४।१३ दे० पृ० १२०, नो० २; १२९।१३ इत्यादि

१०. यत्र॒ इन्द्रो॒ अख॑नद्यद॒ग्निर्विश्वे॑ दे॒वा म॒रुतो॒ यत्स्व॒र्काः। अ० ७।२४।१ ab

११. अ० १।३१।१ दे० पृ० १३४, नो० १

१२. पृ॒थि॒व्यै श्रोत्रा॑य॒ व॒न॒स्पति॑भ्यो॒ऽग्नयेऽधि॑पतये॒ स्वाहा॑। अ० ६।१०।१

के संदर्भ हैं। अग्नि के प्रति कहे गये ३. १६[1] (=ऋ० ७. ४१)[2] और ३. २०[3] (=ऋ०१०. १४१)[4] सूक्त समृद्धि के लिये प्रातःकालीन प्रार्थनाएँ हैं। १९. ५५[5] का उद्देश्य भी इसी प्रकार का है। १९. ३१[6] में उदुम्बर वृक्ष समृद्धि के लिये तावीज प्रस्तुत करता है। वैदिक देवता को एक एक करके संपत्ति देने के लिये बुलाया गया है। इन मन्त्रों में एवं अन्य संहिता ग्रन्थों के मन्त्रों में खासी समानता है; फलतः हो सकता है कि ये अथर्ववेद से बाहर किसी अन्य वेद में बनाए गए हों। १९. ५[7] में इन्द्र (= ऋ० ७. २७. ३); ७. ८२[8] और १९. ३ में अग्नि (तै० ब्रा० १. २. १. २१)[9], ६. ३५ और ३६[10] में अग्निवैश्वानर (आश्व० श्रौत सू० ८. ११. ४[11] शां० श्रौत सू० १०. ९. १७[12] सामवेद २; १०५८-६०)[13], ६. १ में सविता (आश्व० श्रौत सू० ८. १९)[14]; ७. १४[15] (सामवेद १. ४६४)[16] और ७. १५[17] (मै० सं० २. १०, ६)[18], १९. १२[19] में उषस् (ऋ० १०. १७२, ४ और ६. १७. १५)[20];

१. अ० ३।१६।१ दे० पृ० ९७, नो० २

२. ऋ० ७।४१।१ ab = अ० ३।१६।१ ab

३. अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः। अ० ३।२०।१ ab

४. अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव। ऋ० १०।१४१।१ ab

५. रात्रिंरात्रिमप्रयातं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै। अ० १९।५५।१

६. औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसे। अ० १९।३१।१ ab

७. इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनाम्। अ० १९।५।१ a = ऋ० ७।२७।३ a इत्यादि

८. अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ताम्॥ अ० ७।८२।१ इत्यादि

९. अग्ने सपत्नाँ अपबाधमानः। रायस्पोषमिषमूर्जमस्मासु धेहि।···तै० ब्रा० १।२।१।२१

१०. वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुप॥ अ० ६।३५।१ इत्यादि

११. वैश्वानरो न ऊतय आ प्रयातु परावतः।······आश्व० श्रौ० सू० ८।११।४

१२. वैश्वानरो न ऊतय।······शां० श्रौत सूत्र १०।९।१७

१३. स्तुहि देवं सवितारम्। अ० ६।१।१

१४. अभि त्यं देवं सवितारमोण्योरित्येका·····आ० श्रौत सूत्र ८।१।१९

१५. अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम्। अ० ७।१४।१ ab इत्यादि

१६. अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं रत्नधाममभिप्रियं मतिम्।···
सामवेद १।४६४

१७. तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम्। अ० ७।१५।१ ab

१८.···तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।···मै० सं० २।१०।६

१९. उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता। अ० १९।१२।१ ab =
ऋ० १०।१७२।४

२०. अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः। अ० १९।१२।१ cd =
ऋ० ६।१७।१५

७. ६८[1] में सरस्वती (मै० सं० ४. १२. ६)[2]; ७. ४०[3] में सरस्वती (तै० सं० ३. १. ११. ३)[4]; ७. ३९[5] में दैवी पक्षी (ऋ० १. १६४. ५२)[6] ७. ८५[7] में तार्क्ष्य अरिष्टनेमि (ऋ० १०. १७८. १)[8]; ६. ७. ४९[9] में देवपत्न्यः (ऋ० ५. ४६. ७' ८) चन्द्रमा के मूर्त रूपों 'अमावस्या' पौर्णमासी, दर्श (७. ७९. ८१)[10] तथा इनकी स्त्रियाँ अनुमति (७. २०)[11], सिनीवाली (७. ४६)[12] कुहू (७. ४७)[13] राका (७. ४८)[14] इन सभी की धन एवं संतति के लिये प्रार्थना की गई है। अत्यन्त बाद के १९. ७, ८[15] सूक्तों में नक्षत्रों से अनुग्रह के लिये प्रार्थना की गई है, और अन्त में ३. १०[16] एकाष्टका के प्रति कहा गया है, जो वर्ष के प्रारम्भ में आने वाला चान्द्र दिन है, अथवा जिसे वर्ष की पत्नी अथवा उसकी बराबरी का माना जाता है। एकाष्टका से वर्ष को हराभरा बनाने की प्रार्थना की गई है।

मुसीबत एवं खतरे को दूर करने के लिये निर्मित अभिचारों के सूक्त, और युद्ध-सूक्त कई बातों में आपस में संबद्ध दिखाई पड़ते हैं। जादू-टोना और युद्ध ये दो भय के प्रमुख कारण हैं। इन सूक्तों का सबसे विशिष्ट वर्ग है ४. ३३-२९, जो मृगाराणि या 'मृगारसूक्तानि' इस नाम से प्रसिद्ध हैं। निश्चय ही आथर्वणिकों ने इनका संकलन शुद्धि तथा दुर्भाग्य-नाश के लिये किया

---

१. सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु। अ० ७।६८।१ ab इत्यादि

२.…प्र ते महे सरस्वति सुभगे वाजिनीवति। सत्यवाचे भरे मतिम्।…मै० सं० ४।१२।६

३. तं सरस्वन्तमवसे हवामहे। अ० ७।४०।१ d

४. यस्य व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्य व्रतमुपतिष्ठन्त आपः। यस्य व्रते पुष्टिपतिर्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हुवेम।…तै० सं० ३।१।११।३

५. अ० ७।३९।१ दे० पृ० ९९, नो० ४

६. ऋ० १।१६४।५२ दे० पृ० ९९, नो० २

७. अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम। अ० ७।८५।१ cd

८. त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥ अ० ७।८५।१ = ऋ० १०।१७८।१

९. देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः। अ० ७।४९।१ a इत्यादि = ऋ० ५।४६।७

१०. यत्ते देवा अकृण्वन्भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा। अ० ७।७९।१ ab इत्यादि

११. अ० ७।२०।१ दे० पृ० १०८, नो० ११

१२. अ० ७।४६।१ दे० पृ० ७५ नो० ६

१३. कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवा जोहवीमि। अ० ७।४७।१ ab

१४. राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे। अ० ७।४८।१ a इत्यादि

१५. चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि। अ० १९।७।१

१६. एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम्। अ० ३।१०।५ cd
अ० ४।२३।१ (दे० पृ० ११०, नो० १०) इत्यादि

था; क्योंकि सभी मन्त्रों की टेक में 'मुञ्च अंहसः' (पाप से मुक्त करो) यह आता है। ये सूक्त अजुर्वेद के 'मृगारेष्टिः' का विस्तार हैं, और निश्चित रूप से गौण हैं (दे० प्र० ४५)। इनमें अधिकतर सूक्तों के प्रथम और अन्तिम मन्त्र यजुर्ग्रन्थों से लिये गये हैं: बीच में अन्य प्रकार के मन्त्र भर दिये गये हैं। केवल ४. २८[1] ही याजुषग्रन्थों में एकदम नहीं मिलता। इसका विषय भव और सर्व से प्रार्थना है, और यही बात इन्हें आथर्वण स्वरूप प्रदान कर देती है (तु० ११. २)[2]। मन्त्र ६ में 'कृत्याकृत्' और 'मूलकृत्', और मन्त्र ७ में किमीदिनी पर भी ध्यान दीजिये। 'मृगाराणि' से अत्यन्त मिलता हुआ और उसी टेक पर टिका हुआ ११. ६[3] है, जो आपत्ति से मुक्ति दिलाने के लिये देवताओं से प्रार्थना है। देवताओं की अच्छी खासी सूची, जो प्रायः याजुष ग्रन्थों के आधार पर बनाई गई है, प्रस्तुत सूक्त को एक विशेषता प्रदान करती है; तुलना कीजिये: १. २६; ६. ३, ४. ७; ७. ११२[4]। वह देवता, जिसके प्रति इस वर्ग की प्रार्थनाएँ आम तौर से कही गई हैं, रुद्र (शिव-अग्नि) है, जिसकी मूर्तियों के विविध नाम बताये गए हैं। ४. २८[5] के साथ साथ ११. २ रुद्र की भव और शर्व इन दो मूर्तियों के प्रति लम्बी प्रार्थना है, जो अपनी उग्रता के लिये प्रसिद्ध है; तुलना० ६. ९३ और ७. ८७[6] से भी। अन्य देवताओं तथा अन्य मूर्तियों की समय-समय पर पृथक् रूप से प्रार्थना की गई है: ६. ७६ में अग्नि सांतपन; ६. १३[7] में ब्राह्मणों (देव) क्षत्रियों, वैश्यों आदि द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले अस्त्रों से उत्पन्न मूर्तिमान् मृत्यु; ६. ७[8] में दैत्यनाशक सोम; ७. ६[9] (तुल० ७.७)[10] में विश्वरूपा तथा विश्वरक्षिका अदिति, परवर्ती सूक्त १९. ४७. ४९[11] (तु० ऋ० १०. १२७)[12] में दस्युओं, वन्य पशुओं, तथा पीड़ा देने वाले दानवों से बचा लेने वाली रात्रि;

---

१. अ० ४।२८।१ दे० पृ० १०५, नो० २

२. अ० ११।२।१ दे० पृ० १०६, नो० २

३. अ॒ग्निं ब्रू॑मो वन॒स्पती॒नोष॑धीरु॒त वी॒रुधः॑। अ० ११।६।१ ab

४. आ॒रे ३॒ सावस्मदस्तु हे॒तिर्दे॑वासो असत्। आ॒रे अश्मा॒ यमस्य॑थ॥ अ० १।२६।१ इत्यादि

५. अ० ४।२८।१ दे० पृ० १०५, नो० २ अ० ११।२।१ दे० पृ० १०६, नो० २

६. य॒मो मृ॒त्युर॑घमा॒रो नि॑र्ऋ॒थो ब॒भ्रुः श॒र्वोऽस्ता॒ नील॑शिखण्डः। अ० ६।९३।१ ab
यो अ॒ग्नौ रु॒द्रो यो अ॒प्स्व१॒न्तर्य ओष॑धीर्वी॒रुध॑ आवि॒वेश॑। अ० ७।८७।१ ab

७. अ० ६।१३।१ दे० पृ० १३४, नो० १

८. अ० ६।७।१ दे० पृ० १६३ नो० ४

९. अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्षमदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः। अ० ७।६।१ ab

१०. दितेः॑ पु॒त्राणा॒मदि॑तेरकार्ष॒मव॑ दे॒वानां॑ बृह॒ताम॑न॒र्मणा॑म्। अ० ७।७।१ ab

११. आ रा॑त्रि॒ पार्थि॑वं॒ रजः॑ पि॒तुर॑प्रायि॒ धाम॑भिः। अ० १९।४७।१ ab से सूक्त ४९ तक

१२. रात्री॒ व्य॑ख्यदा॒य॒ती पु॑रु॒त्रा दे॒व्य१॒क्षभिः॑। विश्वा॒ अधि॒ श्रियो॑ऽधित। ऋ० १०।१२७।१

और गद्य सूक्त ६. १०७[1] में विश्वजित्, त्रायमाणा, कल्याणी और सर्वविद् इन उथली किंतु फिर भी वैशिष्ट्यपूर्ण मूर्तियों से दुआ माँगी गई है। विपत्ति से मुक्ति (मुञ्च अंहसः) की भावना को उदात्त करने वाले मृगार—सूक्तों की भाँति अन्य सूक्त भी उसी प्रकार के फल के लिये विशिष्ट शब्दों का प्रयोग करते हैं : उदाहरण के लिये ६. ४०; १९. १४; और १५[2] का सार अभय शब्द में है। सूक्त ४. ३३[3] (ऋ० १. ९७)[4] अपनी टेक 'अप नः शोशुचदघम्' के तथा-कथित अपाघ-शब्द के साथ उचित स्थान पर है। गद्य-सूक्त ५. १०[5] अश्मवर्म 'प्रस्तर जैसी दृढ़ रक्षा' शब्द का पुनः पुन उल्लेख करता है और ये सूक्त इसी अर्थ में कौशिकसूत्र ५.१४ में प्रयुक्त है। अन्त में १. २७[6] में आये अभिचार का उल्लेख करना भी आवश्यक है, जिसमें विपत्ति से रक्षा केंचुली गिराने वाले सर्प की चमड़ी से निर्मित रक्षायन्त्र से की गई है; जहाँ कि उक्त परिस्थिति का सर्प बलहीन शत्रु का प्रतीक हो सकता है। अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी रक्षायन्त्र होमियोपैथिक हो सकता है। जलसूक्त (देखिये प्रकरण ५० अन्त) यद्यपि देखने में अत्यन्त सामान्य है, तथापि इस वर्ग के साथ उसका घनिष्ठ संबन्ध है।

५८. *वर्ग ६. पाप एवं अशुद्धि के प्रायश्चित्त के लिये अभिचार (प्रायश्चित्तानि)*— हिन्दुओं के पाप-संबन्धी विचार सचमुच बड़े जटिल हैं। न केवल यही कि पाप, देवताओं एवं विश्व के नियमों के विपरीत एक सज्ञान व्यक्तिक कर्म है, इसकी तो एक स्वतन्त्र, दबे-चुचे पदार्थ के रूप में सत्ता भी है, ऐसे पदार्थ के रूप में जो एक मनुष्य के जाने विना भी उसे लग जाता है। इस दृष्टि से पाप अथवा दुष्कर्म ('एनस्' 'पाप्मन्' आदि) एक शारीरिक रोग अथवा विकार का रूप ग्रहण कर लेते हैं; और यह माना गया है कि पाप भी एक मनुष्य से दूसरे पर, पिता से पुत्र पर, यहाँ तक कि देवताओं से मनुष्यों पर टाले जा सकते हैं। मनुष्यों की मुसीबतों में देवताओं के पापों का भी कम हाथ नहीं रहता; जैसा कि ६. १११. ३[7] में उन्माद को देवताओं के पापों से उत्पन्न हुआ बताया गया है। जिसे पाप लग जाता है (= पाप्मगृहीत) उसकी शक्ति को इन्द्र हर लेते हैं और वरुण उसे अपने

---

१. विश्वजित्त्रायमाणायै मा परि देहि।
त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम् ॥ अ० ६।१०७।१ इत्यादि

२. अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु। अ० ६।४०।१ ab इ०

३. अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्। अप नः शोशुचदघम्। अ० ४।३३।१

४. ऋ० १।९७।१ = अ० ४।३३।१ (देखो पिछला नोट)

५. अ० ५।१०।१ दे० पृ० १४२, नो० ३

६. अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः। अ० १।२७।१ ab इत्यादि

७. देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि। कृणोमि विद्वान्भेषजं यदानुन्मदितोऽसति ॥
अ० ६।१११।३

फंदे में फांस लेते हैं (तै० सं० २. ३. १३)। वैयक्तिक त्रुटियाँ अथवा आपत्तियाँ, दुःस्वप्न, पराये आचरण की निन्दा, घर के आस-पास अथवा इधर-उधर प्रकृति में अमङ्गलकारी घटनाएँ, ये सभी व्यक्तिगत उत्पीडन एवं पाप से संवद्ध माने गये हैं। इन सबके लिये संशोधन या मार्जन (प्रायश्चित्ति' या प्रायश्चित्त) अपेक्षित है। ऋग्वेद में तो इन शब्दों में से एक भी नहीं मिलता; और अथर्ववेद १४. १. ३०[1] में केवल प्रायश्चित्त शब्द एक वार आया है, किंतु प्रायश्चित्त-संवन्धी मंत्र साहित्य में सामान्य हैं। इसके अलावा श्रौत-ग्रन्थों में यज्ञसंवन्धी त्रुटियों के वारे में, पाप, अपराध, एवं दुर्भाग्यग्रस्त मनुष्य की 'काम्येष्टयः' के प्रसङ्ग में; धर्मग्रन्थों के प्रायश्चित्त-प्रकरणों में; गृह्यसूत्रों में भी जहाँ कि वे वहुतायत से नहीं मिलते; और विधान ग्रन्थों में वहुत से अनुष्ठानों द्वारा इनकी पुष्टि की गई है। प्रायश्चित्त का एक विशेष प्रकार, जो नामतः शकुनों 'अद्भुत' के साथ संवद्ध है, स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है, और साहित्य में इसने एक विशेष विस्तृत वर्ग का रूप धारण कर लिया है। इस प्रकार की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है: कौशिकसूत्र का १३ वाँ काण्ड और तथाकथित अद्भुत-ब्राह्मण (षड्विंश ब्राह्मण ५)।

अथर्ववेद के ४० से भी अधिक सूक्तों का इसी वर्ग के विषयों के साथ संवन्ध है, और उनकी पर्याप्त संख्या का इस विषय की एक शाखा के साथ सीमित संवन्ध है (६. ११०. १२१)[2]। यह वात ध्यान देने योग्य है कि ये सूक्त ६. ११४[3] और संभवतः १९. ५९[4] को छोड़कर, स्पष्टरूप में यज्ञ-संवन्धी त्रुटियों के प्रायश्चित्त का वर्णन नहीं करते। परवर्ती गोपथब्राह्मण, जिसकी राय में यज्ञ का चतुर्थ ऋत्विक् ब्रह्मा अथर्ववेदी ही होना चाहिये, वार-वार कहता है कि ब्रह्मा यज्ञों में हो जाने वाली त्रुटियों का शोधन करता है, उनका वह 'संधान' करता है। तथापि याज्ञिक अनुष्ठानों के साथ संवद्ध प्रायश्चित्त मन्त्रों के—जैसे कि वै० सू० १२. ८. ९[5] गो० ब्रा० १. २. ७[6]—इन ग्रन्थों ने सकल पाठ में उद्धरण

---

१. प्रायश्चित्तिं यो अध्येति। अ० १४।१।३० c

२. प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि। अ० ६।११०।१ ab इत्यादि

३. यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्। आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥
अ० ६।११४।१

४. त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः। अ० १९।५९।१

५. यदत्रापि मधोरहं निरष्टविषमस्मृतम्। अग्निश्च तत्सविता च पुनर्मे जठरे धत्तामिति
जाम्बीलस्कन्दन आत्मानमनु मन्त्रयते ॥ वै० सू० १२।८
यदत्रापि रसस्य मे परा पपाताम्रृतम्।
तदिहोपह्वयामहे तन्म आप्यायतां पुनरिति रेतसः ॥ वै० सू० १२।९

६. नोपरिशायी स्यान्न गायनो न नर्तनो न सरणो……गो० ब्रा० १।२।७

दिये हैं; ये मन्त्र संहिता में नहीं मिलते जिसका इस विषय में तथा अन्य कई विषयों में श्रौत अनुष्ठानों के क्षेत्र के साथ नाम के लिये ही संपर्क दीख पड़ता है; यद्यपि यह सही है कि इनका नोटिस लेने में भी यह सर्वथा नहीं चूक जाती (देखिये प्र० ६०)। और यह बात कि याज्ञिक प्रायश्चित्त वाद को अथर्व-शाखाओं में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बन गये थे हमें वैतान के छः अप्रकाशित अध्यायों के देखने से मालूम पड़ जाती है। अधिकतर सूक्त प्रायश्चित्त के लिये तथा उसके परिणामभूत पाप-मोचन के लिये कहे गये हैं। इनमें असूमन दुष्कर्मों की एक सूची सामने आती है, किंतु यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती कि कौन से दुष्कर्म से आदमी का विवेक नष्ट हो जाता है। प्रायः यही अथवा इनसे मिलते-जुलते मन्त्र अन्य संहिताओं में मिलते हैं, विशेषतः तै० आ० २. ३. ६[1] में। इस प्रकार ६. ४४[2] (तुलना ऋ० १०. १६४)[3] 'मानस पाप' का प्रायश्चित्त है; ६. २६[4] 'पाप्मन्' के प्रतिकूल कहा गया है, जिसे 'सहस्र आँखों वाला अविनश्वर' बताया गया है। ६. ११५[5] 'एनस्' कहलाने वाले पाप के प्रतिकूल है। ६. ११९[6] और १२२ मुक्ति तथा अन्तिमरूप में स्वर्ग-प्राप्ति के लिये 'अग्नि' वैश्वानर से प्रार्थनाएँ हैं। ६. १२१[7] का उद्देश्य वरुण के पाप-पाशों से मुक्ति दिलाना है। इन सूक्तों में से तीन में ६. ११७. ११९[8] ऋण शब्द की रट लगाई गई हैं, जिससे अभिप्रेत है लेकर न लौटाया गया धन। दो अप्सराओं के प्रति कहे गये ६. ११८ सूक्त में द्यूत संबन्धी ऋणों का संकेत मिलता है। सूक्त ६. ११६[9] में अभिचार करते-करते थक गये व्यक्ति के मनस्ताप का प्रदर्शन है, 'यद्यामं चक्रुर्निखनन्तः'। पाप एवं खोटे भाग्य (निर्ऋति) के बीच की सीमा-रेखा नहीं के बराबर है; क्योंकि ६. ६३[10] और ८४ जैसे सूक्त शैली एवं विचारों में प्रथम कोटि के सूक्तों से किसी बात में अलग नहीं दीख पड़ते। इसी प्रकार बाहर से सिर—पड़े अभिशाप एवं आन्तरिक पाप ७. ६५[11] और ११२ में आपस में मिल से गये हैं; अपेक्षाकृत अधिक अस्पष्ट

---

१. तच्छं योरावृणीमहे। गातुं यज्ञाय। गातु यज्ञपतये।···तै० आ० २।३।१ से अनु० ६ तक

२. परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। अ० ६।४५।१ ab इत्यादि

३. अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर। ऋ० १०।१६४।१ ab इत्यादि

४. अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन्मृडयासि नः। अ० ६।२६।१ ab इत्यादि

५. यद्विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्। अ० ६।११५।१ ab इत्यादि

६. यददीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि। अ० ६।११९।१ ab इत्यादि सूक्त

७. विषाणा पाशान्वि ष्याध्यस्मद्य उत्तमा अधमा वारुणा ये। अ० ६।१२१।१ ab

८. यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः। अ० ६।११८।१ ab इत्यादि

९. यद्यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया। अ० ६।११६।१ ab

१०. यत्ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध। अ० ६।६३।१ a

११. प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ। अ० ७।६५।१ ab

सूक्त ७. ४३[1] भी, जो मानहानि के अभियोग को दूर करने की क्रिया में अपनाया गया कौशिक सूत्र ४६. १[2] है, इसी प्रकार का कहा जा सकता है। सामान्यतया पवित्र करने वाले अभिचारों ६. १९; ५१[3] में तथा ६२ (ऊपर प्र० ५६) में भी कुछ ऐसी बातें मिल जाती हैं जो इन्हें इस क्षेत्र के समीप ला बिठाती हैं। इसके विपरीत दूसरी ओर वे प्रायश्चित्त हैं, जिनमें शोधे जाने वाले पाप का साफ शब्दों में नाम लिया गया है। ६. ११४[4] यज्ञ-संबन्धी त्रुटियों को दूर करने का प्रायश्चित्त-सूक्त प्रतीत होता है (तुल० १९. ५९)[5]। ७. १०६[6] (धार्मिक कृत्यों में) में विस्मृति के कारण हुए पापों को क्षमा करने के लिये अग्नि से प्रार्थना है। १९. ४०[7] सोम-यज्ञ में दीक्षित हुए व्यक्ति के क्रोध करने पर प्रायश्चित्त है। ७. ६६ और ६७[8] पावन ज्ञान को (ब्राह्मणम्) जो कदाचित् पाप के कारण विस्मृत हो गया था, फिर से पाने के लिये प्रार्थनाएँ प्रतीत होते हैं। ७. १०२[9] में खड़े होकर लघु-शङ्का करने का प्रायश्चित्त है। देखो १३. १-५६[10]। अस्पष्ट एवं मिश्रित रचना वाला सूक्त ६. ४९[11], कौशिक सूत्र ४६. १४[12], ब्रह्मचारी द्वारा अपने गुरु की मृत्यु पर पढ़ा जाता है; जबकि आप० श्रौत सूत्र १४. २९. ३ प्रथम दो मन्त्रों का ऐसे दीक्षित के लिये विधान करता है, जो अवकीर्णी बन गया है (यदि दीक्षितोऽवकिरेत्)। यह बात कि ब्राह्मणों द्वारा दान ग्रहण करना समय-समय पर ऐसा कार्य माना गया है, जिसके लिये तपस्या की आवश्यकता पड़ती है, (३. २९. ७, ८; ६. ७१; ७. ५७) ऊपर दिखा दी गयी है (प्र०५६)। इसी बात से

---

१. शिवास्त एका अशिवास्त एकाः । अ० ७।४३।१ a इत्यादि

२. उतामृतासुः शिवास्त इत्यभ्याख्याताय प्रयच्छति ॥ कौशिक सूत्र ४६।१

३. वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अतिद्रुतः ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ अ० ६।५१।१ दे० पृ० १६४ नो० ३

४. अ० ६।११४।१ दे० पृ० ९, नो० ३

५. त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा ।
त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥ अ० १९।५९।१

६. यदस्मृति चकृम किं चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः । अ० ७।१०६।१ ab

७. यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वन्तं मन्युमन्तं जगाम । अ० १९।४०।१ ab

८. पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥ अ० ७।६७।१

९. नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे । अ० ७।१०२।१ ab इत्यादि

१०. यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति । अ० १३।१।५६ ab

११. अ० ६।४९।१ दे० पृ० ८०

१२. नहि ते अग्ने तन्व इति ब्रह्मचार्याचार्यस्यादहन उपसमाधाय त्रिः परिक्रम्य पुरोडाशं जुहोति ॥ कौशिक सूत्र ४६।१४

संवद्ध प्रायश्चित्त सूक्त २. ३५[1] है (तै० सं० ३. २. ८. ३[2], मै० स० २. ३. ८)[3]; यह प्रायश्चित्त किसी के वैध भोजनांश को ले लेने के लिये हैं। इस प्रकार तै० संहिता में, सत्र में, जब सभी भाग लेने वाले दक्षिणा के अधिकारी होते हैं, पर दक्षिणा प्राप्त नहीं कर पाते तब इसका विधान बताया गया है। केवलादिन्' के विषय में भी मन्त्र देखिये, जिसका भोजन व्यर्थ (मोघम् अन्नम् तै० ब्रा० २. ८. ८. ३)[4] एवं पापमय (अघ, मनु० ३. ११८)[5] है। इस सूक्त को कौशिक सूत्र ३८. २२ में समुदाय में रह कर अकेला खाने वाला पढ़ता है जिससे उसे न खाने वालों की कुदृष्टि न बींध दे। पशुओं को मारना हिन्दुओं की दृष्टि में शुरू से ही पाप रहा है; फलतः प्रत्येक रक्तपाती यज्ञ इस भावना से व्याप्त है कि उचित पशु-बलि, पशु को कष्ट दिये बिना और वह भी उसकी राय से दी जानी उचित है। सूक्त २. ३४[6] उस यज्ञ की शान्ति के लिये है, जिसमें पशु को मृत्यु से छुड़ाया गया समझा जाता है और जो निष्पाप याजक का स्वर्ग में अनुगमन करता है। प्राचीन भारत के बड़े अपराधों में से एक जो अपकारक तथा अपकृत दोनों को समान क्षति पहुँचाता है, जीवन के पवित्र अनुष्ठानों में छोटे भाई से आगे चलना है; खास तौर से विवाह में (परिविद्); दो सूक्त ६. ११२ और ११३[7] इस पाप के प्रायश्चित्त के लिये हैं। अन्य पापों के समान इस पाप को भी देवताओं से उत्पन्न हुआ समझा गया है, जिन्होंने इसे अपने बकरे 'त्रित' देव पर डाल दिया था और जो वहाँ से चलकर मनुष्यों पर आ गया था।

किंतु पहले कहा जा चुका है कि प्रायश्चित्त की भावना उन आकस्मिक घटनाओं पर भी लागू है, जिनमें व्यक्तिगत उत्तरदायित्व न तो हो सकता है और न होता ही है। ऐसे प्रसङ्गों में प्रायश्चित्त अमाङ्गलिक स्थितियों एवं घटनाओं के शोधन का रूप धारण कर लेता है और इस प्रकार 'भेषज' (उपचार) के क्षेत्र में सरक जाता है। निर्ऋति (दुर्भाग्य)—देवी की तो

---

१. ये भ॒क्षय॑न्तो॒ न वसू॑न्यानृ॒धुर्यान॒ग्नयो॑ अ॒न्वत॑प्यन्त॒ धिष्ण्या॑ः । अ० २।३५।१ ab इत्यादि

२. प्र मु॑ञ्चा स्व॒स्तये॒ ये भ॒क्षय॑न्तो॒ न वसू॑न्यानृ॒हुः । यान॒ग्नयो॒ऽन्वत॑प्यन्त॒ धिष्णि॑या······ तै० सं० ३।२।८।३

३.···यें भ॒क्षय॒न्तो॒ नें वसू॒न्यान॒शुर्यान॒ग्नयो॒ अ॒न्वत॒प्यन्त धिंष्ण्या॒ः ।···मै० सं० २।३।८

४.···मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः ।···तै० ब्रा० २।८।८।३

५. अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् । यज्ञाशिष्टासनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ मनु० ३।११८ ab

६. य ईशे॑ पशु॒पति॑ः पशू॒नां चतु॑ष्पदामु॒त यो द्वि॒पदा॑म् । अ० २।३४।१ इत्यादि

७. मा ज्ये॒ष्ठं व॑धीद॒यम॑ग्न ए॒षां मू॑ल॒बर्ह॑णा॒त्परि॑ पाह्येनम् । अ० ६।११२।१ ab
तृ॒ते दे॒वा अ॑मृजतै॒तदेन॑स्तृ॒त ए॑नं मनु॒ष्ये॑षु ममृजे । अ० ६।११३।१ ab इत्यादि

कल्पना (६. ६३ और ८४) ही इन विचारों पर आधृत है। इस प्रकार ७. ११५[1] 'पापी लक्ष्मीः' के निःसारण का और 'पुण्या लक्ष्मीः' की प्राप्ति का अभिचार है (तुल० १. १८[2])। दुर्बोध मन्त्र ६. ३०. २, ३[3] कौशिकसूत्र ३१. ८[4] उस व्यक्ति के लिये विहित है, जिसके केश शमी द्वारा काट लिये गये हैं, और जो दुर्लक्षणों से भरा पड़ा है (शमीलूनपापलक्षणयोः)। मन्त्र २ मदिरापान का सूचक है, जो 'पापलक्षण' के क्षेत्र में आ सकता है : इस अवस्था में 'शमी' मदिरापान का अथवा उस व्यक्ति के मदिरापान के बाद बिखरे बालों वाले रूप का कारण होगा, जिसके केश 'शमी' के बने अस्त्र द्वारा काट लिये गये हैं। मन्त्र ३ बाल काटने के उक्त अस्त्र के प्रति प्रतीत होता है। इससे केशों को हानि न पहुँचाने की उसी प्रकार प्रार्थना की गई है जैसे अन्यत्र क्षुर से प्रार्थना की गई है (८. २. १७)[5]। इन दो मन्त्रों का आमने सामने आना, हो सकता है कि केवल संग्रह में इस प्रकार पढ़े जाने का परिणाम हो, जिसमें शमी और केश दोनों आये हैं, किंतु छन्द तो इन दोनों के अलग अलग हैं। ६. ११०[6] का विषय भी वैयक्तिक दोषों का प्रायश्चित्त और बुरे नक्षत्र में उत्पन्न हुए शिशु के लिये प्रायश्चित्त है; और ६. १४०[7] में उलटी-टेढ़ी निकली दंतली के लिये प्रायश्चित्त है (दे० प्र० ५३ अन्त)। इसी प्रकार यमलों की उत्पत्ति अथवा रेवड़ में वन्ध्या गौ का दिखाई देना भी (३. २८; १२. ४) विशेष प्रकार के प्रायश्चित्त की अपेक्षा रखते हैं (प्र० ५६)। ये सभी अद्भुत में समाविष्ट हैं। इसी प्रकार के हैं तथाकथित शकुन-सूक्त, जो कबूतरों, उल्लुओं तथा अन्य काले पक्षियों के प्रतिकूल अभिचार हैं, जिनका दिखाई पड़ना या छू लेना पाप माना जाता है : ६. २७–२९[8] (ऋ. १०. १६५)[9] और ७. ६४[10]। इसी प्रकार ६. १२४[11] का उच्चारण उस व्यक्ति को करना होता है जिस पर नागहानी ऊपर से कोई चीज गिर

१. अ० ७।११५।१ दे० पृ० ७९, नो० ३

२. अ० १।१८।१ दे० पृ० ७९, नो० ४

३. यस्ते मदोऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि। अ० ६।३०।२ ab इत्यादि

४. यस्ते मद इति शमीलूनपापलक्षणयोः शमीशम्याकेनाभ्युद्य वापयति। कौ० सू० ३१।१

५. यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु शुम्भन्मुखं मा न आयुः प्र मोषीः। अ० ८।२।१७

६. अ० ६।११०।१ देखो ऊपर

७. यौ व्याघ्राववरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च।
तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः॥ अ० ६।१४०।१ इत्यादि

८. अ० ६।२७।१ इत्यादि दे० पृ० ९८, नो० १२

९. अ० ६।२७।१ = ऋ० १०।१६५।१ इत्यादि पृ० ९८, नो० १२

१०. इदं यत्कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत्। अ० ७।६४।१ ab इत्यादि

११. दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद्रसेन। अ० ६।१२४।१ ab

जाय (आकाश से जल अथवा वृक्ष से फल) तु० तै० सं० ३. १. १. २[1]। अन्त में दुःस्वप्नों एवं स्वप्नकल्पित भयों के विरुद्ध प्रयुक्त अभिचार भी इसी क्षेत्र में आ जाते हैं : ६. ४६; ७. २३; १००; १०१; १६. ५; १९.५६; ५७[2]; तथा इसी प्रकार के अन्य मन्त्र भी (यथा १०. ३. ३) जो सारी संहिता में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।

५६. *वर्ग १०. सर्ग-संबन्धी एवं आध्यात्मिक सूक्त*—अथर्ववेद में सृष्ट्युत्पत्ति-संबन्धी एवं आध्यात्मिक सूक्तों का, जो अभिचार-मन्त्रों से सुतरां पृथक् प्रकृतिके हैं, पर्याप्त संख्या में आना आसानी से समझ में नहीं आता; क्योंकि सामान्य ग्रामीण व्यक्ति के लिये इनकी उपयोगिता नहीं होती, और पुरोहित भी, अपने पद पर बैठकर राज-कर्माणि के सामान्य कार्यक्षेत्र में परिसीमित हो जाने के कारण इनके प्रयोग से उपरत हो सकता है। यद्यपि इस प्रकार के मन्त्र, प्रथम कुछ काण्डों के सूक्तों को छोड़कर (२. १; ४. १, २; २. ७. १, २)[3] काण्ड ८-१९ में ही अधिकतर आते हैं, तथापि इन सभी को बाद में बना बताने के लिये उचित साक्ष्य नहीं मिल पाता। हो न हो संग्रहकर्ताओं की सुविधा के अनुसार इन्हें, इनके प्रसार के कारण प्रथम सात काण्डों से अलग रखा गया है। फिर भी यह कहना अत्युक्ति न होगी कि इनमें से कुछ, जैसे कि दीर्घतमस् ब्रह्मोद्य ९.९ और १०[4] (ऋ० १. १६४) उस समय ग्रहण किये गये थे जब कि अथर्वाणः और अङ्गिरसः के अनुयायियों ने इस विचार के साथ अपनी सहमति प्रकट कर दी थी कि वैदिक ऋत्विजों में उनका वास्तविक स्थान 'ब्रह्मा' का था और यह उस वैदिक त्रयी से भिन्न था, जिसमें उनके लिये अपना कोई स्थान न था। दूसरे शब्दों में वह चेतना, जिसने बाद में अथर्वन् को 'ब्रह्म-वेद' यह नाम दिलाया, कुछ सीमा तक ऐसी रचनाओं की उत्पत्ति का कारण रही होगी और इस प्रकार

१.···यद्वै दीक्षितमभिवर्षति दिव्या आपोऽशान्ता ओजो बलं दीक्षाम् । तै० सं० ३।१।१।२

२. यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न ।
वरुणानी ते माता यमः पितारुर्नामासि ॥ अ० ६।४६।१
दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः ।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ अ० ७।२३।१ इत्यादि
यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान्प्र युनक्षि धीरः । अ० १९।५६।१ ab
यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति ।
एवा दुष्वप्न्यं सर्वमप्रिये सं नयामसि ॥ अ० १९।५७।१ इत्यादि

३. वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् । अ० २।१।१ ab इत्यादि

४. अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
अ० ९।९।१ ab = ऋ० १।१६४।१ ab इत्यादि
असन्मन्द्रयाः समभवत्तद्यामेति महद्व्यचः ।

की विचार-धारा को बल प्रदान करती रही होगी। किंतु यह मान लेना गलत होगा कि आध्यात्मिक विचारधारा अथर्ववेद के लिये एक बाह्य वस्तु है, अथवा उसकी इस वेद से तालमेल नहीं बैठती। इसके विपरीत इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि आध्यात्मिक विचारों के सूक्त इस संग्रह के अन्तस्तल में अपना स्थान रखते रहे हैं। अपामार्ग वनस्पति से संवद्ध अभिचार ४. १९[1] का छठा मन्त्र इस प्रकार है: 'असत्' पृथ्वी से उत्पन्न हुआ; वह दीर्घ विस्तार के साथ स्वर्ग को जाता है। वहाँ से वह वाष्प को फैलाते हुए (अभिचारों के) निर्माता के प्रतिकूल लौटेगा।' ९. २[2] एक साधारण यातु-संवन्धी अभिचार में शत्रु-विनाशक के रूप में मूर्तिमान् कामदेव को उपस्थित करता है, जो अपने मौलिक रूप में अग्नि से भिन्न नहीं हैं। इस काम को हम उस काम से पूर्ण-रूपेण पृथक् नहीं कर सकते, जो मन का प्रथम बीज है, जो 'एक' से उत्पन्न हुआ था, जब यह सृजनात्मकशक्ति (तपस्) द्वारा अस्तित्व में आया था: ऋ० १०. १२९. ४[3] (तुल० अथ० १९. ५२)[4]। रोहित के प्रति कहे गये इससे भी कहीं अधिक जटिल सूक्त (काण्ड १३) में आध्यात्मिक विचारों एवं भौतिक उद्देश्यों का मिश्रण हो गया है। इस काण्ड के तृतीय सूक्त में सूर्य-तत्त्व को सर्वोत्तम आध्यात्मिक शैली में उभारा गया है, प्रायः उन्हीं मन्त्रों के द्वारा जो इस शैली के हैं, किंतु टेक जिनकी इस सूक्त को ब्राह्मणों की अवध्यता (अजेयता) के सिद्धान्त के पोषण में लगा देती है: रोहित यहाँ एक क्रोधी देवता है, जो ब्राह्मणों को सताने वाले व्यक्तियों को दण्ड देता है (यो ब्रह्माणं जिनाति); और इस प्रकार के आततायी व्यक्ति 'आगस्' का विषय बन जाते हैं। या लीजिये प्रथम सूक्त के प्रथम भाग को (१३. १. १–३५),[5] जिसमें श्लेषों द्वारा पार्थिव रोहित, अर्थात् राजा का दैवी रोहित से ऐक्य दिखाया गया है। राजा और उसकी रानी (महिषी) को रूपकीय शैली में 'रोहित' एवं उनकी पत्नी 'रोहिणी' के रूप में उपस्थित किया गया है। दोनों का मिश्रण इतना व्यापक है कि कभी-कभी यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि यहाँ रचयिता के मन में कौन सा है, राजा या देवता। अथर्ववेद के सचेत अध्येता को यहाँ जगह-जगह दर्शनशास्त्र से वाक्छल होता दीख पड़ेगा। इस वेद में दार्शनिक विचार अपने बीज-रूप में पहुँच गये हैं; वे अर्ध पृथक्, मिश्रित, एवं जटिल बन गये हैं और अपने असली क्षेत्र से अत्यन्त दूर, अभिचार-जन्य प्रभाव को उत्पन्न करने की इच्छा से, अथवा किसी देवता या याज्ञिक पदार्थ को उसके असली क्षेत्र से बहुत ऊँचा उठाने

१. तद्वै ततो विधूपायत्प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु ॥ अ० ४।१९।६ पृ० ७।२
२. अ० ९।२।१ दे० पृ० १४०, नो० ८
३. ऋ० १०।१२९।४ दे० पृ० १४०, नो० ९
४. अ० १९।५२।१ दे० पृ० १४०, नो० १०
५. अ० १३।१।१ दे० पृ० ११४, नो० १७

की इच्छा से बदल दिये गये हैं: यथा ७. २०. ६; १८. ४. ५, १९. ३२. ९[1]। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है (प्र० ५६) इस भ्रामक तथा आध्यात्मिक दार्शनिकता के सबसे प्रमुख माध्यम इस वेद में आने वाले असंख्य दक्षिणा-सूक्त और 'सव'-सूक्त हैं। दक्षिणा में दिया गया प्रत्येक पशु स्वयं एक पशु है और प्रथम कोटि की सृष्ट्युत्पादिका शक्ति भी है। बकरे, अज (४. १४; ९. ५)[2] की दक्षिणा रहस्यात्मक श्लेषपूर्ण विशेषणों के साथ 'अज एकपाद्' के रूप में उपस्थित की गयी है। ९. ४[3] में बैल (=ऋषभ) को अत्यधिक उच्च स्थान दिया गया है: 'वह अपने शरीर में सभी स्वरूपों को धारण करता है; सृष्टि के आरम्भ में वह जल का दूसरा रूप है' (मन्त्र १, २)[4]। किंतु अन्त में यह और कुछ नहीं अपितु एक साधारण यज्ञिय वृषभ ठहरता है। इसी प्रकार वशा १०. १०[5] के प्रकरण में उपमा एकता के उस तीव्र, असंबद्ध और अस्थिर रूप पर जा टिकी है कि मन्त्र १ की सहायता से यह मान लेना ही अच्छा होगा कि यह वशा खुर और पूँछ वाली एक गौ है। यत्रतत्र, अनड्वान् के प्रति कहे गये सूक्त ४. ११[6] में भी, हमें यह संदेह बना रहता है कि हमारे सामने आध्यात्मिक सूक्त है, अथवा एक 'सव' (कौशिक ६६. १२)[7]। इसी प्रकार का ब्रह्मौदन है, जो ब्राह्मण के लिये पकाया गया मन्थ है, और जिसे यहाँ आध्यात्मिकता का माध्यम बना कर पेश किया गया है: ४. ३४ और ३५[8]; तु० ११. ३. २१[9]। ब्रह्मौदन का बलात् सर्वोच्च उत्पादक एवं रक्षक तत्त्व से ऐक्य स्थापित किया गया है: ४. ३५. ३, १०[10]। विचारों के इसी क्षेत्र में ब्रह्मौदन के अवशेष 'उच्छिष्ट' के प्रति कहा गया सूक्त ११. ७[11] है, जो क्षणभर के लिये सर्वोच्च दैवी तत्त्वों को अत्यन्त महत्त्वहीन याज्ञिक पदार्थ के ऊपर आरोपित कर देता है। यह याद रखना अच्छा होगा कि विचारों का दूसरा उच्चवर्ग, अर्थात् नैतिक वर्ग भी इसी प्रकार सामान्य कार्यों के लिये

१. अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत्तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति। अ० ७।२०।६ ab
जुहूर्दाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम्। अ० १८।४।५ ab
यो जायमानः पृथिवीमदृंहद्यो अस्तभ्नादन्तरिक्षं दिवं च। अ० १९।३२।९ ab

२. अ० ४।१४।१ दे० पृ० १३१ इत्यादि

३. साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान् विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत्। अ० ९।४।१

४. अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव। अ० ९।४।२ a

५. नमस्ते जायमानायै जातायां उत ते नमः। अ० १०।१०।१ ab इत्यादि

६. अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान्दाधारोर्व१न्तरिक्षम्। अ० ४।११।१ ab इत्यादि

७. अनड्वानित्यनड्वाहम्॥ कौशिक सूत्र ६६।१२

८. ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य। अ० ४।३४।१ ab इत्यादि

९. यस्य देवा अकल्पन्तोच्छिष्टे षडशीतयः। अ० ११।३।२१

१०. यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसम्। अ० ४।३५।३ a

११. उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः। अ० ११।७।१ ab इत्यादि

प्रयुक्त है। वरुण के प्रति कहा गया सुन्दर सूक्त ४. १६[1], जो प्रत्यक्षतः अथर्ववेद का अपना मौलिक है, वस्तुतः यातुक्रिया-संबन्धी एक अभिचार है और इसका असली आशय अन्त में पहुंच कर स्पष्ट हो जाता है।

कहना न होगा कि अथर्ववेदीय सूक्तों के इस वर्ग की अपनी एक मौलिकता है, जो उन्हें एक हद तक ऋग्वेदादि संहिताओं के आध्यात्मिक मन्त्रों से और औपनिषद वाक्यों से पृथक् करती है। और यदि हम यह कहें कि अथर्वसूक्तों में अपने समानान्तर ऋग्वेदीय सूक्तोंकी अपेक्षा अधिक आडम्बर, अधिक अनौचित्य, दिखावटी गम्भीरता तथा अव्यक्त के विषय में अधिक उथले विवरण मिलते हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी। प्रतीत होता है कि अध्यात्म-विषय-संबन्धी विशेषण, इस वेद में छोटे-मोटे कपोत-नीड़ों से निकल आये हैं और सामने आये विषय पर जड़ दिये गये हैं। कहीं-कहीं सारा प्रयत्न एक नाम के स्थान पर दूसरा नाम रखने के लिये किया गया मालूम पड़ता है। एक ही पाद एवं एक ही मन्त्र का कल्पना के विभिन्न विषयों पर प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिये तुलना कीजिये रोहित मन्त्र, अथर्व० १३. १. ४५. ५५[2] की पुरुष-सूक्त ऋ० १०. ९२[3] = अथर्व० १९. ६[4] से; अथवा इससे भी अधिक सुस्पष्ट साम्य के लिये ४. ११. १[5]=१०. ७. ३५[6] से। और संख्या एवं विभिन्नता की दृष्टि से इन विषयों में बढ़ती होती गई है। अथर्ववेद और ऋग्वेद दोनों में दीर्घतमस् के ब्रह्मोद्य-मन्त्र ९.९, १०[7] (=ऋ० १. १६४) समान हैं। इनमें पहेली के रूप में विश्व की नैसर्गिक एकता के सिद्धान्त, इसके ऋत और यज्ञ के स्वरूप उपस्थित किये गये हैं। इनके मन्त्रों का वर्गों में विभाजन भी विषय के अनुसार हुआ है। दूसरा भाग (अथर्व० ९. १० = ऋ० १. १६४. २३) अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यज्ञ एवं इसके अङ्गों (छन्द, ऋत्विज्, पवित्र वाच्) का विश्व के नियम के साथ के संबन्ध दिखाता है, जब कि पहले भाग में एक ही अद्वैत सत्ता की विश्व के रूप में अभिव्यक्ति दिखाई गई है। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त, ऋ० १०. ९० अथर्ववेद में भी १९. ६ में (दूसरे वेदों में भी) कुछ पाठान्तरों के साथ मिलता है, जो पाठान्तर इसके अर्थ को सरल बना देते हैं और इसकी परवर्तिता पर संकेत करते हैं। अथर्ववेद के दो स्वतन्त्र सूक्तों (१०. २;

---

१. अ० ४।१६।१ दे० पृ० ७०, नो० १

२. सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति। अ० १३।१।४५ ab इत्यादि

३. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। ऋ० १०।९०।१ ab इत्यादि

४. सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। अ० १९।६।१ ab इत्यादि

५. अ० ४।११।१ दे० पृ० १८०, नो० ६

६. स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे। अ० १०।७।३५ a इत्यादि

७. यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितम्। अ० ९।१०।१ a इत्यादि=ऋ० १।१६४।२३ a इत्यादि

११. ८[1]) का उद्भव अंशतः पुरुष-सूक्त के संकेतों से हुआ है। १०. २ रहस्यात्मक अनुशीलन है, जो प्रश्न (क) के रूप में है और यहाँ सर्ग के हेतु पुरुष की उत्पत्ति, स्वरूप, उसके शरीर के अङ्गों और उसके अन्य शारीरिक स्वरूप के विषय में अनूठा चिन्तन है। सच पूछो तो अथर्ववेद ने इस आदि-पुरुष की प्राकृत मनुष्य के स्वरूप में ही चर्चा की है। 'क' शब्द द्वारा पूछे गये प्रश्न प्रजापति ब्रह्मा की ओर आँख लगाए हुए हैं। और इसके आगे इस सूक्त को प्रसिद्ध हिरण्यगर्भ-सूक्त ऋ० १०. १२१[2] से समन्वित कर देते हैं, जिसका एक निम्न-कोटि का पाठ अथर्ववेद ४. ३[3] में मिलता है। पुरुष की अथर्ववेद ११. ८ में इससे भी अधिक एक और रहस्यमय सर्गोत्पत्ति-विषयक मानव स्वरूप में चर्चा की गई है। आदि-पुरुष की उत्पत्ति सर्व शक्तियों के विवाह से उसी प्रकार बताई गई है जो प्रकार कि विवाह-सूक्त (सूर्यासूक्त अथर्व० १४[4]=ऋ० १०. ८५[5]) में पार्थिव विवाह के लिये बताया गया है; भेद केवल इतना है कि प्रस्तुत विवाह के सभी पात्र मानसिक एवं धार्मिक शक्तियाँ हैं; मन्यु (मति) आकूति (प्रज्ञा) को संकल्प के घर से ले जाता है; 'तपस्' और 'कर्मन्' विवाहेच्छुक हैं, और ब्रह्मा प्रधान विवाहेच्छुक। यह आत्मा के विवाह का एक सूक्ष्म निदर्शन है। मन्यु का दश मनः-शारीरिक शक्तियों, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र आदि से तादात्म्य दिखाया गया है। ये शक्तियाँ ही वस्तुतः पुरुष को उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि ब्रह्मा एवं उससे संवद्ध आत्मिक एवं धार्मिक शक्तियाँ, पुरुष की आत्मा के रूप में स्वयं अपने आप को अभिव्यक्त करती हैं। दूसरी ओर इन्द्र, अग्नि, और बृहस्पति का स्थान गौण है और ये सभी अपने से ही उत्पन्न हुए बालक माने गये हैं (मन्त्र १०) अर्थात् इन्द्र से इन्द्र, अग्नि से अग्नि और देवों से देव इत्यादि; उत्पन्न होने पर उन्हें यह विश्व सौंप दिया गया है। निश्चय ही यह सूक्त खुले शब्दों में आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य स्थापित करता है जो कि उपनिषदों में परिनिष्ठा को प्राप्त होता है भले ही आत्मा शब्द का इसमें उल्लेख न मिले। आत्मा पर विचार प्राणसूक्त (११. ४[6]) में भी किया है, जिसके अनुसार जीवन या श्वास को सर्वोच्च शक्ति माना गया है दो अत्यन्त जटिल सूक्त (१०. ७ और ८[7]) स्कम्भ के प्रति कहे गये हैं। ब्रह्म या पुरुष से

१. केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ। अ० १०।२।१ ab इत्यादि
यन्मन्युर्जायामावहत्संकल्पस्य गृहादधि। अ० ११।८।१ ab इत्यादि

२. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। ऋ० १०।१२१।१ ab इत्यादि

३. य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। अ० ४।८।१ ab

४. सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः। अ० १४।१।१ ab इत्यादि

५. ऋ० १०।८५।१ दे० पृ० ८१, नो० ३

६. नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे अ० ११।४।२

७. कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम्। अ० १०।७।१ ab

संवद्ध सूक्तों की अपेक्षा इन दो सूक्तों में सृष्टि के चरम कारण का अधिक सूक्ष्म दृष्टि से उत्थान किया गया है। मन्त्र १०. ८. ४३, ४४[1] ऐसे कथन के साथ समाप्त होते हैं, जिसमें ब्रह्म और आत्मन् के ज्ञान को मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य बताया गया है। इसी सूक्त से संबद्ध ब्रह्मोद्य ५. १[2] है। सर्वोच्च तत्त्व के रूप में ब्रह्म, (प्रार्थना, वेद) का विभिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है। ४. १[3] में यह अपने नपुंसक लिङ्गी रूप में पुरायुग में उत्पन्न हुआ ब्रह्म है, किंतु तुरत ही (मन्त्र २ में) इससे संबद्ध विचार 'वाच् वाणी' हो जाता है, जो वेद-स्वरूपा पावन वाणी है, और इस स्वरूप में खास तौर से वाक्-सूक्त ४. ३०[4] (ऋ. १०. १२५) तथा ब्रह्मोद्य मन्त्रों ७. १[5] में प्रस्तुत की गई है। विराज् के प्रति कही गई पहेली ब्रह्मोद्य सूक्त ८. ९[6] के रूप में वाच्-विराज् (९. २. ५)[7] की ओर ही इशारा करती है। मन्त्र ७ चमत्कृत भाषा में इस विरोध को जोर देकर कहता है : 'वे ब्रह्म के पिता विराज् (स्त्री) को बुलाते हैं। वह विराज् क्रियाशील तत्त्व की भाँति कर्मशील है। इसके दो बछड़े (सूर्य और चन्द्र) जल से निकले हैं (मन्त्र १)। इसके बाद का सूक्त ८. १०[8] ब्राह्मणीय गद्य में विराज् के स्थान-परिवर्तनों एवं रूप-परिवर्तनों का वर्णन करता है, जो विराज् यहाँ आदि तत्त्व के रूप में निर्दिष्ट है (विराड्वा इदमग्र आसीत्)। विराज् रूप पावन वाणी का यह व्यापनशील गुण ३०-३२ के अन्त में अपने असली आथर्वणिक रूप में आ जाता है, जो दोनों सूक्तों (९ और १०) के गाम्भीर्य और रहस्यवादिता को और उभारा दे देता है। वे एक प्रकार की बौद्धिक क्रियाएँ हैं, जो प्रत्यभिचार से पहले तैयारी के रूप में की जाती हैं। यदि कोई अपने में यह कहे कि मैं अभिचार का प्रतिकार करता हूँ तो वह (कथनमात्र से) अभिचार का प्रतिकार कर देता है।' प्रार्थना या पवित्र ज्ञान की, उस आध्यात्मिक ज्योति के रूप में कल्पना, जो विश्व का उद्भव एवं प्रकाशक है, धीरे-धीरे विश्व के अत्यधिक ठोस तथ्यों और तत्त्वों में परिनिष्ठित हो जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त सूक्त ४. १[9] का मन्त्र ७

---

१. पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् । अ० १०।८।४३ ab इत्यादि

२. ऋधंङ्मन्त्रो योनिं य आबभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा । अ० ५।१।१ ab इत्यादि

३. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः । अ० ४।१।१ ab

४. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः । अ० ४।३०।१ ab इत्यादि ऋ० १०।१२५।१ ab इत्यादि

५. धीती वा ये अनयन्वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि । अ० ७।१।१ ab इत्यादि

६. कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात्कतमस्याः पृथिव्याः । अ० ८।९।१ ab

७. यामाहुर्वाचं कवयो विराजम् । अ० ९।२।५ b

८. विराड्वा इदमग्र आसीत्तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति । अ० ८।१०।१

९. योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात् । अ० ४।१।७ a

अपने आथर्वण दृष्टिकोण से, ब्रह्म को अपने विशिष्ट ऋत्विक् अथर्वन् (बृहस्पति) को सौंप देता है, जो इसके बाद ब्रह्म, प्रजापति और सृष्टि निर्माण करने वाले तत्त्व का स्थान ग्रहण कर लेता है, अथवा इससे अधिक संबद्ध हो जाता है: अथर्व० ७.२[1]। सच पूछो तो ब्रह्म के ब्रह्मा में परिवर्तन का आथर्वणिक स्वरूप यही है। किंतु दृष्टि-गोचर संसार की सर्वोच्च प्रभुत्व शक्ति, अर्थात् सूर्य को ब्रह्म की धारणा से इतना नमक-पानी की तरह मिला दिया गया है—जो कि गायत्री मन्त्र ऋ० ३. ६२. १०[2] से प्रारम्भ होता है—कि यह कहते संकोच नहीं होता कि इस वेद में शायद ही कोई ऐसा आध्यात्मिक सूक्त हो जिसमें कमी-बेशी के साथ, चाहे मुख्य रूप में और चाहे गौण रूप में, इस महान् ज्योतिर्मण्डल की ओर इशारा न किया गया हो।

इस प्रकार 'वेन' (=सुन्दर) के प्रति कहे गये सूक्त २.१[3] का 'वेन' विशेषण आधार है, जो ऋग्वेद १. ८३. ५[4] में सूर्य के लिये और ऋग्वेद १०. १२३[5] और १३९ में सूर्य-पुत्र गंधर्व (इन्द्रधनुष्) के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह वेन अथर्व० २. १[6] में सभी पदार्थों के आदि कारण के रूप में दिखाई पड़ता है; यह केवल सूर्य अथवा गंधर्व के रूप में नहीं दिखाई देता, अपितु दैवी अभिव्यक्ति के एष्टा के रूप में, अर्थात् ब्रह्म के मूर्तिमान् स्वरूप में दिखाई पड़ता है, जो विश्व को व्यक्त करने वाली चरम आध्यात्मिक ज्योति है। अपेक्षाकृत कम सूक्ष्म, किंतु अनेक प्रकार की व्यावहारिक कमियों से भरा हुआ लाल (उठता हुआ) सूर्य, रोहित, रोहित-काण्ड = अथर्व० १३ में (=तै० ब्राह्मण २. ५. २. १–८)[7] संसार का निर्माता और संचालक बताया गया है। रोहित अथवा उसी के समान कोई और सौर मण्डलीय या सर्गोत्पादक तत्त्व काल (समय) को मापता है और उसे व्याप्त किये हुए है: अथर्व० १३. २. ३९[8]। ब्राह्मणों में मिलने वाली ब्रह्म-प्रजापति-संवत्सर की शृंखला से तुलना कीजिये: यथा श० ब्रा० १. ५. १. १६; ११. १.

---

१. अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्। अ० ७।२।१ ab
२. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योः नः प्रचोदयात्॥ ऋ० ३।६२
३. अ० २।१।१ दे० पृ० १७८ नो० ३
४. ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि। ऋ० १।८३।५ b
५. अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने। ऋ० १०।१२३।१ ab आदि
६. अ० २।१।१ दे० पृ० १७८ नो० ३
७. उदेहि वाजिन्यो अस्यप्स्वन्तः। इदं राष्ट्रमा विश सूनृतावत्। यो रोहितो विश्वमिदं जजान।······तै० ब्रा० २।५।२।१ इत्यादि
८. रोहितः कालो अभवद्रोहितोऽग्रे प्रजापतिः।
रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्व१रा भरत्॥ अ० १३।२।३९

६. १३)[1]। इसलिये १९. ५३[2] और ५४ में काल 'समय' 'पिता काल' (५३. ८)[3] जो देवों में प्रथम है, स्वर्ग तथा पृथ्वी और उनके भीतर के द्रव्य-जात को पैदा करता है; यहाँ तक कि उसमें दूसरे सारे ही आदि तत्त्व, जैसे कि ज्येष्ठ, तपस् एवं ब्रह्म आदि निहित कर दिये जाते हैं। विकास की इस शृंखला से कुछ पृथक्, फिर भी उन धारणाओं के अन्तर्गत, जो सूर्य और ब्रह्म की एकता को स्थापित करती हैं, सूक्त ११. ५[4] है। यहाँ अपने पवित्र अनुष्ठानों एवं उपरति में पके ब्रह्मचारी को ब्रह्म का अवतार बताया गया है। ब्रह्म उसी से उत्पन्न होता है और उसी के पवित्र जीवन (ब्राह्मणम्) से उसकी अर्चना होती है। इससे आगे तुलना कीजिये इन उक्तियों कीः यह प्रकाशमान ब्रह्म (ब्रह्म भ्राजत् मन्त्र २४) है, जो दोनों गोलार्धों को घुमाता हुआ घूमता है, वह ब्रह्मचारी (मन्त्र १) है, 'जो दिन भर में पूर्वसागर से उत्तरसागर तक घूम जाता है, और इनसे आगे देखिये : ११[5], २३, २६ मन्त्रों को और गो० ब्रा० १. २. १[6] को। इसी प्रकार ऋग्वेद १०. १३६[7] एकान्तचारी संन्यासी के रूप में सूर्य की प्रशंसा करता है। ब्रह्म-विषयक धारणा के साथ-साथ व्यक्तिक स्रष्टा प्रजापति 'जीवों के स्वामी' का एक-देववादी मानवीकरण भी प्रस्तुत किया गया है। इस अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष और प्रचलित विचार का संसार को रचने वाले तत्त्व के रूप में सौर देवताओं से संबन्ध स्पष्ट दीख पड़ता है। इसी लिये ब्राह्मणों में प्रजापति का सविता और त्वष्टा से ऐक्य दिखाया गया है। सब बातों को ध्यान में रखते हुए कह सकते हैं कि सर्गोत्पादक शक्ति यहाँ ऋषभ, वत्स, अथवा गौ के रूप में सामने आती है। इन पशुओं का दक्षिणा के रूप में दान देना पशु-प्रतीकवाद पर प्रकाश डालता है। इस धारणा के अनुसार एक ही समय में बलि पशु भी है और व्यापक अद्वैत शक्ति भी। इसी दृष्टि से ९. ४[8] में, ऋषभ का बारी बारी से अनेक दिव्य ऋषभों के

---

१. सह पित्रा वैश्वानरेणेति। संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिस्तत्संवत्सरायैवैतत्प्रजापतये निह्नुतेऽग्ने…… । श० ब्रा० १।५।२।१६
स ऐक्षत प्रजापतिः। इमं वाऽत्मनः प्रतिमामसृक्षि यत्संवत्सरमिति……
श० ब्रा० ११।१।६।१३

२. कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः। अ० १९।५३।१ a इत्यादि

३. काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्। अ० १९।५३।८ a इत्यादि

४. ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति। अ० ११।५।१ ab इत्यादि

५. अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे। अ० ११।५।११ ab इ०

६. ॐ ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे इत्याचार्यमाह तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्तीति वायुमाह स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रमित्यादित्यमाह……गो० ब्रा० १।२।१

७. केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी। ऋ० १०।१३६।१ ab इत्यादि

८. अ० ९।४।१ दे० पृ० १३१

रूप में ऐक्य उभारा गया है—यहाँ दैवी ऋषभ हैं: रोहित इन्द्र, त्वष्टा आदि। इसी प्रकार ९. ७[1] में, जहाँ ब्राह्मण-गद्य में अद्वैत का अनुशीलन है, ऋषभ के एक-एक अङ्ग की एक-एक पार्थिव शक्ति के साथ तुलना की गई है; और जब वत्स-सव का प्रसङ्ग आता है तब अनड्वान् की तरह वत्स को भी उसी आसानी से उन सभी उच्च अवस्थाओं का प्रतीक बना दिया जाता है, जो सूक्ष्म एवं रहस्यात्मक स्कम्भ के साथ संबद्ध हैं। तुल० ४. ११. १[2] की १०. ७. ३५[3] से (देखिये ऊपर)। अज का दान (४. १४; ९. ५)[4] दैवी अज एकपाद् में बदल कर आध्यात्मिक विवेचना के आसन पर आ विराजा है; और अन्ततः जब स्त्रीवशा के दान का प्रसङ्ग आता है, तब यह उसे द्यावापृथिवी के रक्षक पर्जन्य की पत्नी बताने में किसी प्रकार की हिचक नहीं दिखाता : १२. ४. ४, ६[5]। ऊपर कहा जा चुका है कि शुद्ध यज्ञिय ब्रह्मौदन, और साथ ही उसका अवशेष (उच्छिष्ट) भी विश्वजनीन अद्वैत तत्त्व में बदल जाते हैं। कह सकते हैं कि यह सब पशु 'सव' का ही अतिरञ्जित विस्तार-मात्र है। अर्घ्य के रहस्यमय गुणों की प्रशंसा में कहा गया ९. ६ भी उसी विचार-क्षेत्र में आ जाता है, यद्यपि इसमें याज्ञिक प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक उभर आया है। एतत्संबन्धी विवरणों की तुलना उस यज्ञिय विवरण से की जा सकती है जहाँ यह कहा गया है कि यदि एक यजमान अपने कर्तव्यों के रहस्यपूर्ण अर्थ को ठीक-ठीक समझ लेता है तो वह पूर्ण रूप से यज्ञ में सफल हो जाता है।

जहाँ एक ओर अथर्ववेद में आध्यात्मिक विचारों का रहस्यमय चमत्कृत विकास दीख पड़ता है, वहाँ दूसरी ओर इसमें शुद्ध आख्यानात्मक कल्पना का अभाव बुरी तरह खलता है। ऋग्वेद में प्रकृति के देवताओं को कविता का विषय बनाया गया है। अथर्ववेद में 'अर्यमा', अनुमति आदि परिचित देवों, अर्ध-देवों का वर्णन है और दैत्य-विद्या को प्रश्रय मिला है। इस वेद में ऋग्वेद के प्रधान देवताओं का, अर्थात् अग्नि, इन्द्र और सविता के स्वरूप का विकास नहीं हुआ है; अपितु अग्नि और रुद्र के एकीकरण का उस दिशा में विकास किया गया है जिसमें अन्ततः शिव की उत्पत्ति हो गई है। आख्यानोक्त देवताओं के प्रति कहे गये सूक्त और मन्त्र प्रायः बाह्य स्रोतों से लिये गये हैं। इस प्रकार जब हम बड़े इन्द्र-सूक्त ५. २[6]

---

१. प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ अ० ९।७।१ इ०

२. अ० ४।११।१ दे० पृ० १४५

३. स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम् ॥ अ० १०।७।३५ab

४. अ० ४।१४।१। दे० पृ० १३१

५. विलोहितो अधिष्ठानाच्छक्नो विन्दति गोपतिम् ।
तथा वशायाः संविद्यं दुरदभ्ना ह्युच्यसे । अ० १२।४।४

६. अ० ५।२।१ दे० पृ० ९८, नो० २

को देखते हैं तब यह प्रस्तुत ऋग्वेद १०. १२०[1] (कौशिक० १५. १[2] में युक्त-सूक्त के रूप में प्रयुक्त) के रूप में मिल जाता है; और यही बात लागू है इससे भी बड़े सूक्त ८. ३[3] (= ऋ० १०. ८७)[4] पर, जो राक्षसहन्ता अग्नि के प्रति कहा गया है। दैत्यविद्या और आध्यात्मिकता इन दोनों के उष्ण वातावरण में पृथिवी के प्रति कहा गया एकमात्र अपवाद-स्वरूप सूक्त १२. १[5] हवा के ठण्डे झोके की तरह है। यह अथर्ववेद की आकर्षक रचनाओं में एक है और यत्र-तत्र उच्च कोटि की काव्य-कल्पना से संवलित है, एवं वैदिक कवियों की रचनाओं में खलने वाली कृत्रिमता से अपेक्षाकृत मुक्त है। यहाँ आँखों के सामने की पृथ्वी का मनुष्यों, पशुओं तथा वनस्पतियों के साथ संबन्ध प्राचीन आख्यानात्मक एवं रहस्यात्मक विचारों के ऊपर हावी होकर मुखरित हो उठा है। कुछ-कुछ इसी कोटि का सूक्त है अश्विनों के चाबुक (मधुकशा) के प्रति कहा गया मधुसूक्त ९. १[6]। मधुकशा का आख्यानात्मक या वास्तविक आधार मधु = दिव्य जल हो सकता है, जो मूसलों की तरह बरसता है, अथवा विद्युत् हो सकता है, जो बादलों को ताड़ती और उनमें से जल को बरसाती है। प्रस्तुत सूक्त अपने बृहद् रूप में समृद्धि एवं वर्चस्य का प्रतीक है। अन्तरिक्ष की प्रशंसा करने वाला लौकिक सूक्त १. ३२[7] भी इस प्रसङ्ग में उल्लेख-योग्य है।

६०. *वर्ग ११. याज्ञिक तथा सामान्य सूक्त*—प्रश्न हो सकता है कि क्या अथर्ववेद में ऐसे भी सूक्त हैं जिनका प्रारम्भ से ही आथर्वण श्रौत अनुष्ठानों के साथ संबन्ध रहता आया है। अथर्ववेद का श्रौतग्रन्थ वैतानसूत्र बाद का है, इसलिये उसमें शौनकीय शाखा के बहुत से सूक्तों के पाये जाने का महत्त्व इस दृष्टि से नहीं के बराबर रह जाता है। वैतानसूत्र अथर्ववेद के २० वें काण्ड को संक्षेप में प्रस्तुत करता है; किंतु यह स्वयं इस अथर्व-संग्रह का परवर्ती पूरक श्रौत है और इसलिये इसका अथर्व-संहिता के मौलिक लक्ष्य एवं क्षेत्र के निर्णय में विचार करना उपयोगी नहीं सिद्ध होता। साथ ही वैतानसूत्र बहुत से, खास तौर से छठे और सातवें काण्ड के सूक्तों तथा मन्त्रों का अपने विषय पर थोड़े बहुत उचित ढंग से प्रयोग करता है, किंतु वे सब प्रायः अन्य श्रौत-सूत्रों के समानान्तर

---

१. तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः। ऋ० १०।१२०।१ ab इत्यादि

२. ऋधङ्मन्त्रस्तदिदासेत्याश्वत्थ्यां पाव्यां त्रिवृति गोमयपरिचये हस्तिपृष्ठे पुरुषशिरसि वामित्राञ्जुह्वदभिप्रक्रम्य निवपति ॥ कौ० सू० १५।१

३. अ० ८।३।१ ab = ऋ० १०।८७।१ ab इत्यादि दे० नीचे

४. रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म। ऋ० १०।८७।१ ab

५. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। अ० १२।१।१ ab इत्यादि

६. दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात्समुद्रादग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे। अ० ९।१।१ ab इत्यादि

७. अ० १।३२।१ दे० पृ० १४७, नो० ७

मन्त्रों से मेल खा जाते हैं। फिर ये ही मन्त्र नियमतः कौशिकसूत्र में भी आते हैं; इसलिये अधिक संभव यह है कि अपने मौलिक रूप में ये अथर्ववेद में, उन परिस्थितियों एवं क्रियाओं के कारण आये हों जिनके कारण कि ये कौशिक सूत्र में आये हैं; और वहाँ से इन्हें बाद में वैतान ने अपने अनुष्ठानों के अनुकूल बना कर नये अर्थ में ग्रहण कर लिया है। इन परिस्थियों में किसी सूक्त या मन्त्र का वक्तव्य विषय इसके प्रक्षेप-कर्ता के मौलिक अभिप्राय को व्यक्त करने में सहायक नहीं होता। और हो सकता है कि किसी मन्त्र का गौण प्रयोग कौशिकसूत्र में काल की दृष्टि से उसी मन्त्र के वैतान में आये अपेक्षाकृत अधिक मौलिक प्रयोग से पहले का हो और वैतान के रचयिता को श्रौत अनुष्ठानों का इतना ज्ञान करा दे कि वह इन सूक्तों एवं मन्त्रों को अपने श्रौत अनुष्ठानों पर ठीक प्रकार से लगा सके। इस प्रकार सूक्त ६. १[1], जो आश्व० श्रौत सूत्र ८. १. १८[2] के पाठ से निम्न स्तर का प्रतीत होता है, सविता की प्रार्थना का सायंकालीन गीत है और तीन बार कौशिक में प्रयुक्त हुआ है: २३. २; ५०. १३; ५९. २५[3]। तीनों स्थानों पर इसका प्रयोग गौण और सामान्य हुआ है। इसके बावजूद, और यह मान लेने पर भी कि वैतानसूत्र १७. २[4] को ध्यान में रख कर यह एक श्रौत अनुष्ठान का मन्त्र है इस बात को सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता कि मौलिक रूप में इसे अथर्ववेद में इसके श्रौत रूप में समाविष्ट किया गया था। हो सकता है कि इसके जो दो एक प्रयोग कौशिक सूत्र में मिलते हैं उनमें से ही कोई इसका मौलिक प्रयोग रहा हो; उन्हीं में से किसी एक में अथर्ववेदियों ने इसे अपनी संहिता में ले लिया हो, और यह भी संभव है कि किसी एक सूक्त या मन्त्र के कौशिक और वैतान दोनों में मिलने वाले प्रयोग इस सूक्त या मन्त्र के मौलिक उद्देश्य से भिन्न प्रकार के रहे हों।

इन सचेतक परिस्थितियों के रहते हुए भी यह कहा जा सकता है कि अथर्ववेद का पर्याप्त रूप में श्रौत विधियों के अशेष क्षेत्र से परिचय है; और इससे भी महत्त्वपूर्ण बात, जिस पर ध्यान देना चाहिये, यह है कि श्रौत सूत्रों में वर्णित क्रिया-कलाप के ज्ञान के बिना हम यह नहीं कह सकते कि अथर्ववेद के वर्तमान सूक्त रचे गये हैं; या और किसी स्रोत से लिये गये हैं। इस प्रकार

---

१. अ० ६।१।१ दे० पृ० ११५, नो० ३

२. ···द्वे दोषो आगाद् बृहद्गाय द्युमद्वेह्याथर्वण······आश्व० श्रौ० ८।१।१८

३. दोषो गायेति द्वितीयाम्। कौ० सू० २३।२
निमृज्य दिग्युक्ताभ्यां दोषो गाय पातं न इति पश्चानडुद्वयो यमो मृत्युर्विश्वजिच्छकधूमं भवाशर्वावित्युपदधीत। कौ० सू० ५०।१३
दोषो गायेत्यथर्वाणं समावृत्याश्नाति ॥ कौ० सू० ५९।२५

४. दोषो गायेति जयन्नुद्गातारमीक्षते ॥ वै० सू० १७।२

कम से कम अग्निष्टोम के मूल तत्त्व, जो संभवतः इसके, त्रयी के कल्प ग्रन्थों में प्रदर्शित स्वरूप से सरल हैं, ६. ४७ और ४८[1] में उपस्थित किये गये हैं। इनमें से पहला कौशिक में एक दम नहीं मिलता, किंतु तीन सवनों के प्रसङ्ग में वैतान २१. ७[2] में मिल जाता है। हो सकता है कि ये मन्त्र अथर्ववेद के मौलिक नहीं थे, किंतु इन्हें इस संग्रह में केवल इसलिये ले लिया गया था कि अथर्ववेद के अनुयायियों में इनका तीन सवनों के संबन्ध में चलन जारी था। इन सूक्तों में दूसरा ६. ४८ सूक्त याजुष मन्त्रों का बना है और इसमें एवं अन्य श्रौत ग्रन्थों के समानान्तर सूत्रों में कुछ थोड़ा सा भेद है। इसका कौशिकसूत्र ५६. ४; ५९. २६, २७[3] में उन परिस्थितियों में उद्धरण है, जो निश्चित रूप से इसके गौण प्रयोग को सूचित करती हैं। यहाँ भी उनके विषयों से यह असंभव प्रतीत होता है कि उनकी आथर्वण रचना का कारण 'सवनों' के अलावा और कुछ रहा हो। इसके अनुसार ही वैतानसूत्र १७. १०., २१. ७[4] इनका प्रयोग करता है और वह भी तीन मन्त्रों के उस क्रम में, जो कि प्रसङ्ग और उनके समानान्तर मन्त्रों के साथ ठीक बैठता है। इस जगह याज्ञिक परंपरा संहिता से ऊपर उठ जाती है; और या तो वह उसके पीछे तक पहुँच जाती है अथवा अधिक अच्छी सूचनाएँ देकर उसमें सुधार करती है। फिर माध्यंदिन सवन में इन्द्र के प्रति कहा गया मन्त्र ७. ७६. ६[5] (=ऋ० ६. ४७. ६)[6] कौशिकसूत्र में नहीं मिलता, जब कि वैतानसूत्र १६. १४ में इसका उचित स्थान पर प्रयोग मिल जाता है। साथ ही ध्यान दीजिये सवनों के साथ इसके परिचय पर, जो अथर्ववेद ९. १. ११–१४[7] (तुल० ७. ७२. ३)[8] जैसे स्थलों पर स्पष्ट हो जाता है, और इसके अन्दर मिलने वाले

---

१. अग्निः प्रातः सवने पात्वस्मान्वैश्वानरो विश्वकृद्विश्वशंभूः। अ० ६।४७।१ ab इत्यादि
श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वा रभे। अ० ६।४८।१ ab इत्यादि

२. अच्छावाकभक्षादग्निः प्रातः सवने श्येनोऽसि यथा सोमः प्रातः सवन इति ... ॥
वै० सू० २१।७

३. श्येनोऽसीति। कौ० सू० ५६।४
अभयं द्यावापृथिवी श्येनोऽसीति प्रतिदिशं सप्तर्षीनभयकामः ॥ कौ० सू० ५९।२६
उत्तरेण दीक्षितस्य वा ब्रह्मचारिणो दण्डप्रदानम्। कौ० सू० ५९।२७

४. स्तुते बहिष्पवमाने वाचयति श्येनोऽसीति। वृषासीति माध्यन्दिने। ऋभुरसीत्यार्भवे ॥
वै० सू० १७।१०

५. धृषत्पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम्।
माध्यंन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठा नो रयिमस्मासु धेहि ॥ अ० ७।७६।६

६. धृषत्पिब कलशे सोममिन्द्र। ऋ० ६।४७।६ a इत्यादि

७. यथा सोमः प्रातः सवने अश्विनोर्भवति प्रियः। अ० ९।१।११ ab इत्यादि

८. श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ। अ० ७।७२।३ a इत्यादि

इन्द्र के प्रति निमन्त्रणों पर, जो उसे सोम-पान के लिये बार-बार दिये गये हैं; २. ५; ६[1] (तुल० ७. ५८ और ११७[2] से)। इन सब बातों से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आथर्वण लोगों का, उनकी संहिता के संकलन से पहले ही सोम-अनुष्ठानों से पूरा पूरा परिचय रहा था और वे लोग इनका प्रयोग भी करते थे। किंतु इस प्रसङ्ग में इस बात का निर्णय करना कठिन है कि आथर्वण लोग अपने इन अनुष्ठानों को त्रयी की वैदिक शाखाओं के अनुसार करते थे; या इनके अनुष्ठान का उनका अपना ही कोई विशेष तरीका था, जिसमें इतने पुरोहितों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इसी प्रकार का प्रश्न दो आप्री सूक्तों को पढ़ने पर उठता है : ५. १२[3] (=ऋ० १०. ११०) और ५. २७[4] (=वाज० सं० २७. ११[5], मै० सं० २. १२. ६[6]; तै० सं० ४. १. ८[7]। वैता० १०. ११[8] में ये सूक्त पशु-संवन्धी श्रौत क्रिया के प्रसङ्ग में अपने मौलिक उद्देश्य में पढ़े गये हैं। कौशिकसूत्र ४५. ८[9] उन्हें दक्षिणा के रूप में वशा (तु० अथर्व १०. १०; १२. ४)[10] बलि के संवन्ध (तु० अथर्व १०. १०; १२. ४) में प्रस्तुत करता है, यह भी एक प्रकार का अनुष्ठान ही है। इसी का अथर्ववेद स्वतन्त्र रूप से एक पुरोहित तथा एक अग्नि से होने वाले श्रौत यज्ञ के संवन्ध में विस्तार करता है। इससे इस बात का निर्णय करना कठिन है कि पशुवन्ध इन सूक्तों के मौलिक आथर्वणिक उद्देश्य को सूचित करता है, अथवा वैतानसूत्र ने उन्हें अन्य श्रौत नमूनों पर ढाल कर स्वीकार किया है। इसी प्रकार के प्रश्न अन्य बहुत से याज्ञिक सूक्तों के विषय में पूछे जा सकते हैं : सूक्त २. ६[11] (वाज० सं० २७. ८[12]; मै० सं० २. १२. ५[13]; तै० सं०

---

१. अ० २।५।१ दे० पृ० ११५, नो० २ अ० २।६।१ दे० पृ० १०९, नो० ९

२. इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ। अ० ७।५८।१ ab इत्यादि
आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः। अ० ७।११७।१ ab इत्यादि

३. समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः। अ० ५।१२।१ ab = ऋ० १०।११०।१ ab

४. अ० ५।२७।१ दे० पृ० १११, नो० ७

५. ऊर्ध्वाऽअस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः।...वाज० सं० २७।११ ab

६. ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः।...मै० सं० २।१२।६

७. ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः।...तै० सं० ४।१।८।१

८. समिद्धो अद्येति प्रयाजान्॥ वै० सू० १०।११

९. वयायाः समिद्ध ऊर्ध्वा अस्येति जुहोति॥ कौ० सू० ४५।८

१०. अ० १०।१०।१ दे० पृ० १८०, नो० ५ अ० १२।४।१ दे० पृ० ८१, नो० २

११. अ० २।६।१ दे० पृ० ११०, नो० १

१२. समास्त्वाग्नऽऋतवो वर्धयन्तु संवत्सराऽऋषयो यानि सत्या।...वाज० सं० २७।१

१३. समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या।...मै० सं० २।१२।५

४. १७)[1] वैतानसूत्र २८. ४. १०[2] अग्निचयन के अवसर पर इसके मौलिक उद्देश्य के अनुरूप प्रयुक्त हैं जबकि कौशिक ५९. १५; १०२. ४[3] 'इसका स्पष्टतः गौणरूपों में प्रयोग करता है (तुल० ७. ६२[4]; ६३ और ७८ से भी); ७. ७३[5] सूक्त उष्ण दुग्ध चढ़ाते समय अश्विनों के प्रति प्रार्थना है (तु० अथर्ववेद-पैप्पलाद के वैतान १४. १[6] में प्रयुक्त धर्मसूक्त से); अग्नि, इन्द्र तथा अन्य देवों के प्रति कहा गया सूक्त ७. ९७[7] याजुष मन्त्रों एवं गद्य सूत्रों का बना है : वाज० सं० ८. १५[8]; मै० सं० १. ३. ३८[9]; तै० सं० १. ४. ४४[10]। इसके अतिरिक्त विशेष रूप से याज्ञिक सूक्त हैं : ७. २७[11] एक मन्त्र इडा के प्रति (वैता० ३. १५[12]; तुल० शत० ब्रा० १. ८. १. ७)[13]; ७. २८[14] जो कतिपय यज्ञिय उपकरणों के प्रति कहा गया है (वैता० ४. १२; १३. २[15]; दे० तै० सं० ३. २. ४. १)[16]; अभिषेक

---

१. समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या।···तै० सं० ४।१।७।१ इ०

२. तद्गुणानुरोधात्प्राजापत्ये पशौ समिध्यमानवर्तमनु समास्त्वाग्न इति जपति ॥
वै० सू० २८।४ इत्यादि

३. समास्त्वाग्नेऽभ्यर्चतेत्यग्निं संपत्कामः ॥ कौ० सू० ५९।१५
समास्त्वाग्न इत्येतेन सूक्तेन जुहुयात् ॥ कौ० सू० १०२।४

४. अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्तीनजयत्पुरोहितः। अ० ७।६२।१ ab इत्यादि
पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात्सधस्थात्। अ० ७।६३।१ ab इत्यादि

५. समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु ॥ अ० ७।७३।१ ab इ०

६. घर्मं तपाम्यमृतस्य धारया देवेभ्यो हव्यं परिदां सवित्रे···वै० सू० १४।१

७. समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या। अ० ७।९७।२ ab

८. समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सं सूरिभिर्मघवन्त्सं स्वस्त्या।···वा० सं० ८।१५

९. ···समिन्द्र नो मनसा नेषि गोभिः सं सूरिभिर्हरिवः सं स्वस्त्या।···मै० सं० १।३।३८

१०. ···समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सं सूरिभिर्मघवन्त्सं स्वस्त्या।···तै० १।४।४४

११. इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः।
घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी ॥ अ० ७।२७।१

१२. इडैवास्मानितीडामुपहूयमानामनुमन्त्रयते ॥ वै० सू० ३।१५

१३. सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः। तत्रापि पाकयज्ञेनेजे स घृतं दधि मस्त्वामिक्षामित्यप्सु जुहवां चकार ततः संवत्सरे योषित्संबभूव साह पिब्दमानेवोदेयाय तस्यै ह स्म घृतं पदे···श० ब्रा० १।८।१।७

१४. वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति। अ० ७।२८।१ ab

१५. वेदः स्वस्तिरिति वेदं विवृतति ॥ वै० सू० ४।१२
दीक्षान्ते प्रायणीयायां पथ्यायाः स्वस्तेरग्नेः सोमस्य सन्वितरुदितेः पथ्या रेवतीर्वेदः स्वस्तिरिति ॥ वै० सू० १३।२

१६. स्फ्यः स्वस्तिर्विघ्नः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्तिः।···तै० सं० ३।२।४।१

के समय पठनीय ७. ३०[1]; बर्हि को भिगोने के समय पठनीय ७. ९८; वेदी का निर्माण करते समय ७. ९८[2] a; तै० ब्रा० ३. ७. ६. १)[3]; सिञ्चन के समय पठनीय ७. ३३[4] (तै० आ० २. १८. १)[5]; पर्यग्निकरण के समय पठनीय ७. ७१[6] (ऋ० १०. ८७. २२)[7]; प्रतीक्षाओं के स्वामी अग्नि के प्रति कहा गया ७. ७४. ४[8]; सर्गिक त्रयी की प्रार्थना ६. १०[9]; जल के प्रति मन्त्र और समिध् के प्रति याजुष गद्य वाला ७. ८९[10] (सभी वैदिक संग्रहों में ये आते हैं)। तुलना कीजिये ७. २५; २६; २९[11] की तथा बहुत से दूसरे सूक्तों की, विशेषतः काण्ड ६, ७ के सूक्तों की, जो कि देव-समुदाय में आये देवों के प्रति कहे गये हैं। इनके विषय में यह कहना कठिन है कि उनके मौलिक यज्ञिय कार्यों के कारण उन्हें संहिता में स्थान मिला था अथवा गौण प्रयोग (पौष्टिक) के कारण। जल के प्रति कहे गये गये अनेक सूक्त १. ४. १; ३३; ६. २३; ७. ८९; १६. १; १९. २; ६९[12] और विशेषतः अल्पार्थक एवं विस्तृत १०. ५[13] के बारे में भी यही संदेह होता है। तुलना करो 'अपां सूक्तानि', कौशिक इन्डेक्स बी पृ० ३८३; सलिलानि पृ० ३८५ और गण, कौशि० ४१. १४[14] से।

---

१. सं बर्हिरक्तं हविषा घृतेन समिन्द्रेण वसुना सं मरुद्भिः। अ० ७।९८।१ ab
२. अ० ७।९९।१ दे० पृ० ९२, नो० १४
३. परिस्तृणीत परि धत्ताग्निम्। परिहितोऽग्निर्यजमानं भुनक्तु।···तै० ब्रा० ३।७।६।१
४. सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः। अ० ७।३३।१ ab
५. सं माऽऽसिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः। सं माऽयमग्निः सिञ्चत्वायुषा च बलेन चाऽऽयुष्मन्तं करोतु मेति। तै० आ० २।१८।१
६. परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि। अ० ७।७१।१ ab
७. अ० ७।७१।१ ab = ऋ० १०।८७।२२ ab इत्यादि
८. अ० ७।७४।४ दे० पृ० ७८, नो० ३
९. पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा॥ ६।१०।१ आदि तीन मन्त्र
१०. अ० ७।८९।१ दे० पृ० ७८, नो० ५
११. ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा। अ० ७।२५।१ ab इत्यादि
विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि। अ० ७।२६।१ ab
अग्नाविष्णू महि तद्वां महित्वम्। अ० ७।२९।१ a इत्यादि
१२. अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः। अ० १।४।१ इत्यादि
हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः। अ० १।३३।१ ab
सस्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्रुषीः। अ० ६।२३।१ ab इत्यादि
१३. इन्द्रस्योज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ। अ० १०।५।१ ab इत्यादि
१४. अम्बयो यन्ति शम्भुमयोभू हिरण्यवर्णा यददः पुनन्तु मा सस्रुषीर्हिमवतः प्रस्रवन्ति वायोः पूतः पवित्रेण शं च नो मयश्च नोऽनड्वुन्द्ध्यस्त्वं प्रथमं मह्यमापो वैश्वानरो रश्मिभिरित्यभिवर्षणावसेचनानाम्॥ कौ० सू० ४१।१४

विभिन्न महत्ता वाले वहुत से सूक्तों में एक खास तरह की याज्ञिकता उभरी दीख पड़ती है, जो सारे के सारे यह कहते पाये जाते हैं कि उनका उच्चारण हविष् या आहुति के साथ किया जाता है। इस हविष् से पहले एक विशेषण अथवा संज्ञा रहती है, जो संक्षेप में उसे सूक्त का उद्देश्य वता देती है। इस प्रकार १. १५; २. २६ और १९. १[1] में 'सांस्राव्य हविष्' है, 'जो धनधान्य को एक साथ प्रवाहित करता है।' ६. ३९[2] में 'यशो हविष्' है, 'जो यश का दाता है।' ६. ४०[3] में 'सप्तर्षीणां हविष्' सप्तर्षियों की आहुति है, जो खतरे से वचाती है; ६. ६४[4] में 'समान हविष्' 'समन्वय करने वाला हविष्' है; ६. ६५[5] और ६६ में 'नैर्हस्त हविष्' शत्रुओं को हस्तहीन वनाने वाला हविष् है; ६. ७५[6] में नैर्वाध्य हविष्' 'शत्रुओं का दमन करने वाला हविष् है; ६७८[7] में 'भूत हविष्' 'शक्ति का उत्पादक है; ६. ८०[8] में 'शुनो दिव्यस्य महस् हविष् 'दैवी कुत्ते के तेज की हविष्' ६. ८७[9] (और ८८); ७. ९४[10] में 'ध्रुव हविष्' 'स्थिर करने वाला हविष्' है; तु० १. ३१; ६. ४१; ७. ७०; ७७[11] में कुछ कम स्पष्टता से निर्दिष्ट हविष् की और ७. २९[12] में 'गुह्य घृत' और ५. २१. २[13] में वर्णित 'प्रत्रास आज्य' की। अथर्ववेद १. २९. १[14] एक वार, ऋ० १०. १६४. १[15] के 'अभीवर्त हविष्' के स्थान पर 'अभीवर्त मणि' का प्रयोग करता है। ऋग्वेद ऐसे विशिष्ट हविष् का

१. अ० १।१५।१ दे० पृ० १६८, नो० ८
एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष। अ० २।२६।१ ab इत्यादि
अ० १९।१।१ दे० पृ० ७८, नो० ४
२. अ० ६।३९।१ दे० पृ० १५५, नो० ५
३. अ० ६।४०।१ दे० पृ० ८२, नो० ९
४. अ० ६।६४।१ दे० पृ० १५१, नो० १
५. अ० ६।६५।१ दे० पृ० १५६, नो० ७
६. अ० ६।७५।१ दे० पृ० १३९, नो० ३
७. अ० ६।७८।१ दे० पृ० १४७, नो० २
८. शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम। अ० ६।८०।१ cd १५४ b
९. इन्द्र एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा। अ० ६।८७।३ ab इत्यादि
१०. ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि। अ० ७।९४।१ ab
११. अ० १।३१।१ दे० पृ० १३४, नो० १ अ० ६।४१।१ दे० पृ० १३३, नो० १०
अ० ७।७०।१ दे० पृ० ९२, नो० १२ इत्यादि
१२. पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम। अ० ७।२९।१ cd
१३. उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च। अ० ५।२१।२ ab इत्यादि
१४. अ० १।२९।१ दे० पृ० ९६, नो० ३
१५. ऋ० १०।१७४।१ दे० पृ० १९६, नो० ३

अथर्ववेदीय स्वभाव वाले सूक्तों में निर्देश करता है : ६. ७५. ८[1] में 'रथवाहन हविष्;' १०. १७३. ६[2] में 'ध्रुव हविष्' (अथ० ७. ९४)[3]। लुड्विग, जिन्होंने सबसे पहले इस बात की ओर और अथर्ववेद में इसके विकास की ओर ध्यान आकृष्ट किया था, इसे उद्देश्य-विशेष के लिये अनुष्ठान-विशेष बताते हैं। इसे श्रौतसाहित्य की 'काम्या इष्टयः' सूक्तों के समानान्तर कहा जा सकता है। अन्य अनुष्ठानों में मुख्य क्रिया से भिन्न किसी और उद्देश्य से एक विशेष आहुति जोड़ी जा सकती है। और क्योंकि इस काम का सामान्य जीवन पर गहरा असर पड़ता था, इसलिये इसका अथर्वणों की प्रार्थनाओं एवं विधानों में विशेष रूप से प्रवेश हो गया, जहाँ पहुँच कर इसने अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया।

६१. वर्ग १२. व्यक्तिक विषयों का विवेचन करने वाले काण्ड = १३–१८। १३ से १८ तक छः काण्ड विशिष्ट विषयों से संबद्ध हैं। काण्ड १३ में सूर्य देव के एक स्वरूप 'रोहित' = लाल के प्रति कहे गये चार लम्बे सूक्त हैं, जिनमें 'रुह्' धातु पर बराबर श्लेष चलता है : जैसे 'वह जो ऊपर आकाश में पहुँचाया गया है'। यहाँ उसकी स्त्री रोहिणी = सूर्या, उषस् का भी वर्णन आता है। रोहित यहाँ केवल द्युस्थानीय सूर्य अथवा उसका अधिष्ठातृ देवता ही नहीं है; अपितु इसमें इतने गभीर आध्यात्मिक भाव ठूस दिये गये हैं कि अब यह संसार का स्रष्टा और धर्ता प्रतीत होने लगा है, जो प्रजापति का ही दूसरा स्वरूप है। इस काण्ड के एक बड़े भाग का या तो मुख्य विषय से संबन्ध है ही नहीं, अथवा यह मुख्य विषय को उसके गौण प्रयोग में प्रदर्शित करता है। प्रथम सूक्त के प्रथम ३५ मन्त्र, जिनमें प्रत्यक्षतः पूरे काण्ड की जान आ बैठी है, रोहित का पार्थिव राजा से ऐक्य उभारते हैं, जिसका राज्य उसे दे दिया गया है और जिसके राज्य की रक्षा करना रोहित का काम है। ३६ से ४४ तक के मन्त्रों में सूर्य के उदय एवं अस्त-गमन से संबद्ध वैचित्र्यों का रहस्यमय उत्थान किया गया है; मन्त्र ४५–५५ रोहित (सूर्य = अग्नि) का एक ऋषि के रूप में वर्णन करते हैं, जो अपनी प्रार्थनाओं से प्रकृति के जीवन के आधारभूत शरद् और ग्रीष्म इन दो यज्ञिय अग्नियों को प्रज्वलित करता है। इस सूक्त के शेष मन्त्र और भी भिन्न प्रकार के हैं। द्वितीय सूक्त सूर्य के प्रति, उसके सामान्य दर्शकों के विषय में कहा गया है। केवल मन्त्र २५–२६ और ३९–४१ प्रत्यक्षतः रोहित का विवेचन करते हैं। तृतीय सूक्त रोहित को ब्राह्मणों के दमयिताओं का प्रतिहन्ता बताता है; चतुर्थ सूक्त, जो अंशतः गद्य में है, अप्रयुक्त शब्दों में इस देवता की स्तुति करता है।

---

१. रथवाहनं हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म। ऋ० ६।७५।८ ab

२. ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि। ऋ० १०।१७३।६ ab

३. ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि। अ० ७।९४।१ ab

काण्ड १४ में अथर्वणों के विवाह-मन्त्र हैं। वे अधिकतर, भले ही सारे न सही, सूर्या-सूक्त ऋ० १०.८५[1] के समानान्तर हैं। ऋग्वेद के अन्य मन्त्र, विशेषतः १०.४०.१०[2], और छिट-पुट अन्य भी, यहाँ फिर दिखाई पड़ते हैं; फिर भी इस काण्ड के सूक्तों की एक बड़ी संख्या ऋग्वेद में नहीं मिलती। गृह्यसूत्रों में इन मन्त्रों के अधिकतर पाठान्तरों के साथ मिल जाते हैं। इन सभी ग्रन्थों के विवाह-मन्त्रों के 'समय और पारस्परिक संबन्ध' पर विशेष अन्वेषण अपेक्षित है। इन मन्त्रों का कोई भी प्राप्य संग्रह उन्हें उनके मौलिक रूप में हमारे सामने उपस्थित नहीं करता।

ब्राह्मण-गद्य में निर्मित काण्ड १५ व्रात्य के रहस्यमय उत्कर्ष में संलग्न है। आध्यात्मिक विषयों की सूची में, जिसे चूलिका उपनिषद् ११[3] अथर्ववेद की बताती है, व्रात्य ब्रह्मचारी (अथर्व ११.५)[4] तथा स्कम्भ (अथर्व १०.७.८)[5] के बीच में आता है। इसमें तो संदेह नहीं कि असल में इसका विषय ब्रह्म है, परंतु रुद्र की मूर्तियों का उल्लेख करने वाला खण्ड ५ शैव प्रभाव में दबा दीख पड़ता है। व्रात्य (व्रातीन) एक प्रकार का ब्रह्मचारी प्रतीत होता है, जिसने आर्य किंतु अब्राह्मणीय समाज से ब्राह्मणीय समाज में प्रवेश पाया है। तथाकथित व्रात्य-स्तोमों का विषय यही है; इसका सामवेद के श्रौतग्रन्थों ने विस्तार से वर्णन किया है: पञ्चविंश ब्राह्मण १७.१[6] लाट्यायन श्रौत सूत्र ८.६;[7] इन अनुष्ठानों को करके ओछी एवं अर्ध-सभ्य जातियाँ भी, जो 'न हि ब्रह्मचर्यं चरन्ति न कृषिं न वणिज्याम्' (पञ्चविंश ब्रा० १७.१.२)[8] ब्राह्मण बन सकती हैं। व्रात्य काण्ड और व्रात्य स्तोम के संबन्ध के विषय में शङ्का करने की आवश्यकता नहीं। १५.२[9] का यह वचन 'श्रद्धा उसकी प्रेमिका है और मन्त्र

१. ऋ० १०।८५।१; दे० पृ० ८१, नो० ३

२. जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः। ऋ० १०।४०।१० ab

३. ब्रह्मचारी च व्रात्यश्च स्कम्भोप्यपलितस्तथा।
अनड्वान् रोहितोच्छिष्टः पठ्यते भृगुविस्तरे॥ चूलिका उप० ११

४. अ० ११।५।१; दे० पृ० ३३, नो० २

५. यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत्कियत्तद्बभूव॥ अ० १०।७।८

६. देवा वै स्वर्गं लोकमायंस्तेषां दैवा अहीयन्त व्रात्यां प्रवसन्तस्त आगच्छन्……
पं० ब्रा० १७।१।१

७. व्रात्यस्तोमैर्यक्ष्यमाणाः पृथगग्नीनाधाय यज्ञोपकरणानि चेष्ट्वा……लाट्या० श्रौ० सू०
८।६।१ इत्यादि

८. हीना वा एते हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति नहि ब्रह्मचर्यञ्चरन्ति न कृषिन्न वणिज्याँ
षोडशो वा एतत् स्तोमः समाप्तुमर्हति॥ पं० ब्रा० १७।१।२

९. श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषम्। अ० १५।२।५ ab

उसके 'मागध' (जातिवहिष्कृत साथी) हैं, स्पष्ट रूप से व्रात्य के धर्मपरिवर्तन के संवन्ध में है। अथर्ववेद १५. २ तथा पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १. १४[1] में उष्णीष', 'प्रतोद' और 'विपथ' जैसे शब्दों का पाया जाना इसी वात को स्फुट करता है। ब्रह्मचर्य द्वारा पूत व्रात्य स्पष्ट रूप से ब्रह्म का प्रतिनिधि है; ब्रह्मचारी की भाँति (११. ५) वह भी देव तुल्य माना गया है। इस काण्ड में सामों का बड़ी संख्या में उल्लेख सामवेद की शाखाओं से भी इसके संवन्ध को सूचित करता है। व्याख्या के लिये इसके विषय नितान्त गूढ़ हैं, किंतु अत्यन्त रोचक हैं। अथर्ववेद पैप्पलादशाखा में इस काण्ड का अभाव है।

सोलहवें काण्ड में परस्पर-असंबद्ध दो भाग हैं : अथर्ववेद १९. २३. २६ 'प्राजापत्याभ्यां स्वाहा' वचन के द्वारा उनका उल्लेख करता प्रतीत होता है। प्रथम चार अंश (प्रथम चार अनुवाक) गद्य मन्त्रों के हैं, जिनमें यत्र-तत्र छन्द भी आ जाते हैं (४. २),[2] जिन्हें अथर्व-परिशिष्ट १० 'अभिषेक-मन्त्राः' कहता है। ये स्पष्टतः याज्ञिक मन्त्रों से संवद्ध हैं और कुछ सीमा तक जल की स्तुति करते हैं। उनका उद्देश्य कौशिक में दिये गये उनके प्रयोगों के आधार पर भी स्पष्ट नहीं हो पाता। खण्ड २, आप० श्रौत सूत्र ६. २०. २[3] में रोचक पाठान्तरों के साथ दिखाई पड़ता है। काण्ड का शेषांश ५-९ (द्वितीय अनुवाक) दुःस्वप्नों से संवद्ध है। इसमें दुःस्वप्नों को अपने ऊपर से हटाकर शत्रु पर टाला जाता है। इन दोनों भागों को एक पृथक् काण्ड में क्यों एकत्र किया गया था इस वात का कारण नहीं मिल पाया है।

यह वताना भी संभव नहीं कि एक सूक्त वाले काण्ड १७ को एक पृथक् काण्ड का स्वरूप क्यों दिया गया है। विषासहि सूक्त, अथर्व० १९. २३. २७[4] आयुष्याणि, वर्ग २ के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सूक्तों में से एक है और विशेषतः युवा आर्य के जीवन से संवद्ध अनुष्ठानों में व्यावृत दिखाई पड़ता है। कौशिक ४२. १२[5] पर केशव तथा कौशिक ५७. ३२ पर अथर्व-पद्धति उसी क्षेत्र में से एक 'विषासहिव्रत' का निर्देश करते हैं; निःसंदेह इस काण्ड में एक दिन यह सूक्त खासे महत्त्व का रहा होगा।

---

१. उष्णीषञ्च प्रतोदश्च ज्याह्रोऽश्च विपथश्च फलकास्तीर्णः कृष्णशं वासः कृष्णवलक्षे अजिने रजतो निष्कस्तद् गृह्णते ॥ पं० ब्रा० १७।१।१४

२. अ० ४।२।१ दे० पृ० ९७, नो० ११

३. अधिश्रित उन्नीयमानो वा ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्त्विति चतस्रो जपित्वापां पते योस्यां भागः स त एष प्रतिषिक्ता अरातयः प्रतिषिक्ता अरातयः'''आप० श्रौ० सू० ६।२०।२

४. विषासह्यै स्वाहा। अ० १९।२३।२७

५. '''वेदव्रतं कल्पव्रतं मृगारव्रतं विषासहिव्रतं यमव्रतं'''कौ० सू० ४२।१२ केशव की टि०

काण्ड १८ के चार सूक्तों (प्रत्येक एक अनुवाक) में अन्त्येष्टि-मन्त्र हैं; और यह निश्चित रूप से ऋग्वेद, मण्डल १० के समानान्तर मन्त्रों से बाद में बने मन्त्र हैं। यह बात ऋग्वेद १०. १०–१२[1] को अथर्ववेद में मिला लेने से पुष्ट होती है। अथर्ववेद १८. १[2] के मन्त्र १–३९ में ऋग्वेदीय तीन सूक्तों के मन्त्र उसी क्रम में मिल जाते हैं जिसमें कि ये ऋग्वेद में है; केवल छः मन्त्रों का यहाँ अभाव खलता है। ऋग्वेद १०. १० का अथर्ववेद में पाया जाना स्वाभाविक है, क्योंकि इस सूक्त में यम-यमी का प्रसिद्ध कथोपकथन मिल जाता है, जबकि ऋग्वेद १०. ११ और उसके वे सूक्त, जिनमें यम अथवा अन्त्येष्टि क्रियाओं का प्रत्यक्ष निर्देश नहीं है, ऋग्वेदीय संस्करण के टकसालीपन को प्रदर्शित करते हुए अथर्ववेद में मिला लिये गये हैं। कौशिक ने इन सभी ३९ मन्त्रों को छोड़ दिया है। सूक्त १ के अवशिष्ट मन्त्रों में तथा पूरे दूसरे सूक्त में ऋ० १०. १४–१७[3] के मन्त्र सुतरां परवर्तित क्रम में दुहराए गए हैं; और जगह-जगह पर ऋग्वेद के मन्त्रों, अथवा ऋग्वेद में कतई न मिलने वाले मन्त्रों को भी अपना लिया गया है। तृतीय सूक्त के ७३[4] मन्त्रों में से केवल ३२ ही ऋग्वेद में मिलते हैं; शेष अथर्ववेद तथा यजुर्वेद (तै० आ० ६)[5] में ही मिलते हैं। सूक्त ४[6] इनसे भी अधिक मौलिक है। इसके ८९ मन्त्रों में से केवल १२ ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों में से लिये गये हैं, जबकि अन्य ७ तै० आ० ६ के अन्त्येष्टि-मन्त्रों के समान हैं। इस विषय को अथर्ववेद ने किसी सीमा तक मौलिक रूप दिया है; जो कौशिक सूत्र की क्रियाओं से मेल नहीं खाता, जिसने स्वयं इस संस्कार में बहुत सी ऐसी बातें बिठा दी हैं जो अन्यत्र नहीं मिलतीं। मौलिक अन्त्येष्टि-क्रिया-संबन्धी सूक्तों में से केवल एक सूक्त ७. २१[7] मुख्य संग्रह से बाहर जा पड़ा है; और कौशिक सूत्र ८६. १६[8] में ऐसे स्थान पर जड़ दिया गया है जो इसके विषयों से संबद्ध नहीं है। अन्त्येष्टि क्रियाओं पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकाश आथर्वण अभिचारों से पड़ता है, जो एतद्विषयक अन्य मन्त्रों एवं सूत्रों से भी अधिक आजादी एवं विश्वासार्ह ढंग से अन्त्येष्टि-संबद्ध कर्मों का विस्तार के साथ विन्यास करते हैं। बहुत से अनुच्छेदों में वर्णित शोकसंतप्त स्त्रियों के स्यापे आदि इसी प्रकार की कुछ क्रियाएँ हैं। अन्त्येष्टि-विवेचन के लिये 'सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट सीरीज ४२ की अनुक्रमणिका के अन्तर्गत 'अन्त्येष्टि क्रियाएँ'

१. ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्। ऋ० १९।१९।१ ab इ०
२. ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां···अ० १८।१।१ a = ऋ० १०।१०।१ a इत्यादि
३. परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्। ऋ० १०।१४।१ ab इत्यादि
४. इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। अ० १८।३।१ ab इत्यादि
५. इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।···तै० आ० ६।१ इत्यादि
६. आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि। अ० १८।४।१ ab इ०
७. समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्। अ० ७।२१।१ ab
८. समेतेत्यपरस्यां श्मशानस्रक्त्यां ध्रुवनान्युपयच्छन्ते ॥ कौ० सू० ८६।१६

देखिये। अल्वेरूनी 'इण्डिया' (सचाऊ का अनुवाद) भाग १ पृ० १२९ इस बात की सूचना देती है कि अथर्ववेद में मृतक के प्रति किये जाने वाले कर्म-काण्ड का समुचित विधान है।

६२. *वर्ग १३. बीसवाँ काण्ड*—बीसवें काण्ड के १४३ सूक्तों में से केवल १३ ही अथर्ववेद के निजी हैं : २, ४८, ४९, १२७–१३६;[१] और इसके साथ ही मन्त्र ३४. १२, १६, १७ तथा १०७. १३ = १३. २. ३४। इनमें तथाकथित 'कुंतापसूक्तानि' १२७–१३६ अपने आथर्वण स्वरूप एवं विस्तार में मौलिक हैं; किंतु इनका पद-पाठ नहीं मिल पाया है। ये अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में नहीं मिलते। अभी बताये गये अन्य सूक्त एवं मन्त्र अथर्ववेद पैप्पलाद से लिये गये हैं। इस काण्ड के शेष सूक्त, जिनमें अधिकांश इन्द्र के प्रति कहे गये हैं, बिना किसी पाठान्तर के ऋग्वेद से लिये गये हैं; और इनमें भी अधिकतर उसके अष्टम मण्डल से। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद १०. १६३[२], अथर्व० २०. ९६. १७–२२[३] में शब्दशः आवृत्त है; यद्यपि इसका अपना आथर्वण-पाठ सामान्य पाठान्तरों सहित पहले आ चुका है : २. ३३[४]। इसी प्रकार अथर्ववेद ५. २[५] की ऋ० १०. १२०[६] = अथ० २०. १०७. ४–१२ से तुलना कीजिये। यह काण्ड 'शस्त्रकाण्ड' नाम से ख्यात है और वैतानसूत्र में १९. ६ (अग्निष्टोम) से प्रारम्भ होकर अन्त तक पाया जाता है। इसे सोम-यज्ञ के शस्त्रों या स्तोत्रों के समय ब्रह्मा पुरोहित या उसके सहायक ब्राह्मणाच्छंसी के उपयोग के लिये ऐसे समय पर संकलित किया गया था जब कि आथर्वणों ने अन्य वैदिक शाखाओं के अनुकरण पर स्वयं अपनी क्रमबद्ध एवं विस्तृत श्रौत क्रियाएँ प्रारम्भ कर दी थीं। इसका याज्ञिक स्वरूप कुंताप सूक्तों के संबन्ध में अच्छी प्रकार देखा जा सकता है, जिनके पहले और बाद में उसी क्रम में ऋग्वेद के सूक्त आते हैं, जिस क्रम में ब्राह्मणों एवं सूत्रों द्वारा वर्णित यज्ञक्रिया में उनकी आवश्यकता होती है। अथर्ववेद प्रातिशाख्य इसका नोटिस नहीं लेता, जैसे कि यह काण्ड १९ का नहीं लेता; और इससे निष्कर्ष निकल सकता है कि उस समय तक ये काण्ड शौनकीय संहिता में नहीं घुस पाये थे, यद्यपि इस बात का एक कारण यह भी हो सकता है कि संग्रह-कर्ताओं ने इनकी उपेक्षा कर दी हो, संभवतः इसलिये कि इन काण्डों के आथर्वण भाग अत्यन्त भ्रष्ट थे; अथवा इस

१. मरुतः पोत्रात्सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु। अ० २०।२।१ इत्यादि
अभि त्वा वर्चसा गिरः सिञ्चन्तीराचरण्यवः। अभि वत्सं न धेनवः। अ० २०।४८।१ इ०
इदं जना उप श्रुत नराशंस स्तविष्यते। अ० २०।१२७।१ ab इत्यादि

२. ऋ० १०।१६३।१ दे० पृ० १२०, नो० २

३. अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि। अ० २०।९६।१७ ab इत्यादि

४. अ० २।३३।१ दे० पृ० १२४, नो० ७

५. अ० ५।२।१ दे० पृ० ९८, नो० २

६. ऋ० १०।१२०।१ दे० पृ० ९८, नो० ७ = अ० २०।१०७।४-१२

लिये कि इस काण्ड के ऋग्वेदिक भाग किसी दूसरी शाखा के थे, इसलिये वे प्रस्तुत प्रातिशाख्य से बाहर थे। आथर्वणिक सामग्री में सूक्त २ याजुष मन्त्रों का है, और यह अग्निष्टोम में ऋतुग्रहों के अवसर पर पढ़ा जाता है: वैता० १९. २३[1]। तीन इन्द्र-मन्त्र ३४. १२, १६, १७[2] मौलिक हैं। सूक्त ४८, ४९ का विनियोग वैतान में नहीं दिया गया है। ये सभी पैप्पलाद अथर्ववेद के मन्त्र हैं, अकेला मन्त्र १०७. १३[3] = १३. २. ३४, अथर्ववेद १३. २. ३५[4]=ऋ० १. ११५. १ का बाद में किया संशोधित रूप है। कुंताप सूक्तों के विषय, उद्देश्य, और विनियोग के के विषय में एक स्वतन्त्र खोजपूर्ण विवरण की आवश्यकता है; क्योंकि उनका आथर्वण पाठ पूर्ण और अत्यन्त मौलिक प्रतीत होता है।

६३. *वर्ग १४. कुंतापसूक्त*—अथर्ववेद २०. १२७-१३६[5] इस वेद की हस्तप्रतियों में 'कुंतापसूक्तानि' कहलाये हैं, और 'अथ कुंतापसूक्तानि' एवं 'इति कुंतापसूक्तानि समाप्तानि' से क्रमशः प्रारम्भ एवं समाप्त होते हैं। कुंताप इस नाम का वास्तविक आधार स्पष्ट नहीं हो पाया है। ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३२. १; ३१. १ की व्याख्या में सायणाचार्य उन ३० मन्त्रों को कुंतापसूक्त बताते हैं, जो अथर्ववेद २०. १२७ और १२८ की कुंताप संहिता के प्रथम दो सूक्तों के बराबर हैं; किंतु उनकी संमति में पूरा संग्रह ही कुताप नाम से एक पूरक (खिल) है। वैतानसूत्र ३२. १९[6] की भी यही संमति प्रतीत होती है; क्योंकि वह प्रथम दो सूक्तों को ही इस नाम से लेता है और बाद के सूक्तों को 'ऐतशप्रलाप' बताता है: ३०. २०। शांखायन श्रौत सूत्र १२. १३. ७[7] (तुल० १२. ६. १३) में 'कुंताप' शब्द उस सूत्र में दिये गये एक विशिष्ट संग्रह तक ही सीमित है: १२. १४-१६[8] = अथर्व

---

१. सदस्युपविष्टा यथाप्रैषमृतून्यजन्ति मरुतः पोत्रादिति ॥ वै० सू० १९।२३

२. यः शम्बरं पर्यतरत्कसीभिर्योऽचारुकास्नापिबत्सुतस्य। अ० २०।३४।१२ ab

जातो व्यख्यत्पित्रोरुपस्थे भुवो न वेद जनितुः परस्य। अ० २०।३४।१६ ab

यः सोमकामो हर्यश्वः सूरिर्यस्माद्रेजन्ते भुवनानि विश्वा। अ० २०।३४।१७ ab

३. चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान्प्रदिशः सूर्य उद्यन्। अ० २०।१०७।१३ ab = अ० १३।२।३४ ab इत्यादि

४. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। अ० १३।२।३५ ab = ऋ० १।३५।१ ab इत्यादि

५. इदं जना उप श्रुत नराशंस स्तविष्यते। अ० २०।१२७।१ ab इत्यादि

६. इदं जना उपश्रुतेति कुन्तापमर्धर्चशः। चतुर्दशपदावग्राहम्। वै० सू० ३२।१९

७. तं शस्त्वा कुन्तापम्। शां० श्रौत सूत्र १२।१३।७

वृषाकपिस्तृते कुन्तापसन्यूङ्खं ब्राह्मणाच्छंसी ॥ शा० श्रौत सूत्र १२।६।१३

८. इदं जना उपश्रुत नराशंस स्तविष्यते······शां० श्रौत सूत्र १२।१४

२०. १२७. १–६; ११–१३; १२८. १२, १३, १५; १३५, १०; ११, १२;[1] किंतु क्योंकि संग्रह के सभी भागों के, उपर्युक्त कुंताप इस नाम के साथ साथ विशेष नाम भी विद्यमान हैं (देखिये नीचे) इसलिये हो सकता है कि शांखायन और वैतान ने कुंताप संबन्धी सामग्री के आरम्भ में विशिष्ट नामों = नाराशंस्यः, रैभ्यः आदि की उपेक्षा करके संपूर्ण सामग्री के लिये कुंताप इसी नाम का प्रयोग कर दिया हो—और यह वहाँ तक जहाँ कि वे पारिक्षित्याः = १२. १७ पर पहुँचे हों। कौषीतकि ब्राह्मण ३०. ५ से इस संभावना की पुष्टि होती है। इसी प्रकार आश्व० श्रौत सूत्र ८. ३. ७[2] भी कुंताप सामग्री का प्रारम्भ करते समय कुंताप शब्द का ही प्रयोग करता है, और भूतच्छदः मन्त्र = अथर्व० २०. १३५. ११[3] पर पहुँचने तक और किसी भी अभिधान विशेष का नाम नहीं लेता : सूत्र २७। पुनः गोपथ ब्राह्मण २. ६. १२ भी 'अथ कुंतापं शंसति' से प्रारम्भ होता है और प्रारम्भिक मन्त्र 'इदं जना उप श्रुत' = अथर्व २०. १२७. १–३[4] के लिये गौणनाम 'नाराशंस्यः' की उपेक्षा कर देता है; किंतु बाद में आये उपविभागों का उनके विशिष्ट नाम 'अथ रैभीः शंसति व्यचस्व' = अथर्व २०. १२७. ४–६[5] इत्यादि के द्वारा वर्णन करता है। इन सब बातों से निष्कर्ष निकलता है कि कुंताप शब्द का इस पूरे संग्रह के लिये प्रयोग प्रचलित था, जो कि इसका प्रयोग करने वाले ग्रन्थों में विस्तार और क्रम की दृष्टि से भिन्न भिन्न था; किंतु कभी कभी आदि के दो एक सूक्तों के लिये भी इसका प्रयोग कर दिया जाता था; और ऐसी दशा में इन सूक्तों के अपने विशेष नामों को दबा दिया जाता था, भले ही शाखा के अनुयायियों को इन सूक्तों के इन विशिष्ट नामों का ज्ञान क्यों न बना रहता हो।

अथर्ववेद के अतिरिक्त केवल शांखायन श्रौतसूत्र ही सकल कुंताप सामग्री को प्रस्तुत करता है। अन्य ग्रन्थ (ऐ० ब्रा०, गोपथ ब्रा०, आश्व० श्रौत सूत्र, वैतान) कभी-कभी पूर्ण मन्त्र देकर शेष में केवल प्रतीकों को देकर बसकर देते हैं। कौषीतकि-ब्राह्मण तो प्रतीक भी नहीं देता, केवल विशिष्ट नामों = नाराशंस्यः आदि द्वारा उपविभागों को बता देता है। शांखायन श्रौतसूत्र का (१२. १४)[6] कुंताप संकलन

---

१. यदिन्द्रादो दाशराज्ञे मानुषं वि गाहथाः। अ० २०।१२८।१२ ab इत्यादि
त्वं वृषाक्षुं मघवन्नम्रं मर्याकरो रविः। अ० २०।१२८।१३ ab
पृष्ठं धावन्तं हर्योरौच्चैःश्रवसमब्रुवन्। अ० २०।१२८।१५ ab
अरंगरो वावदीति त्रेधा बद्धो वरत्रया। अ० २०।१३५।१३ ab इत्यादि

२. तस्मादूर्ध्वं कुन्तापम्। आश्व० श्रौत सूत्र ८।३।७

३. त्वमिन्द्र शर्मरिणा हव्यं पारावतेभ्यः। अ० २०।१३५।११ ab

४. अ० २०।१२७।१ दे० पृ० ९९, नो० ५

५. वच्यस्व रेभ वच्यस्व वृक्षे न पक्के शकुनः। अ० २०।१२७।४ ab इत्यादि

६. इदं जना उपश्रुत नराशंस स्तविष्यते।···शां० श्रौत सूत्र १२।१४।१ इत्यादि

अथर्व० से लिया गया उद्धरण जैसा प्रतीत होता है, उससे सुतरां भिन्न है। कौषीतकि ब्रा० ३०. ५[१] के कथनों में भी शांखायन वाला क्रम ही स्वीकार किया गया है, फलतः कह सकते हैं कि शांखायन और कौषीतकि इन दोनों ही शाखाओं में इसी परंपरागत सामग्री का प्रचलन था। शांखायन श्रौतसूत्र के सभी मन्त्र, पहेलियाँ और उत्तर अथर्ववेद के वृहत्तर संग्रह में मिलते हैं; शांखायन श्रौत सूत्र १२. २२. १[२] का कोष्ठित मन्त्र ७ इस बात का अपवाद है, जो कुछ हस्त प्रतियों के हाशिये पर दिया गया है और कुछ में बिलकुल पाया ही नहीं जाता। बहुत से स्थलों पर शाङ्खायन श्रौत सूत्र की हस्त-प्रति के पाठ प्रचलित अर्थववेद के आधारभूत पाठों से मेल खाते हैं। हिलेब्राण्ड्ट ने प्रचलित अथर्ववेद के प्रस्तावित सुधारों को बहुशः स्वीकार कर लिया है। शेष ग्रन्थ ऐ० ब्रा०, गोपथ ब्रा०, आश्व० श्रौत सूत्र, एवं वैतान ऐसे पाठ के पूर्व अस्तित्व को मानते हैं जो अथर्ववेदीय पाठ से पूर्णतः नहीं तो बहुत कुछ जरूर मिलता है। जो पाठान्तर मिलते हैं उनकी सत्यता पर कुंताप पाठ की सामान्य भ्रष्टता के कारण संदेह पड़ जाता है। कुछ अंशों में आश्वलायन श्रौत सूत्र प्रस्तुत कुंताप सामग्री के प्रदर्शन में अथर्ववेद की अपेक्षा शाङ्खायन श्रौत सूत्र से अधिक मिलता है; जैसा कि आश्व० श्रौ० ८. ३. १४-१७[३] के ऐतश प्रलाप को पढ़ने से साफ हो जाता है। (देखिये नीचे)

कुंताप शस्त्र की पौरोहित्य-संबन्धी परंपरा स्वयं कुंताप सूक्तों के विषयानुकूल उप-विभागों से मेल खाती है; फलतः उनका सूक्तों एवं यज्ञ इन दोनों की समन्वित दृष्टि से वर्णन करना आवश्यक है। अथर्ववेदीय सूक्तों के निम्न विभाग उनके वर्ण्य विषयों एवं शस्त्रों में होने वाले उनके प्रयोग पर आधृत हैं :

(१) अथर्व० २०. १२७. १-३[४] = शां० श्रौत सूत्र १२. १४. १-३[५]। मन्त्र १ आश्व० श्रौत सूत्र में ८. ३. १० है, इसका प्रतीक गो० ब्रा० २. ६. १२[६]; वैतान ३२. १९[७]

---

१. तार्क्ष्यं दूरोहणं रोहति वायुर्वै तार्क्ष्यः प्राणो वै वायुः प्राणमेवास्मिंस्तद्दधाति तं ब्राह्मणाच्छंशिने प्रयच्छति तं स सुकीर्तिना योनिना प्रति गृह्णाति जातमथैतं वृषाकपिं पङ्क्तिशंसं न्यूङ्खं शंसत्यन्नं वै न्यूङ्खो······कौ० ब्रा० ३०।५

२. यन्न्यूनं यच्च अधिकं तत्सर्वमेवावगूहसि।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥ शां० श्रौत सू० १८।२२।७

३. एता अश्वा आप्लवन्त इति सप्तति पदानि ॥ आश्व० श्रौत ८।३।१४

४. अ० २०।१२७।१ दे० पृ० ऊपर

५. इदं जना उप श्रुत नराशंस स्तविष्यते ॥···शां० श्रौत सू० १२।१४।१ से ३ मन्त्र तक

६. ···इदं जना उप श्रुतेति ताः प्रग्राहं शंसति······गो० ब्रा० २।६।१२

७. इदं जना उप श्रुतेति कुन्तापमर्धर्चशः।······वै० सू० ३२।१९

है। ऐ० ब्रा० ६. ३२. ३[1] (देखो १ भी); कौ० ब्राह्मण ३०. ५[2], और सामान्यतया इनके भाष्यकार (शां० श्रौत सूत्र १२. १६. १[3] पर) इन्हें 'नाराशंस्यः' कहते हैं। उनका विषय रुशमों के राजकुमार कौरम की प्रशंसा में एक विपुल दानस्तुति है। दे० सेक्रेड० बुक्स आफ दि ईस्ट ४२, पृ० १९७, ६९०।

(२) अथ० २०. १२७. ४-६[4] = शां० श्रौत सूत्र १२. १४. ४-१५. १[5] (भिन्न क्रम में)। गो० ब्रा० २. ६. १२[6] में प्रतीक। गो० ब्रा०, ऐ० ब्रा० ६. ३२. ७[7] (देखो १ भी) और कौ० ब्रा० ३०. ५ और इनके भाष्यकार इन्हें 'रैभ्यः' कहते हैं। इनका विषय है 'रेभ' = अग्नि की प्रशंसा, जो धन-धान्य का वितरक है; अथवा यह किसी मानव कवि को अपना कार्य करने के लिये कहा गया उपदेश है। कुछ भी हो इसमें गाने वाले कवि की अग्नि से थोड़ी बहुत तुलना अवश्य है। दे० सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट ४२, १९७, ६९० आदि।

(३) अथ० २०. १२७. ७-१०[8] = शां० श्रौत सूत्र १२. १७. १-४[9]। गो० ब्रा० २. ६. ११[10] में प्रतीक। गो० ब्रा०, ऐ० ब्रा० ६. ३२-१०[11] (तुल० १ की) शां० श्रौत सूत्र, कौ० ब्रा० ३०. ५[12] और भाष्यकार इन्हें 'पारिक्षित्याः' कहते हैं। विषय है अग्नि परिक्षित् की प्रशंसा, जो ब्राह्मणों की धर्मनिष्ठा के प्रमुख देवता हैं। दे० सेक्रेड बुक्स० ४२, १९७, ३९१ आगे

(४) अथ० २०. १२७. ११-१४[13] = शां० श्रौत सूत्र १२. १५. २-४[14]। गो०

---

१. नाराशंसीः शंसति प्रजा वै नरो वाक्शंसः प्रजास्वेव तद्वाचं दधाति'''ऐ० ब्रा० ६।३२।३
पर्यगृह्णान्नाराशंस्या गायत्र्या रैभ्या त्रिष्टुभः पारिक्षित्या जगत्याः''''''
ऐ० ब्रा० ६।३२।१

२. कौ० ब्रा० ३०।५ दे० ऊपर

३. त्वं वृषाक्षुं मघवन्नम्रं मर्याकरोरपि। शां० श्रौत १२।१६।१

४. अ० २०।१२७।४ (दे० ऊपर) से मन्त्र ६ तक

५. प्र रेभासो मनीषा वृथा गाव इवेरते।'''शां० श्रौत० सू० १२।१४।४ से १५।१ तक

६. अथ रैभीः शंसति वच्यस्व रेभ वच्यस्वेति रेभन्तो वै देवाश्चर्षयश्च स्वर्गं''''''
गो० ब्रा० २।६।१२

७. रैभीः शंसति। ऐ० ब्रा० ६।३२।७

८. राज्ञो॑ विश्व॒जनी॑नस्य॒ यो दे॒वोऽमर्त्यां॒ अति॑। अ० २०।१२७।७ ab इत्यादि मन्त्र १० तक

९. राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवो मर्त्यां अति।'''शां० श्रौत सू० १२।१७।१ से मन्त्र ४ तक

१०. '''राज्ञो विश्वजनीनस्येति संवत्सरो वै परिक्षित्संवत्सरो'''गो० ब्रा० २।६।१२

११. पारिक्षितीः शंसति। ऐ० ब्रा० ६।३२।१०

१२'''भूतेच्छदः पारिक्षितीरेतशप्रलापमित्येतशो ह वै मुनिर्यज्ञस्यायुर्ददर्श स ह पुत्रानुवाच पुत्र का''''''कौ० ब्रा० ३०।५

१३. इन्द्रः॑ का॒रुम॑बूबुध॒दुत्ति॑ष्ठ॒ वि च॑रा॒ जन॑म्। अ० २०।१२।११ ab से मन्त्र १४ तक

१५. इन्द्रः कारुमबूबुधदुत्तिष्ठ वि चरा जरन्।'''शां० श्रौत १२।१५।१ से ४ तक

ब्रा० २. ६. १२[1] में प्रतीक। गो० ब्रा०, ऐ० ब्रा० ६. ३२. १६[2] (तुलना करो १ की) कौ० ब्रा० ३०. ५[3] तथा भाष्यकार इन्हें 'कारव्याः' कहते हैं। विषय है इन्द्र द्वारा कवि का प्रबोधन। इन्द्र प्रार्थनाओं पर रीझ कर धनधान्य देता और शत्रुओं का नाश कर देता है। दे० सेक्रेड बुक्स ४२, १९८, ६९२।

(५) अथ० २०. १२८. १–५[4] = शां० श्रौत सूत्र १२. २०. १. १–५[5]। गो० ब्रा० २. ६. १२[6] में प्रतीक। गो० ब्रा०, ऐ० ब्रा० ६. ३२. १९[7], कौ० ब्रा० ३०. ७[8], शां० श्रौत सूत्र तथा भाष्यकार इन्हें 'दिशां क्लृप्तयः' दिशाओं का प्रवन्ध कहते हैं। यह अनुच्छेद नैतिक मन्त्रों का है, जिनमें विशेष-विशेष प्रकार के आचरणों का पाँच दिशाओं से, अर्थात् प्राक् अधराक्, उदक्, अपाक् और संभवतः पाँचवी दिशा, ५ वें मन्त्र में कही ऊर्ध्वम् 'दिवमिव गत्वाय' से संवन्ध दिखाया गया है; भद्र आचरण को १, ३, ५ में प्राक्, उदक् और ऊर्ध्वम् से संवद्ध बताया गया है। अनुचित आचरण को २, ४ में अधराक् और अपाक् से। अन्य तीन के शोभन अर्थ के विपरीत अन्तिम दो का अशोभन अर्थ ही इस बुद्धिमत्तापूर्ण विभाजन का मुख्य तत्त्व प्रतीत होता है। किंतु संदर्भ की अविश्वसनीयता ने पूरी रचना को एक समस्या बना दिया है। मन्त्र १: 'सुन्दर गृह और समृद्ध सिब्बन्दी वाला आदमी, जो सोम को पीसता है और यज्ञ को प्रेरित करता है, वह सूर्य और प्रमुख देवता जो पूर्व दिशा की तरह अपनी जगह स्थिर हैं, उनके समान है; इसके विपरीत कोटि के मनुष्य को मन्त्र में पश्चिम 'अपाक्' से संबद्ध बताया गया है।

(६) अथ० २०. १२८. ६–११[9] = शां० श्रौ० सू० १२. २१. २. १–६[10]; गो० ब्रा० २. ६. १२[11] में प्रतीक। गो० ब्रा०, ऐ० ब्रा० ६. ३२. २३[12] आदि, कौ० ब्रा० ३०. ७, शां० श्रौत सूत्र तथा भाष्यकार इन्हें 'जनकल्पाः' 'जन-वर्ग के वर्गीकरण वाले'

---

१. '''अथ कारव्याः शंसतीन्द्रः कारुमबूबुधदिति यदेव देवाः'''गो० ब्रा० २।६।१२

२. कारव्याः शंसति। ऐ० ब्रा० ६।३२।१६

३. '''सर्वेषामेव कामानामाप्त्यै नाराशंसी रैभीः कारव्या इन्द्रगाथाः'''कौ० ब्रा० ३०।५

४. यः सुभेयो विदथ्यः सुत्वा यज्वाथ पूरुषः। अ० २०।१२८।१ ab से मन्त्र ५ तक

५. यः सभेयो विदथ्यः सुत्वा यज्वाथ पूरुषः।'''शां० श्रौत सू० १२।२०।१ से ५ तक

६. '''यः सभेयो विदथ्य इति जनकल्पा उत्तराः शंसति'''गो० ब्रा० २।६।१२

७. दिशां क्लृप्तीः शंसति दिश एव तत् कल्पयति। ऐ० ब्रा० ६।३२।१९

८. दिशां क्लृप्तीः शंसति दिशो हास्मै कल्पन्ते जनकल्पाः शंसति'''कौ० ब्रा० ३०।७

९. योनाक्ताक्षो अनभ्यक्तो अमणिवो अहिरण्यवः। अ० २०।१२८।६ ab से मन्त्र ११ तक

१०. योऽनाक्ताक्षो अनभ्यक्तो अमणिवो अहिरण्यवः। शां० श्रौत सू० १२।२१।१ से ६ तक

११. '''योऽनाक्ताक्षो अनभ्यक्त इत्यृतवो वै दिशः''''''गो० ब्रा० २।६।१२

१२. जनकल्पाः शंसति प्रजा वै जनकल्पा दिश एव तत्कल्पयित्वा तासु प्रजाः प्रतिष्ठापयति। ऐ० ब्रा० ६।३२।२३

बताते हैं। विषय नैतिक है और पहले से संबद्ध है। वाञ्छनीय और अवाञ्छनीय व्यक्तियों की वर्गों में तुलना की गई है; जैसे मन्त्र ८, ९ में : बिना जलपान-स्थान का ह्रद, कृपण धनी और एक अनाकर्षक और कुरूपा स्त्री समान स्वभाव के हैं, दूसरी ओर सुन्दर घाट वाला ह्रद, दाता धनी, एवं मनमोहक सुन्दरी ये समान स्वभाव के हैं। मन्त्र १०. ११ में परिवृक्ता महिषी एवं वाताता महिषी के वर्गीकरण के साथ साथ मन्द अश्व एवं तीव्र अश्व का वर्गीकरण किया गया है। अन्त में इस प्रसङ्ग में मिलने वाली अश्लीलता जो कि बाद के प्रकरणों में दीख जाती है ऐसी परिस्थितियों की ओर इशारा करती है जो अश्वमेध एवं पुरुषमेध के कुत्सित अनुष्ठानों में देखने को मिलती हैं। सच पूछो तो अश्लील मन्त्रों का (अश्लील भाषणम्) १०, ८, ९[1] (उलटे क्रम में) शां० श्रौत सूत्र १६. १३. १०[2] ने पुरुषमेध में प्रयोग किया है; तु० वैतान ३८. २[3]

(७) अथर्व० २०. १२८. १२–१६[4]=शां० श्रौत सूत्र १२. १५. १. ५–१२[5] १६. १. २ (अथर्व० १४. १६ का शां० श्रौत सूत्र में अभाव है)। गो० ब्रा० २. ६. १२[6] में प्रतीक। गो० ब्रा०, ऐ० ब्रा० ६. ४२. २५[7], कौ० ब्रा० ३०. ५[8] तथा भाष्यकार इन्हें 'इन्द्रगाथाः' कहते हैं। विषय दानवों एवं शत्रुओं के विजेता इन्द्र की स्तुति है।

(८) अथर्व० २०. १२९–१३२[9]। शां० श्रौ० सू० में इन पादों की केवल सीमित संख्या ही मिलती है : अथर्व० २०. १२९. १–१० = शां० श्रौ० सू० १२. १८. १. १–९[10]; अथर्व० २०. १३२. २–७, ९, ११, १२[11] = शां० श्रौत सूत्र १२. १८. १. १०–१८[12]; अथर्व० २०. १३१. १०, ११ = शां० श्रौत सूत्र १२. १८. १. १९, २०।

---

१. अप्रपाणा च वेशन्ता रेवाँ अप्रतिदिश्ययः।···अथर्व० २०।१२८।८ ab इत्यादि

२. परिवृक्ता अप्रपाणा योऽनाक्ताक्तो न सेशो यस्य रोमशमित्यभिमेथिन्यः। शां० श्रौत सू० १६।१३।१०

३. सुप्रपाणा च वेशन्तेति पूर्वेणानुचर्यः। वै० सू० ३८।२

४. अ० २०।१२८।१२ से मन्त्र १६ तक

५. यदिन्द्रादो दाशराज्ञेऽमानुषं विगाहथाः।···शां० श्रौत सू० १२।१५।५ इत्यादि

६. एवाथेन्द्रगाथाः शंसति यदिन्द्रादो दाशराज्ञ इतीन्द्रगाथाभिर्ह···गो० ब्रा० २।६।१२

७. इन्द्रगाथाः शंसतीन्द्रगाथाभिर्वै देवा असुरानभिगायाथैनानत्यायंस्तथैवैतद्यजमाना इन्द्रगाथाभिरेवाप्रियं भ्रातृव्यमभिगायाथैनमतियन्ति। ऐ० ब्रा० ६।३२।२५

८. सर्वेषामेव कामानामाप्त्यै नाराशंसी रैभीः कारव्या इन्द्रगाथा···कौ० ब्रा० ३०।५

९. एता अश्वा आ प्लवन्ते। अ० २०।१२९।१ से सूक्त १३२ तक

१०. एता अश्वा आ प्लवन्ते ॥ शां० श्रौत सू० १२।१८।१ से ९ तक

११. अलाबुकं निखातकम्। अ० २०।१३२।२ से मन्त्र ७ तक तथा ९।११।१२ मन्त्र

१२. अलाबुकं निखातकम् ॥ शां० श्रौत सू० १२।१८।१० से १८ तक

आश्व० श्रौत सूत्र ८. ३. १४–१७[1] में मन्त्रों के वे ही तीन वर्ग आये हैं, जो शांखायन श्रौत सूत्र में हैं, और शां० श्रौत सूत्र १२. १८. १ और १० को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करता है, जिसके बाद १९ और २० भी पूर्ण रूप में आते हैं। ऐ० ब्रा० ६. ३३. २[2] में, गो० ब्रा० २. ६. १३[3] में वैतान ३२. २०[4] में प्रतीक का प्रयोग हुआ है। ऐ० ब्रा०, शां० श्रौत सूत्र, कौ० ब्रा० ३०. ५[5] तथा भाष्यकार इसे 'ऐतशप्रलाप' या 'एतशप्रलाप' इस नाम से पुकारते हैं। ब्राह्मणग्रन्थ महर्षि ऐतश या एतश के प्रलाप के संबन्ध में इसकी महती याज्ञिक गरिमा का प्रदर्शन करने के लिये रहस्यपूर्ण आख्यानों का उत्थान करते हैं। परंतु स्वयं ग्रन्थ में महर्षि ऐतश की सत्ता का कोई निश्चित आधार नहीं मिलता। हो सकता है कि या तो यह नाम शब्दतः 'एता अश्वाः' के प्रारम्भिक अक्षरों से घड़ लिया गया हो अथवा सूर्य के रंग-विरंगे एतश अश्व के नाम पर। प्रथम भाग का त्सिमर ने चालू अनुवाद किया है और उस पर किसी प्रकार की टिप्पणी नहीं दी है। पृ० १३१.

(९) अथर्व० २०. १३३[6] = शां० श्रौत सूत्र १२. २२[7], जहाँ कि कुछ हस्तप्रतियों ने एक पहेली जोड़ दी है किंतु उसका उत्तर देना छोड़ दिया है : मन्त्र ७। गो० ब्रा० २. ६. १३[8], आश्व० श्रौत सूत्र ८. ३. १८[9]; वैतान ३२. २१[10] में प्रतीक है। इन पहेलियों के उत्तर अथर्ववेद में जोड़ दिये गये हैं, जिन्हें आश्व० श्रौत सूत्र ८. ३. १९[11]; वैतान ३२. २५[12] ने अलग अलग प्रस्तुत किया है; किंतु शां० श्रौत सूत्र में इनका पूर्णतः अभाव है। गो० ब्रा०, ऐ० ब्रा० ६. ३३.

---

१. एता अश्वा आ प्लवन्त इति सप्ततिं पदानि। आश्व० श्रौत सू० ८।३।१४ से १७ तक

२. तस्याभ्यग्निरैतशायन एत्याकालेऽभिहाय मुखमप्यगृह्णाददृपन्नः पितेति। ऐ० ब्रा० ६।३३।२

३. एता अश्वा आ प्लवन्त इत्यैतशो ह…गो० ब्रा० २।६।१३

४. एता अश्वा आ प्लवन्त इत्यैतशप्रलापं पदावग्राहम्। तासामुत्तमेन पटेन प्रणौति॥ वै० सू० ३२।२०

५. …पारिक्षितीरेतशप्रलापमित्येतशो ह वै मुनिर्यज्ञस्यायुर्ददर्श…कौ० ब्रा० ३०।५

६. वितंतौ किरणौ द्वौ तावा पिनष्टि पूरुषः। अ० २०।१३३।१ ab इत्यादि ६ मन्त्र

७. विततौ किरणौ द्वौ तावा पिनष्टि पूरुषः। शां० श्रौत सू० १२।२२।१ ab इत्यादि

८. …विततौ किरणौ द्वाविति प्रतिराधानुत्तरान् शंसति…गो० ब्रा० २।६।१३

९. विततौ किरणौ द्वाविति षळनुष्टुभः॥ आश्व० श्रौ० सू० ८।३।१८

१०. विततौ किरणौ द्वाविति प्रवल्हिकाः॥ वै० सू० ३२।२१

११. दुन्दुभिमाहननाभ्यां जरितरोथामो दैवकोशबिले जरितरोथामो…आश्व० श्रौत सू० ८।३।१९

१२. दुन्दुभिमाहननाभ्यां जरितरोथामोदैव। कोशबिले। रजनिग्रंथेर्दानम्।…… वै० सू० ३२।२५

१६[1], कौ० ब्रा० ३० ७[2], शां० श्रौ० सू० तथा भाष्यकार इन्हें 'प्रवल्हिकाः' पहेलियाँ कहते हैं; इनका उच्चारण करके देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त की थी। अथर्ववेद में पहले पहेली आती है, फिर अर्थ और अन्त में विचित्र टेक, जो प्रत्यक्षतः एक विशुद्ध कन्या के प्रति कही गई है जो इसके द्वारा हँसी-ठट्ठे के जीवन में पदार्पण करती है। शस्त्र में पहेलियों का उच्चारण होता करता है और इनका उत्तर 'प्रतिगर' के रूप में अध्वर्यु देता है, जो होता को 'जरिता' कहकर पुकारता है। ये पहेलियाँ या तो अश्लील हैं, और या चलती फिरती लौकिक रचनाएँ हैं। जन-साहित्य की कोटि के हैं ३. ४ : 'दो छोटे-छोटे कानों को अपनी ओर खींचने पर वे बीच में से बाहर निकाल दी जाती हैं' (यह क्या है ?) उत्तर 'रस्सी में गाँठ बाँधना'। 'किसमें जो खड़ा रहता है वह छिपकर लेटा रहता है' (यह क्या है ?) उत्तर—'जूते में पैर'।

(१०) अथर्व० २०. १३४[3] = शां० श्रौ० १२. २३. १[4], जहाँ इन पहेलियों में से केवल चार दी गई हैं (अथर्व० कां० १–३, ६); उत्तर शां० श्रौत सूत्र १२. २३. ३ में है। आश्व० श्रौत सूत्र ८. ३. २०[5] में सूक्त का प्रतीक है; इन्हीं चार पहेलियों के उत्तर, जो शां० श्रौत सूत्र में आई हैं ८. ३. २१ में 'प्रतिगर' के नाम से दिये गये हैं। वैतान ३२. २२[6] में प्रतीक है : इन छहों का उत्तर ३२. २५[7] में १, ३, ६, ५, ४ इस क्रम से है। गो० ब्रा० २. ६. १३[8] में भी प्रतीक है। गो० ब्रा०, ऐ० ब्रा० ६. ३३. १८[9] (कौ० ब्रा० ३०. ७ में छोड़ दिये गये हैं) एवं भाष्यकार इन्हें 'आजिज्ञासेन्याः' अर्थात् 'पहेली' कहते हैं। इन पहेलियों को वनस्पति एवं खनिज जगत् से लिया गया है। पहेली ३[10] : 'अच्छा, देख यही पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण है; ज्यों ही तू इसे छूता है यह पिघल जाती है (अथवा गायब हो जाती है), यह क्या है ?' उत्तर 'बूँद'।

---

१. प्रवह्लिकाः शंसति प्रवह्लिकाभिर्वै देवा असुरान्प्रवह्ल्याथैनानत्यायंस्तथैवैतद्यजमानाः···
ऐ० ब्रा० ६।३३।१ a

२. प्रवह्लिकाः प्रातीराधानतीवादमाहनस्याः सर्वा वाचो वदति···कौ० ब्रा० ३०।७

३. इहेत्थ प्रागपागुदगधरागरालागुदभर्त्सथ। अ० २०।१३४।१ इत्यादि ६ मन्त्र

४. इहेत्थ प्रागपागुदगधरागरालागुदभर्त्संत। शां० श्रौत सूत्र १२।२३।१

५. अलावूनि जरितरोथामो दैवो इम्। पृषातकानि जरितरोथामो दैवो इम्।······
आश्व० श्रौत सू० ८।३।२० इत्यादि

६. इहेत्थ प्रागपागुदगधरागिति प्रतिराधान्। न संतनोति। वै० सू० ३२।२२

७. दुन्दुभिमाहननाभ्यां जरितरोथामो दैव। कोशबिले।···वै० सू० ३२।२५

८. ···शंसतीहेत्थ प्रागपागुदगधरागित्याजिज्ञासेन्याभिर्ह वै देवा···गो० ब्रा० २।६।१३

९. आजिज्ञासेन्याः शंसत्याजिज्ञासेन्याभिर्वै देवा···ऐ० ब्रा० ६।३३।१८

१०. इहेत्थ प्रागपागुदगधराक् स वै पृथु लीयते। अ० २०।१३४।४

(११) अथर्व० २०. १३५. १–३[1] = शां० श्रौत सूत्र १२. २३. २[2] और ३ उत्तर (प्रतिगरस्[1]) सहित। आश्व० श्रौत सूत्र ८. ३. २२[3] प्रतीक : २३ में उत्तर; वैतान ३२. २३[4] प्रतीकः २५ में उत्तर; गो० ब्रा० २. ६. १३[5] में भी प्रतीक है। गो० ब्रा०, ऐ० ब्रा० ६. ३३. १९[6] कौ० ब्रा० ३०. ७[7], शां० श्रौत सूत्र तथा भाष्यकार इन्हें 'प्रतिराध' 'रुकावट' या बाधा कहते हैं। ये तीनों पहेलियाँ वनस्पति तथा पशु-जगत् की हैं, और छट आना, झट लुक जाना और पक्के खड़ा रहने के नमूने हैं। पहले १ भुग् 'चट वह आ गया' (यह क्या है ?) उत्तर—कुत्ता। २. 'शल्' यह लुक गया (यह क्या है ?) उत्तर—पत्ते का गिरना। ३. फल्, यह चल पड़ा (यह क्या है ?) उत्तर 'बैल का खुर'

(१२) अथर्व० २० १३५. ४. ५[8]=शां० श्रौत सूत्र १२. २३. ४, ५[9]। आश्व० श्रौत सूत्र ८. ३. २३[10] में प्रतीक : 'प्रतिगर'। वै० ३२. २६[11] में प्रतीक : २७ में 'प्रतिगर'। गो० ब्रा० २. ६. १३[12] में भी प्रतीक है। गो० ब्रा०, ऐ० ब्रा० ६. ३३. २०[13], कौ० ब्रा० ३०. ७ तथा भाष्यकार इन्हें 'अतिवाद' 'अधिक बोलना' कहते हैं। यह भी एक या दो अश्लील उत्तरों सहित एक पहेली ही प्रतीत होती है तुलना करो अथर्व० २०. १३६. ४[14]।

---

१. भुगित्यभिगतः शलित्यपक्रान्तः फलित्यभिष्ठितः। अ० २१।१३५।१ ab इत्यादि मन्त्र ३ तक

२. भुगित्यभिगतः। शलित्यपक्रान्तः। फलित्यभिष्ठितः। शां० श्रौत सू० १२।२३।२ और ३

३. भुगित्यभिगतः इति त्रीणि पदानि सर्वाणि यथानिशान्तम्। आश्व० श्रौत सूत्र ८।३।२२ इत्यादि

४. भुगित्यभिगत इत्याजिज्ञासेन्यास्तिस्रः ॥ वै० सू० ३२।२३ इत्यादि

५. ···भुगित्यभिगत इति प्रवह्लिकाभिर्ह वै देवा असुराणां रसान्···गो० ब्रा० २।६।१३

६. प्रतिराधं शंसति प्रतिराधेन वै देवा असुरान्प्रतिराध्याथैनानत्यायंस्तथैवैतद्यजमानाः प्रतिराधेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रतिराध्याथैनमतियन्ति। ऐ० ब्रा० ६।३३।१९

७. ···प्रतिराधानतीवादमाहनस्याः सर्वा वाचो···कौ० ब्रा० ३०।७

८. वीमे देवा अक्रंसताध्वर्यो क्षिप्रं प्रचर। अ० २०।१३५।४ ab से मन्त्र ५ तक

९. वीमे देवा अक्रंसताध्वर्यो क्षिप्रं प्र चर ॥···शां० श्रौत सू० १२।२३।४ इत्यादि

१०. श्वा जरितरोथामो दैव पर्णशदो जरितरोथामो देव गोशफो जरितरोथामो दैवेति प्रतिगरा वीमे देवा अक्रंसतेत्यनुष्टुप्। आश्व० श्रौत सू० ८।३।२३

११. वीमे देवा अक्रंसतेत्यतीवादम्। वै० सू० ३२।३६

१२. वीमे देवा अक्रंसतेति श्रीर्वा अतिवादस्तमेकर्चं···गो० ब्रा० २।६।१३

१३. अतिवादं शंसत्यतिवादेन वै देवा असुरानत्युद्याथैनानत्यायंस्तथैवैतद्यजमाना······ ऐ० ब्रा० ६।३।२०

१४. यद्देवासो ललामगुं प्रविष्टीमिनंमाविषुः। अ० २०।१३६।४ ab इत्यादि

(१३) अथर्व० २०. १३५. ६–१०[1] = शां० श्रौत सूत्र १२. १९. १–५[2] = ऐ० ब्रा० ६. ३५. ५[3] = गो० ब्रा० २. ६. १४[4]। आश्व० श्रौत सूत्र ८. ३. २५[5]; वैतान ३२. २८[6] प्रतीक हैं। ऐ० ब्रा०; गो० ब्रा० इसे 'देवनीथ' कहते हैं। शां० श्रौत सूत्र, कौ० ब्रा० ३०. ६[7] 'आदित्याङ्गिरसः' कहते हैं। इसका विषय एक रोचक आख्यान प्रतीत होता है, जिसकी मन्त्रों में रेखा-मात्र खींच दी गयी है; किंतु जो ब्राह्मणों में कही कहानी के साथ अच्छी तरह मेल खाता है। इसके अनुसार आदित्यों के सामान्यतः द्वेषी और उनसे कुछ अदने अङ्गिरस् ने एक बार सोम-यज्ञ में उनकी सहायता की थी। इसके लिये आदित्यों ने यज्ञिय पुरस्कार के रूप में उसे सूर्य का श्वेत अश्व प्रदान किया था। फलतः देवनीथ एक दिव्य दानस्तुति है।

(१४) अथर्व० २०. १३५. ११–१३[8] = शां० श्रौत सूत्र १२. १६. १. ३–५[9] परिवर्तित क्रम में (अथर्व० का मन्त्र १३, आश्व० गृ० सू० २. ९. ४ भी)। गो० ब्रा० २. ६. १४[10]; आश्व० श्रौत सूत्र ८. ३. २७[11]; वैतान ३२. ३०[12] में प्रतीक। गो० ब्रा०, ऐ० ब्रा० ६. ३६. १[13], कौ० ब्रा० ३०.५[14] तथा भाष्यकार उन्हें 'भूतेच्छदः' कहते हैं। (ऐ० ब्रा० 'असुराणां भूतं छादयित्वा') यह संदर्भ इन्द्र की प्रशंसा में है।

(१५) अथर्व० २०. १३६[15] = शां श्रौ० सू० १२. २४. २[16] (४, १, २, ११,

---

१. आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन्। अ० २०।१३५।६ ab से मन्त्र १० तक

२. आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्योऽश्वं दक्षिणामनयन्। शां० श्रौत सूत्र १२।१९।१ इत्यादि

३. आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन्॥ ऐ० ब्रा० ६।३५।५

४. अथादित्याश्चाङ्गिरसीश्च शंसत्यादित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो···गो० ब्रा० २।६।४

५. आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन्निति सप्तदश पदानि···आश्व० श्रौत सूत्र ८।३।२५

६. आदित्या ह जरितरिति देवनीथमैतशप्रलापवत्॥ वै० सू० ३२।२८

७. आदित्याङ्गिरसीरुपशंसत्यादित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्चास्पर्धन्त···कौ० ब्रा० ३०।६

८. अ० २०।१३५।११ से मन्त्र १३ तक

९. त्वमिन्द्र शर्मरिणा हव्यं पारावतेभ्यः। शां० श्रौत सूत्र १२।१६।४ इत्यादि

१०. अथ भूतेच्छदः शंसति त्वमिन्द्र शर्मरिणेतीमे वै लोका भूतेच्छदोऽसुरान्ह······ गो० ब्रा० २।६।१४

११. त्वमिन्द्र शर्मरिणेति भूतेच्छदः। आश्व० श्रौत सूत्र ८।३।२७

१२. त्वमिन्द्र शर्मरिणेति भूतेच्छदः॥ वै० सू० ३२।३०

१३. भूतेच्छदः शंसति। ऐ० ब्रा० ६।३६।१

१४. ···सर्वेषामेव कामानामाप्त्यै नाराशंसी रैभीः कारव्या इन्द्रगाथा भूतेच्छदः······ कौ० ब्रा० ३०।५

१५. यदस्या अंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्। अ० २०।१३६।१ ab इत्यादि १६ मन्त्र

१६. यदस्या अंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्।···शां० श्रौत सूत्र १२।२४।२ इत्यादि

१०, ९, ६, १५ अथर्व-मन्त्र हैं। इनमें अथर्ववेद २०. १३७. २ तथा १ जोड़ दिये गये हैं)। गो० ब्रा० २. ६. १५[1]; आ० श्रौत सूत्र ८. ३. २८[2]; वैतान ३२. १[3] में प्रतीक। गो० ब्रा०, ऐ० ब्रा० ६. ३६. ४[4], कौ० ब्रा० ३०. ६[5], शां० श्रौत सूत्र तथा भाष्यकार इन्हें 'आहनस्याः' कहते हैं (ऐ० ब्रा०, शां० श्रौत सूत्र के अनुसार संख्या में १० हैं, तुल० आश्व० श्रौत सूत्र ८. ३. ३१)[6]। मन्त्र १ और ४ वाज० सं० २३. २८, २९[7], लाट्या० श्रौत सूत्र ९. १०. ५, ६[8] में अश्वमेध के प्रकरण में आते हैं; आहनस्याः 'कामुकता' का विषय (आहनस्याद् वै रेतः सिच्यते, ऐ० ब्रा० ६. ३५ ५) अश्वमेध में बरती जाने वाली अश्लीलता से भी बढ़कर 'अश्लील भाषणम्' का नमूना है। ऋग्विधान ३. २४. ४[9] में पर पुरुषों के साथ भागनेवाली स्त्री के प्रति आहनस्याः का उच्चारण होता है। तुलना कीजिये मेयर की भूमिका पृ० १५, १७।

ब्राह्मणों एवं सूत्रों की भाँति ही अथर्ववेद में कुंताप मन्त्रों के पहले वृषाकपि सूक्त (१२६)[10] और बाद में दाधिक्र मन्त्र (१३७. ३)[11] आते हैं। संहिता में इनके बने रहने का कारण शस्त्र काण्ड (काण्ड २०) में ऋग्वेदीय शाखाओं में 'पृष्ठ्य षडह' के छठे दिन कही जाने वाली सूक्त-सामग्री की विद्यमानता हो सकती है। पृष्ठ्य षडह, २ से १२ दिन तक चलने वाले तथाकथित अहीन-यज्ञ के अन्तर्गत छः दिन का याज्ञिक समारोह है। पृष्ठ्य षडह द्वादशाह का एक भाग है। प्रस्तुत सूक्तों की शृङ्खला, जो कि 'शिल्प' (कला के कार्य; ऐ० ब्रा ६. २७)[12] इस नाम से भी ख्यात है, प्रत्यक्षतः जन-समाज की चीज है। जहाँ तक

१. अथाहनस्याः शंसति यदध्या अंहुभेद्या इत्याहनस्याद्वा इदं सर्वं···गो० २।६।१५

२. तिस्र एता अनुष्टुभो यदस्या अंहुभेद्या इत्याहनस्याः। आश्व० श्रौत सू० ८।३।२८

३. षडहेऽभिप्लववदाज्यस्तोत्रियाः। प्रथमयोरावापः पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ च ॥ वैता० ३२।१

४. आहनस्याः शंसति। ऐ० ब्रा० ६।३६।४

५. ···प्रतीराधानतीवादमाहनस्याः सर्वा वाचो···कौ० ब्रा० ३०।६

६. ई इ इ इ इ इ इ ई इ इ······आश्व० श्रौत सू० ८।३।३१

७. यद॑स्या अंहुभेद्याः॑ कृधु स्थूलमुपात॑सत्। वाज० सं० २३।२८ ab इत्यादि

८. उद्गाता परिवृक्तिमभिमेथेद्यदस्या अणुहोद्भया अणुस्थूलमुपातसत्···लाट्या० श्रौत सू० ९।१०।५

९. शतमस्याः सूतग्रामणीनां दुहितरोऽनुचर्यः···लाट्या० श्रौत सू० ९।१०।६

१०. वि हि सोतो॒रसृ॑क्षत॒ नेन्द्रं॑ दे॒वमंमंसत।
यत्राम॑दद् वृ॒षाक॑पिर॒र्यः पु॒ष्टेषु॒ मत्स॑खा॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥
अ० २०।१२६।१ इत्यादि २३ मन्त्र

११. द॒धि॒क्राव्णो॑ अकारिषं जि॒ष्णोरश्व॑स्य वा॒जिनः॑। अ० २०।१३७।३ ab

१२. शिल्पानि शंसन्ति। ऐ० ब्रा० ६।२७।१ इत्यादि

कुंताप मन्त्रों का संबन्ध है, उनका यज्ञों में विनियोग याज्ञिकों द्वारा बड़ी गम्भीरता से किया जाता है, यद्यपि उनके अरुचिकर, हास्यास्पद एवं अश्लील पक्ष पर वे भी कभी-कभी लज्जित हो उठते हैं। इस प्रकार गो० ब्रा० २. ६. ११[1] कुंताप शब्द का निर्वचन 'कुत्सितं यत् तपति' करता है, और पौरोहित्य-संबन्धी आख्यानों के द्वारा 'ऐतश-प्रलाप' की तुच्छता को ढक देता है (देखिये ऊपर)। संपूर्ण सामग्री ही, ईमानदारी की गम्भीर क्रियाओं के मध्य में एक पुराना पत्थर सी दीख पड़ती है: यह एक ऐसी वस्तु है, जो यज्ञों के प्रागैतिहासिक युग में, इनके बाहर रही होगी, और पहले-पहल इसका याज्ञिक क्रियाओं के साथ ढीला-ढाला, संबन्ध जुड़ गया होगा, और अन्त में इन सभी संकलनों में दीख पड़ने वाली कठोर नियमबद्धता ने, सभी वस्तुओं को उसी पवित्रता के आसन पर आसीन कर दिया होगा जो कि स्वयं याज्ञिक क्रियाओं की थी। बच्चों की सी पहेलियाँ तथा निम्न समाज के ये गीत और किस तरह श्रौत यज्ञों में स्थान पा सकते थे? ऐसे अब्राह्मणीय कृत्यों के चिह्न अन्य बहुत से श्रौत यज्ञों के संबन्ध में, विशेषतः राजसूय, अश्वमेध, और पुरुषमेध में भी मिलते हैं: उनमें तथा दूसरे यज्ञों में पवित्र ब्राह्मणीय गम्भीरता के बीचोंबीच लोक-प्रचलित रीति-रिवाजों तथा उत्सवों के चिह्न भी घुस पड़े दीखते हैं। यज्ञों में स्वाभाविक मानवीय तत्त्वों का एक स्रोत पुरोहितों को दी जाने वाली दक्षिणा था। स्वयं ऋग्वेद की दानस्तुतियों में दक्षिणा लेने वालों की मानसिक प्रसन्नता फूटी पड़ती हैं। प्राप्त की जाने वाली दक्षिणाओं के अतिरञ्जित वर्णन का उद्देश्य केवल दाताओं को भविष्य में अधिक दान देने के लिये प्रेरित करना-मात्र न था, अपितु उनका एक पक्ष अपने मन के आह्लाद को भी सूचित करना रहता था। दानस्तुतियों से घनिष्ठ रूप से संबद्ध हैं ब्राह्मणों एवं सूत्रों की 'गाथाः नाराशंस्यः' अथवा 'गाथा' और 'नाराशंस्यः' जिनसे अभिप्रेत हैं वे मन्त्र, जो ब्राह्मणों और सूत्रों में दाताओं की प्रशंसा के पुल बाँधते हैं। उनके ये गीत कभी-कभी इतने बढ़-चढ़ जाते हैं कि ये ही ग्रन्थ अपनी गम्भीर मुद्रा में इनकी 'अनृतम्' असत्य (काठक सं० १४. ५)[2] तथा 'शमलम्' 'भ्रष्ट' (तै० ब्रा० १. ३. २. ६)[3] कहकर निन्दा करते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में तो 'गाथा नाराशंसी' के वक्ता को और सुरा

---

१. ···अथ कुन्तापं शंसति कुयं ह वै नाम कुत्सितं भवति तद्यत्तपति तस्मात्कुन्तापास्तत्कुन्तापानां कुन्तापत्वं तप्यन्तेऽस्मै कुयानिति···गो० ब्रा० २।६।१२

२. ······यो गाथानाराशंसीभ्यां सनोति तस्य न प्रतिगृह्यमनृतेन हि स सनोत्यनृतं हि हि गाथानृतं नाराशंसी मत्तस्य न प्रतिगृह्यमनृतं हि मत्तो यदा हि सोऽमत्तो भवत्यथ तं तत्तपति। काठक सं० १४।५

३. ···यद्ब्रह्मणः शमलमासीत्। सा गाथा नाराशंस्यभवत्। यदन्नस्य। सा सुरा॥ तै० ब्रा० १।३।२।६

पीने वाले मनुष्य को समान बताया गया है। वे भ्रष्ट हैं, उनकी दक्षिणा नहीं लेनी चाहिये। कुंतापवर्ग के हास्योत्पादक और नीरस साहित्य का दानस्तुति, नाराशंसी और आख्यान (देखिये ऋ० १. १२६[1] और ८. १. ३०)[2] से गंठ-जोड़ प्रतीत होता है; ठीक उसी तरह जैसे कि अश्वमेध की अश्लील क्रियाएँ—निश्चय ही जो यहाँ-वहाँ प्रतीकात्मक हैं—गाजे-बाजे के साथ की जाने वाली पशुबलि के बाद की जाती हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अश्वमेध तथा पुरुषमेध दोनों 'नाराशंस' साहित्य के अपने ऊर्व हैं।

इस प्रकार दानस्तुतियाँ तथा नाराशंस्यः उन आनन्दमय तत्त्वों में से हैं, जो यज्ञ के गम्भीर पावन अनुष्ठानों को उस जन-क्रिया-कलाप के साथ मिलाते हैं, जिसे हम किसी उपयुक्त शब्द के अभाव में, याज्ञिक मनोरञ्जन कह कर पुकार सकते हैं। कहना न होगा—कि दक्षिणा-दान का परिणाम सामान्य तथा विशेष-विशेष अवसरों पर मुँह-छूट भोजन और मनमाना मदिरा-पान होता था; और हो सकता है कि इसके बाद—जैसा कि आजकल भी देखा जाता है—अशिष्ट विनोद, अश्लील कथोपकथन और इससे भी बढ़कर अभद्र बातें चल पड़ती हों। साथ ही यह कल्पना करनी भूल होगी कि ये बातें अटूट रूप से चलती रहती होंगी, और उनके मध्य याजक लोग अपने यथार्थ लक्ष्य यज्ञ को सुतरां भुला बैठते होंगे। (तुल० अश्वमेध के आध्यात्मिक एवं सृष्टि-संबन्धी ब्रह्मोद्य की)। फिर भी मुख्य रूप से सामाजिक आनन्दोत्सव ही इसका मुख्य ध्येय रहता होगा। बाद में ज्यों-ज्यों यज्ञ का स्रोत आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों उसमें मामूली से मामूली तत्त्व आकर मिलते गये, जिनके बारे में पहले-पहल संदेह किया गया और उन्हें गलत भी समझा गया, किंतु जो बाद में देवताओं के प्रति की जाने वाली अत्यधिक रहस्यमय प्रार्थना के रूप में यज्ञ का पवित्र एवं अविभाज्य अङ्ग बन गई।

---

१. अमन्दान्त्स्तोमान्प्र भरे मनीषा सिन्धावधि क्षियतो भाव्यस्य।
ऋ० १।१२६।१ ab इत्यादि ७ मन्त्र

२. स्तुहि स्तुहीदेते घा ते मंहिष्ठासो मघोनाम्।
निन्दिताश्वः प्रपथी परमज्या मघस्य मेध्यातिथे॥ ऋ० ८।१।३०

खण्ड ४

गोपथ-ब्राह्मण

(क) ग्रन्थ का अथर्ववेद से संबन्ध एवं वैदिक साहित्य में स्थान

६४. सामान्य निरूपण—वैतानसूत्र की भाँति गोपथ-ब्राह्मण भी अपने लेखक अथवा लेखकों का परिचय देने की तकलीफ नहीं करता। इसके दो भाग हैं: पाँच प्रपाठकों में पूर्व-ब्राह्मण है और छः प्रपाठकों में उत्तर-ब्राह्मण। पूर्व-ब्राह्मण में पर्याप्त मौलिकता है, खास तौर से वहाँ जहाँ वह अथर्ववेद एवं इसके पुरोहितों की प्रशंसा करता है; वस्तुतः उसका मुख्य उद्देश्य है भी यही। इसकी सामग्री सारी की सारी हरगिज भी ब्राह्मणों जैसी नहीं है; वह बहुत बार उपनिषदों के क्षेत्र में प्रवेश कर जाती है। सच पूछो तो गोपथ ब्राह्मण १. १. १६–३०[1] का एक अंश प्रणव उपनिषद्, ओपेनखात पर्शियन का एङ्क्वेतिल डुपरोन द्वारा लैटिन अनुवाद के (प्रनाउ) प्रणव से अभिन्न है। दूसरा अंश गोपथ ब्राह्मण १. १. ३१–३८[2] तो स्वयं ही अपने आप को उपनिषद् की संज्ञा देता है (१. १. ३८[3] अन्त); देखिये विभाग १८ और ६८। ये वैतान अथवा किसी भी अन्य श्रौत ग्रन्थ में न तो यज्ञ कर्म के अनुसार ही मिलते हैं और न यज्ञ कर्म के क्रम ही में। दूसरी ओर उत्तर-ब्राह्मण वैतानोक्त क्रियाओं पर विनियोग के लिये अनेक स्रोतों से, पर्याप्त रूपेण संवद्ध ब्राह्मण का संकलन करता हुआ वैतान का अनुसरण करता है। विषय और मन्त्र दोनों की दृष्टि से इसके साथ आथर्वण सामग्री चलती है जो बहुधा असंबद्ध, अस्तव्यस्त एवं अपूर्ण है। इस संकलन की त्रुटियाँ तो नजर डालते ही सामने आ जाती हैं। सामान्यतः उत्तर-ब्राह्मण का वैतान के साथ वही संबन्ध है, जो शतपथ ब्राह्मण के प्रथम ९ काण्डों का वाजसनेयि-संहिता के मौलिक सार भाग (१–८) से है। पूर्व भाग की तुलना शतपथ ब्राह्मण के शेष ५ काण्डों से की जा सकती है; कुछ सीमा तक गोपथ ब्राह्मण इसी पर आश्रित है। दोनों ही भाग बहुत बाद की रचना हैं, यद्यपि यह नहीं बताया जा सकता कि वे कौन सी शताब्दी में बने हैं। दोनों भाग वैतान के बाद

---

१. ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे स खलु ब्रह्मा सृष्टश्चिन्तामापेदे केनाहमेकेनाक्षरेण सर्वांश्च कामान्त्सर्वांश्च देवान्त्सर्वांश्च······गो० ब्रा० १।१।१६ से १।१।३० तक

२. एतद्ध स्मैतद्विद्वांसमेकादशाक्षं मौद्गल्यं ग्लावो मैत्रेयोऽभ्याजगाम······वही १।१।३१ से १।१।३८ तक

३. ···सोऽपहतपाप्मानन्तां श्रियमश्नुते य एवं वेद यश्चैवंविद्वानेवमेतां वेदानां मातरं सावित्रीं संपदमुपनिषदमुपास्त इति ब्राह्मणम् ॥ वही १।१।३८

की रचना हैं, और प्राचीन आथर्वण परंपरा के अत्यन्त सूक्ष्म आधार पर आधृत हैं। उत्तर तो पूर्व से भी बाद में बना प्रतीत होता है। इस प्रकार अथर्व-साहित्य में ब्राह्मण, श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र के संकलन का कालगत संबन्ध उलट जाता है। कौशिक गृह्यसूत्र वैतान श्रौतसूत्र से पहले रचा गया था; और वैतान श्रौतसूत्र गोपथ ब्राह्मण से पहले।

६५. *उत्तर ब्राह्मण*—इस रचना का इतिहास गोपथ ब्राह्मण के खण्ड २. १. १९–२६[1] में चातुर्मास्यानि, या ऋतुओं में दी जाने वाली बलियों के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। ये सभी अल्प परिवर्तन के साथ कौषीतकि ब्राह्मण से ली गयी हैं; ये सकलरूपेण पाँचवे काण्ड में हैं। वैतान इस विषय का वर्णन ८. ८–९[2] २७[3] में करता है। विषय की एकता के कारण इसमें और गोपथ ब्राह्मण में सामानान्तर्य है। इस प्रकार वैतान ८. ८ गोपथ ब्राह्मण २. १. १९ के प्रारम्भिक अंश के अक्षरशः समान है। गोपथ ब्राह्मण २. १. २४[4] में वैतानसूत्र के दो मन्त्रों 'ओम् स्वधा' और 'अस्तु स्वधा' (वैता० ९. ११)[5] के सिवाय उसके अन्य मन्त्रों का उल्लेख नहीं करता। यह अनुकूलन सुतरां ऊपरी है। इसमें संदेह नहीं कि गोपथ ब्राह्मण का यह भाग वैतान और कौ० ब्रा० दोनों के बाद का है। इससे भी बढ़कर है गोपथ ब्राह्मण २. ५. १–५[6] में अतिरात्र (सोमयाग) का वर्णन। इसका दो स्रोतों से संकलन किया गया है : ऐ० ब्रा० ४. ५[7] तथा ६ और कौ० ब्रा० १७. ७–९[8] और बिना किसी समन्वय की ओर ध्यान दिये एक के बाद दूसरे को रख दिया गया है। इस प्रकार अतिरात्र के तीन 'पर्ययों' (काल-परिमाण) की व्याख्या, उन्हें रात्रि की तीन घड़ियों में से असुरों के क्रमिक तीन निःसरणों का प्रतिनिधि

---

१. अथातश्चातुर्मास्यानां प्रयोगः फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत मुखं वा एतत्संवत्सरस्य यत्फाल्गुनी पौर्णमासी मुखमुत्तरे फाल्गुन्यौ···गो० ब्रा० २।१।१९ से २।१।२६ तक

२. फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत। पूर्वेद्युर्वैश्वानरपार्जन्येष्टिर्वाग्ने वैश्वानरा-भिक्रन्द स्तनयेति ॥ वै० सू० ८।८-९

३. आषाढ्यां वरुणप्रघासेष्वग्न्योः प्रणीयमानयोरग्ने प्रेहीति जयन्नेति ॥ वै० सू० ८।१७

४. ···त्वेव स्थितमग्नेर्ह्येष महिमा भवत्यों स्वधेत्याश्रावयत्यस्तु स्वधेति प्रत्याश्रावयति स्वधाकारो हि पितॄणामथ यत्प्रयाजानुयाजेभ्यो बर्हिष्मन्तावुद्धरति।······ गो० ब्रा० २।१।२४

५. अस्तु स्वधेति प्रत्याश्रावयति। वै० सू० ९।११

६. ओमहर्वै देवा आश्रयन्त रात्रीमसुरास्ते समावद्वीर्या एवासन्नो व्यावर्तन्त सोऽब्रवीदिन्द्रः कश्चाहं चेमानसुरान्रात्रीमन्ववैष्यामह इति······गो० ब्रा० २।५।१ से २।५।५ तक

७. अहर्वै देवा आश्रयन्त रात्रीमसुरास्ते समावद्वीर्या एवाऽऽसन्······ऐ० ब्रा० ४।५

८. पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव हविर्धाने······कौ० ब्रा० १७।७-९

बताते हुए दो बार की गई है—एक बार ऐ० ब्रा० ४.५ के शब्दों में और दूसरी बार कौ० ब्रा० १७.८ के शब्दों में। गो० ब्रा० २. ३. ११[1] तो खास तौर से रोचक है; यह अग्निष्टोम के दौरान में वैतान २१. ३, ४[2] को सोदाहरण प्रस्तुत करता है। निश्चय ही ब्राह्मण का यह भाग कौ० ब्रा० ११.४ और ५[3] से थोड़ी सी हेर-फेर के साथ ले लिया गया है। संकलनकर्ता 'इति ह स्माह कौषीतकिः' इस वाक्य तक को हटाने का कष्ट नहीं करता; जो स्वयं ही हठात् इसके मूल स्रोत की ओर संकेत कर देता है। सच पूछो तो समग्र ग्रन्थ ही अथर्ववेदीय उद्धरणों एवं उनमें निर्दिष्ट ऋषियों को बिना किसी हिचक के ले लेता है। फिर गो० ब्रा० २. १. १३–१५[4] में आई 'काम्येष्ट्यः' तो स्पष्ट रूप से मै० सं० २. १. १०[5] का अक्षरशः उद्धरण हैं; साथ ही गो० ब्रा० २. १. ६[6] में आया 'अन्वाहार्य-विषयक' विवरण भी मै० सं० १. ४. ६[7] से एक मुश्त उठा लिया गया है। चोरी से उड़ा लेने के ये कुछ नमूने हैं : उत्तर ब्राह्मण खास तौर से ऐ० ब्रा० और कौ० ब्रा० से अपनी सामग्री लेता है, किंतु दूसरे ब्राह्मण, विशेषतः शतपथ ब्राह्मण, तै० सं०, मै० सं०, और पञ्चविंश ब्राह्मण भी इस झपट के शिकार होने से बच नहीं पाये हैं।

जहाँ तक संख्या का सवाल है उत्तर ब्राह्मण के १२३ खण्डों में से ८० ने अपनी सामग्री या तो पूरी की पूरी और या अधिकांशतः प्राचीन ग्रन्थों से उड़ाई है; और हो सकता है कि भावी अनुसंधान गोपथ ब्राह्मण की और भी अधिक पराश्रितता को स्पष्ट कर दे; क्योंकि अभी तक इस प्रकार की खोज के लिये मार्ग ऋजु नहीं बन पाया है। उत्तर ब्राह्मण में क्रमानुसार साम्य निम्न है : २. १. १ :[8]

---

१. अथातः एकाहस्यैव तृतीयसवनं देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त ते देवा असुरानभ्यजयंस्ते जिता अहोरात्रयोः संधिं समभ्यवागुः।······गो० ब्रा० २।३।११

२. त्रिष्प्रथमां त्रिरुत्तमामन्वाह। वै० सू० २१।३

३. अथ सर्वा ह वै देवता होतारं प्रातरनुवाकमनुवक्ष्यन्तमाशंसमानाः प्रत्युपतिष्ठन्ते······ कौ० ब्रा० ११।४

४. अग्नये पथिकृतेऽष्टाकपालं निर्वपेद्यस्य प्रज्ञातेष्टिरतिपद्यते वहिष्पथं वा एष एति यस्य प्रज्ञातेष्टिरतिपद्यतेऽग्निर्वै देवानां···गो० ब्रा० २।१।१३ से २।१।१५ तक

५. अग्नये पथिकृतेऽष्टाकपालं निर्वपेद्यस्य प्रज्ञातेष्टिरतिपद्येत, वहिष्पथँ वा एष एति······ मै० सं० २।१।१०

६. द्वया वै देवा यजमानस्य गृहमागच्छन्ति सोमपा अन्येऽसोमपाः। गो० ब्रा० २।१।६

७. ···द्वया वै देवा यजमानस्य गृहमागच्छन्ति सोमपा अन्येऽसोमपाः। मै० सं० १।४।६

८. अथ यद्ब्रह्मसदनात्तृणं निरस्यति शोधयत्येवैनं तदथोपविशतीदमहमर्वाग्वसोः सदने सीदामीत्यर्वाग्वसुर्ह वै देवानां ब्रह्मा पराग्वसुरसुराणां······गो० ब्रा० २।१।१

कौ० ब्रा० ६. १३[१];–२. १. ३[२] (परार्ध) : कौ० ब्रा० ६. १४[३] (प्रारम्भ);–२. १. ४[४] : तै० सं० २. ६. ९[५];–२. १. ६[६] : मै० सं० १. ४. ६[७];–२. १. ९[८] : तै० सं० २. ५. ५. १[९] से प्रायः मिलता-जुलता;–२. १. १०[१०] (प्रारम्भ) : कौशिक १. २९. ३०[११];–२. १. ११[१२] : तै० सं० २. ५. ५. २[१३] आदि;–२. १. १३–१५[१४]: मै० सं० २. १. १०[१५];–२. १–१८[१६] : मै० सं० ३. ३. ७[१७];–२. १. १९–२६[१८] : कौ० ब्रा० ५[१९]

१. अथ यद्ब्रह्मसदनात्तृणं निरस्यति…कौ० ब्रा० ६।१३

२. …ते देवा अब्रुवन्निन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठस्तमा एतत्परिहरतेति तत्तस्मै पर्यहरंस्तत्स ब्रह्मणा शमयांचकार तस्मादाहुरिन्द्रो ब्रह्मेति यवमात्रं भवति यवमात्रं वै विषस्य न हिनस्ति…गो० ब्रा० २।१।३

३. इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठस्तस्मा एतत्परिहरतेति…कौ० ब्रा० ६।१४

४. अग्नीध आदधात्यग्निमुखानेवर्तून्प्रीणाति…गो० ब्रा० २।१।४

५. अग्नीध आ दधात्यग्निमुखानेवर्तून् प्रीणाति…तै० सं० २।६।९

६. द्वया वै देवा यजमानस्य गृहमागच्छन्ति सोमपा अन्येऽसोमपा अन्ये हुतादोऽन्येऽहुतादोऽन्य एते वै देवा अहुतादो यद्ब्राह्मणा एतद्दैवत्य एष यः पुरानीजान एतेह वा एतस्य प्रजायाः…गो० ब्रा० २।१।६

७. …द्वया वै देवा यजमानस्य गृहमागच्छन्ति सोमपा अन्येऽसोमपा अन्ये……
मै० सं० १।४।६

८. यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदियात्तांस्त्रेधा तण्डुलान्विभजेद्ये……
गो० ब्रा० २।१।९

९. …यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमाः अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान्वि भजेद्ये……
तै० सं० २।५।५।१-५

१०. या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राका या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली……
गो० ब्रा० २।१।१०

११. या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राका। या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूः ॥ कौ० सू० १।२९।३०

१२. न द्वे यजेत यत्पूर्वया संप्रति यजेतोत्तरया…गो० ब्रा० २।१।११

१३. …न द्वे यजेत यत्पूर्वया संप्रति यजेतोत्तरया…तै० सं० २।५।५।२

१४. अग्नये पथिकृतेऽष्टाकपालं निर्वपेद्यस्य प्रज्ञातेष्टिरतिपद्यते…गो० ब्रा० २।१।१३-१५ तक

१५. अग्नये पथिकृतेऽष्टाकपालं निर्वपेद्यस्य प्रज्ञातेष्टिरतिपद्येत,……मै० सं० २।१।१०

१६. …एतेन यजमानो भ्रातृव्यं जयति संग्रामे जुहुयादप्रति ह भवत्येतेन ह वै भरद्वाजः…
गो० ब्रा० २।१।१८

१७. वैतेन यजमानो भ्रातृव्यं जयत्येतेनैव याजयेत्,…मै० सं० ३।३।७

१८. अथातश्चातुर्मास्यानां प्रयोगः फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यानि…गो० ब्रा०
२।१।१९ से २६ तक

१९. ॐ अथातश्चातुर्मास्यानां चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जानः फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां प्रयुङ्क्ते…
कौ० ब्रा० ५

(पूरा);–२. २. २–४[१] : तै० सं० ६. २. २. १[२] आदि;–२. २. ६[३] : ऐ० ब्रा० १. १८[४];–२. २. १३[५]; तै० सं० ३. ५. २ १[६];–२. २. २०–२२[७] : ऐ० ब्रा० ६. १०[८] (सारा); ६. ११. ६, और ६. १२. ६;–२. ३. १–६[९] : ऐ० ब्रा० ३. ५–८[१०];–२. ३. ६[११] (उत्तरार्ध) : ऐ० ब्रा० ७. ३३. ५[१२];–२. ३. ७, ८[१३] : ऐ० ब्रा० २. २९ और ६. १४. ५[१४];–२. ३. १०[१५] : ऐ० ब्रा० ३. १२[१६];–२. ३. ११[१७] : कौ०

---

१. पञ्चधा वै देवा व्युदक्रामन्नग्निर्वसुभिः सोमो रुद्रैरिन्द्रो मरुद्भिर्वरुण आदित्यैर्बृहस्पतिर्वि-श्वैर्देवैस्तै देवा अब्रुवन्नसुरेभ्यो···गो० ब्रा० २।२।२ से ४ तक

२. देवासुराः संयत्ता आसन्ते देवा मिथो विप्रिया आसन्तेऽन्योऽन्यस्मै ज्यैष्ठ्यायातिष्ठमानाः पञ्चधा व्यक्रामन्नग्निर्वसुभिः सोमो रुद्रैरिन्द्रो मरुद्भिर्वरुण···तै० सं० ६।२।२।१

३. यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामन्न वोऽहमन्नं भविष्यामीति नेति देवा अब्रुवन्नन्नमेव······ गो० ब्रा० २।२।६

४. यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामन्न वोऽहमन्नं भविष्यामीति नेति देवा अब्रुवन्नन्नमेव······ ऐ० ब्रा० १।१८

५. ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यंस्तं वसिष्ठ एव प्रत्यक्षमपश्यत्सो···गो० ब्रा० २।२।१३

६. ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यन्तं वसिष्ठः प्रत्यक्षमपश्यत्सो···तै० सं० ३।५।२।१

७. तदाहुर्यदैहो यज्ञोऽथ कस्माद्वावेन प्रातः सवने प्रस्थितानां···गो० ब्रा० २।२।२० से २२

८. तदाहुर्यदन्यदेवत्य उत पशुर्भवत्यथ कस्मादाग्नेयीरेव···ऐ० ब्रा० ६।१० इत्यादि

९. ओं देवपात्रं वै वषट्कारो यद्वषट्करोति देवपात्रेणैव तद्देवतास्तर्पयत्यथो······ गो० ब्रा० २।३।१ से ६

१०. देवपात्रं वा एतद्यद्वषटकारो वषट्करोति देवपात्रेणैव तद्देवतास्तर्पयति······ ऐ० ब्रा० ३।५ इत्यादि

११. ···शं नो भव हृद आ पीत इन्दो पितेव सोम सूनवे सुशेवः । सखेव सख्य उत शंस धीरः प्र ण आयुर्जीवसे······गो० ब्रा० २।३।६

१२. शं न एधि हृदे पीतः प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारीरित्यात्मनः प्रत्यभिमर्शः······ ऐ० ब्रा० ७।३३।५

१३. प्राणा वा ऋतुयाजास्तद्यदृतुयाजैश्चरन्ति प्राणानेव तद्यजमाने दधति षड्तुनेति यजन्ति प्राणमेव तद्यजमाने दधति चत्वार ऋतुभिरिति···गो० ब्रा० २।३।७

१४. प्राणा वा ऋतुयाजास्तद्यदृतुयाजैश्चरन्ति प्राणानेव तद्यजमाने दधति षड्तुनेति यजन्ति··· ऐ० ब्रा० २।२९

···प्राणो वै होता प्राणः सर्व ऋत्विजः प्राणोः यत्तत्प्राणो यत्तदित्येव तदाह······ ऐ० ब्रा० ६।१४।५

१५. देवविशः कल्पयितव्या इत्याहुश्छन्दसि प्रतिष्ठाप्यमिति शंसावोमित्याह्वयते प्रातः सवनेऽभ्यक्षरेण शंसावो···गो० ब्रा० २।३।१०

१६. देवविशः कल्पयित्वा इत्याहुश्छन्दश्छन्दसि प्रतिष्ठाप्यमिति शंसावोमित्याह्वयते प्रातः-सवने···ऐ० ब्रा० ३।१२

१७. अथैतन्नाना छन्दांस्यन्तरेण गर्ता इवाथैते स्थविष्ठे बलिष्ठे नान्तरे···गो० ब्रा० २।३।११

ब्रा० ११. ४. ५[1];–२. ३. १२[2] : ऐ० ब्रा० ३. १४[3];–२. ३. १७–१९[4] : मै० सं० ४. ८. ३[5];–२. ३. २०, २१[6] : ऐ० ब्रा० ३. २३[7];–२. ३. २२[8] : ऐ० ब्रा० ३. २४[9];–२. ४. ५[10] : ऐ० ब्रा० ६. ३. ८–११[11];–२. ४. ६[12] : कौ० ब्रा० १८. ७, ८[13];–२. ४. ८[14] : तै० सं० ३. ३. ८. २[15];–२. ४. ९[16] : तै० सं० ३. ३. ८. ४[17];

---

१. अथैतद्वै नाना छन्दांस्यन्तरेण गर्ता इवाथैते वलिष्ठे अरिष्टे अनार्ते देवते······
कौ० ब्रा० ११।४।५

२. अथात एकाहस्य प्रातः सवनं प्रजापतिं ह वै यज्ञं तन्वानं वहिष्पवमान एव······
गो० ब्रा० २।३।१२

३. अग्निर्वै देवानां होताऽऽसीत्तं मृत्युर्वहिष्पवमानेऽसीदत्सोऽनुष्टुभाऽऽज्यं···ऐ० ब्रा० ३।१।१४

४. घ्नन्ति वा एतत्सोमं यदभिषुण्वन्ति यज्ञं वा एतद् घ्नन्ति यद्दक्षिणा नीयन्ते··· ···
गो० २।३।१७

५. घ्नन्ति॒ वा॑ ए॒तत्सोमं॒ यद॑भिषु॒ण्वन्ति॑ य॒ज्ञं वा॑ ए॒तद् घ्नन्ति॑ यद्द॑क्षि॒णा नी॒यन्ते॒······
मै० सं० ४।८।३

६. अथात एकाहस्यैव माध्यन्दिनं ऋक् च वा इदमग्रे साम चास्तां सैव······
गो० ब्रा० २।३।२०

७. ऋक्च वा इदमग्रे साम चाऽऽस्तां सैव नाम······ऐ० ब्रा० ३।३।२३

८. स्तोत्रियं शंसत्यात्मा वै स्तोत्रियः स मध्यमया वाचा संस्तव्य आत्मानमेवास्य······
गो० ब्रा० २।३।२२

९. स्तोत्रियं शंसत्यात्मा वै स्तोत्रियः तं मध्यमया वाचा शंसत्यात्मानमेव तत्संस्कुरुते···
ऐ० ब्रा० ३।२४

१०. ···उपांशु पात्नीवतस्याग्नीध्रो यजति रेतो वै पात्नीवत उपांश्विव वै रेतः सिच्यते······
गो० ब्रा० २।४।५ इत्यादि

११. ···उपांशु पात्नीवतस्याऽऽग्नीध्रो यजति रेतो वै पात्नीवत उपांश्विव वै रेतसःसिक्तिः ॥
ऐ० ब्रा० ६।३।८ इत्यादि

१२. अथ शाकलाञ्जुहति तद्यथाहिर्जीर्णायास्त्वचो निर्मुच्यतेषीका वा देवं हैवैते सर्वस्मात्पाप्मनः संप्रमुच्यन्ते ये शाकलाञ्जुह्वति···गो० ब्रा० २।४।६

१३. अथ शाकलाञ्जुहति तद्यथाऽहिर्जीर्णायै त्वचो निर्मुच्येत्···कौ० ब्रा० १८।७।८

१४. यत्···यमे यत्कुसीदमपमित्यमप्रतीत्तमिति वेदिमुपोषतीहैव सन्यमं कुसीदं······
गो० ब्रा० २।४।८

१५. कुसी॒दम॑प्रतीत्तं॒ मयि॒ येन॑ य॒मस्य॑ ब॒लिना॒ चरा॑मि······तै० सं० ३।३।८।२

१६. ···समस्मुर्ष्मिल्लोक इष्टापूर्तेन गच्छतेऽग्निर्वा उपद्रष्टा···गो० ब्रा० २।४।९

१७. अ॒मुष्मि॑ल्लो॒के नेनी॑मेर॒न्यत्कुसी॑दम॒प्रतीत्त॒ं······तै० सं० ३।३।८।४

–२. ४. १०[1] : ऐ० ब्रा० ३. ४४[2];–२. ४. १९[3] : ऐ० ब्रा० ४. १. ५–८[4];–२. ५. १–३[5] : ऐ० ब्रा० ४. ५, ६[6];–२. ५. ४–५[7] : कौ० ब्रा० १७. ७–९[8];–२. ५. ६[9] : शत० ब्रा० १२. ८. ३. १, २[10];–२. ५. ७[11] : श० ब्रा० १२. ८. ३. २३[12]–२८;–२. ५. ८[13] : पञ्चविंश ब्रा० १८. ७[14];–२. ५. ११[15] : ऐ० ब्रा० ६. १७. १, २[16] और ६. ५;–२. ५. १२[17] : ऐ० ब्रा० ६. ६[18];–२. ५. १३[19] : ऐ० ब्रा० ६. ७[20];–

---

१. यो ह वा अग्निष्टोमं साह्नं वेदाग्निष्टोमस्य साह्नस्य सायुज्यं सलोकतामश्नुते……
गो० ब्रा० २।४।१०

२. यो वा एष तपत्येषोऽग्निष्टोम एष साह्नस्तं सहैवाह्ना संस्थापयेयुः साह्नो वै नाम……
ऐ० ब्रा० ३।४४

३. तदाहुः किं षोडशिनः षोडशित्वं षोडश स्तोत्राणि षोडश शस्त्राणि…गो० ब्रा० २।४।१९

४. तदाहुः किं षोळशिनः षोळशित्वमिति षोळश स्तोत्राणां…ऐ० ब्रा० ४।१।५ इत्यादि

५. ओमहर्वै देवा आश्रयन्त रात्रीमसुरास्ते समावद्वीर्या एवासन्नो व्यावर्तन्त……
गो० ब्रा० २।५।१ इत्यादि

६. अहर्वै देवा अश्रयन्त रात्रीमसुरास्ते समावद्वीर्या एवाऽऽसन्न व्यावर्तन्त……
ऐ० ब्रा० ४।५ इत्यादि

७. पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव हविर्धानं मुखमाहवनीयं उदरं सदोऽन्नमुक्थानि……
गो० ब्रा० २।५।४ इत्यादि

८. पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव हविर्धाने……कौ० ब्रा० १७।७-९

९. विश्वरूपं वै त्वाष्ट्रमिन्द्रोऽहन्स त्वष्टा हतपुत्रोऽभिचरणीयमपेन्द्रं सोममाहरत्तस्येन्द्रो…
गो० ब्रा० २।५।६

१०. त्वष्टा हतपुत्रः। अभिचरणीयमपेन्द्रं सोममाहरत्तस्येन्द्रो यज्ञवेशसं………
श० ब्रा० १२।८।३।१ इत्यादि

११. अथ साम गायति ब्रह्मा क्षत्रं वै साम क्षत्रेणैवैनं तदभिषिञ्चत्यथो साम्राज्यं…
गो० ब्रा० २।५।७

१२. अथ साम गायति। क्षत्रं वै साम क्षत्रेणैवैनमेतदभिषिञ्चत्यथो साम्राज्यो…
श० ब्रा० १२।८।३।२३-२०

१३. प्रजापतिरकामयत वाजमाप्नुयां स्वर्गं लोकमिति……गो० ब्रा० २।५।८

१४. प्रजापतिरकामयत वाजमाप्नुयाँ स्वर्गं लोकमिति……पं० ब्रा० १८।७।१ इत्यादि

१५. अथातोऽनैकाहिकं श्वस्तोत्रियमयस्तोत्रियस्यानुरूपं कुर्वन्ति प्रातःसवने …
गो० ब्रा० २।५।११

१६. यः श्वःस्तोत्रियस्तमनुरूपं कुर्वन्ति प्रातःसवनेऽहीनसंतत्यै…ऐ० ब्रा० ६।१७।१ इत्यादि

१७. अथात आरम्भणीया एव ऋजुनीती नो वरुण इति मैत्रावरुणस्य…गो० ब्रा० २।५।१२

१८. अथात आरम्भणीया एव, ऋजुनीती नो वरुण इति मैत्रावरुणस्य…ऐ० ब्रा० ६।६

१९. अथातः परिधानीया एव ते स्याम देव वरुणेति……गो० ब्रा० २।५।१३ (१७० d)

२०. अथातः परिधानीया एव ते स्याम देव वरुणेति…… इ० ब्रा० ६।७

२. ५. १४[1] : ऐ० ब्रा० ६. ८[2];–२. ५. १५[3] : ऐ० ब्रा० ६. १८. ४[4]–जो ऐ० ब्रा० ६. १७. २[5] के एक वाक्य से प्रारम्भ हुआ है और[6] ऐ० ब्रा० ६. १७. ३, ४[7] के एक अंश के साथ समाप्त होता है।—अन्त में छठे प्रपाठक के १६ खण्डों में डेढ़ को छोड़कर (२. ६. ६[8] और २. ६. ७[9] का प्रथमार्ध) सभी ऐ० ब्रा० के पाँचवें, और खास तौर से छठे काण्ड पर या तो सर्वात्मना अथवा अधिकांशतः आधृत हैं। उत्तर ब्राह्मण के इन ८० खण्डों पर ही उधार लेने की प्रक्रिया समाप्त नहीं हो जाती। गो० ब्रा० २. १. १६[10]; २. ९. और २. १२ भी क्रमशः वैतान ११. १;१५, ३ और १६. १५–१७[11] के उद्धरण हैं, जिन्हें ब्राह्मणत्व का जामा पहरा दिया गया है। इसके अतिरिक्त वैतान सूत्र तथा गो० ब्रा० में अन्य भी बहुत से निकट साम्य हैं, जो इस बात के सूचक हैं कि गोपथ ब्राह्मण की रचना वैतान की सामग्री पर की गई है। साथ ही तीन दैनिक सवनों के शस्त्रों से संबद्ध अनेक खण्ड और हैं (२. ३. १३–१५[12]; २. ४. १–३ और २. ४.

---

१. उभय्यो होत्रकाणां परिधानीया भवन्त्यहीनपरिधानीयाश्चैकाहिनस्य···
गो० ब्रा० २।५।१४

२. उभय्यः परिधानीया भवन्ति होत्रकाणां प्रातः सवने च···ऐ० ब्रा० ६।८

३. श्वस्तोत्रियस्तमद्यस्तोत्रियस्यानुरूपं कुर्वन्ति प्रातः सवनेऽहीनमेव······
गो० ब्रा० २।५।१५

४. त एते प्रातः सवने षळहस्तोत्रियाञ्छस्त्वा माध्यन्दिनेऽहीनसूक्तानि शंसन्ति···
ऐ० ब्रा० ६।१८।४

५. यः श्वस्तोत्रियमनुरूपं कुर्वन्ति प्रातःसवनेऽहीनसंतत्या अहीनमेव···ऐ० ब्रा० ६।१७।२

६. यत्र वा इन्द्रः पूर्वं गच्छति गच्छत्येव तत्रापरं यज्ञस्यैव सेन्द्रतायै।
गो० ब्रा० २।५।१५ (अन्तिम)

७. यत्र वा इन्द्रः पूर्वं गच्छत्येव तत्रापरं गच्छति यज्ञस्यैव सेन्द्रतायै॥ ऐ० ब्रा० ६।१७।४

८. तदाहुः कथं ह्युक्थो होतैकसूक्त एकोक्था होत्रा द्विसूक्ता···गो० ब्रा० ३।६।६ इत्यादि

९. आग्नेयीषु मैत्रावरुणस्योक्थं प्रणयन्ति वीर्यं वा अग्निर्वीर्येणैवास्मै···गो० ब्रा० २।६।७

१०. ऐन्द्राग्नमुस्रमनुसृष्टमालभेत यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबेत्···गो० ब्रा० २।१।१६

११. सोमेन यक्ष्यमाण ऐन्द्राग्नमुस्रमालभेत यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबेत्॥
व्याचष्टे वै० सू० ११।१
यत्राहाध्वर्युरग्नीद्देवपत्नीर्व्याचक्ष्वेति तदपरेण गार्हपत्यं प्राङ्मुखस्तिष्ठति आग्नीध्रो देवपत्नी·
वै० सू० १५।३
यत्र विजानाति ब्रह्मन्त्सोऽस्कन्निति तमेतयालभ्याभिमन्त्रयते।···वै० सू० १६।१८
इत्यादि।

१२. मित्रावरुणावब्रवीद्युवं न इमं यज्ञस्याङ्गमनुसमाहरतं मैत्रावरुणीयम्···गो० ब्रा०
२।३।१३ से २।६।१५ तक तक इत्यादि

११-८) जो ऋग्वेदीय सूत्रों के उद्धरणों को ब्राह्मणत्व का जामा पहराकर बना लिये गये हैं; जैसे तुलना कीजिये गो० ब्रा० २. ४. १-३[1] की शां० श्रौ० सू० ७. २२-२४[2], आश्व० श्रौ० सू० ७. ४. १[3] से। निश्चय ही गोपथ ब्राह्मण पर अनुसंधान करने वाला भावी विद्वान् उत्तर ब्राह्मण की मौलिकता में और कमी दिखा सकेगा।

और यदि उत्तर ब्राह्मण प्राचीन ब्राह्मणों की सत्ता को मान कर चलता है, तो उससे कहीं अधिक यह वैतान के वर्तमान संकलन को सामने रख कर आगे बढ़ता है। इन गौण आथर्वण ग्रन्थों के पारस्परिक संबन्ध को उलटे रूप में देखकर कोई कह सकता है कि किसी सीमा तक वैतान सूत्र गोपथ ब्राह्मण की संहिता है। इस प्रकार वैतान के मौलिक मन्त्रों को, और निश्चय ही उन मन्त्रों को जो सकल पाठ में आये हैं, उत्तर ब्राह्मण उनके प्रतीकों द्वारा उद्धृत करता है। किंतु इन बातों में भी यह ब्राह्मण किसी एक सिद्धान्त पर जमकर नहीं चल पाता : लम्बे यजुष्, वैतान ३. २०[4] को गो० ब्रा० २. १. ७[5] ने पूरा-पूरा दुहराया है, किंतु वैतान ३. १४, ४. १६[6] को गो० ब्रा० २. १. ३[7] और ४ ने प्रतीक द्वारा उद्धृत किया है। इसी प्रकार अथर्ववेद पैप्पलाद का घर्मसूक्त वैतान १४. १[8] में सकलपाठेन दिया गया है, किंतु इसका प्रतीक-मात्र गो० ब्रा० २. १. ६[9] में दीख पड़ता है। गो० ब्रा०

---

१. ओं कया नश्चित्र आ भुवत्कया त्वं न ऊत्येति मैत्रावरुणस्य स्तोत्रियान्…गो० ब्रा० २।४।१ से २।४।३ तक

२. कया नश्चित्रः कया त्वं न ऊत्येति स्तोत्रियानुरूपौ…शां० श्रौ० सू० ७।२२ से ७।२४ तक

३. कया नश्चित्र आभुवत्कया त्वं न ऊत्या…स्तोत्रियानुरूपा मैत्रावरुणस्य। आश्व० श्रौ० सू० ७।४।१

४. प्रजापतेर्भागोऽस्यूर्जस्वान्पयस्वानक्षितोऽस्यक्षित्यै त्वा मा मे…वै० सू० ३।२०

५. देवाश्च ह वा असुराश्चास्पर्धन्त ते देवाः प्रजापतिमेवाभ्ययजन्तान्योऽन्यस्यासन्नसुरा अजुहवुः…गो० ब्रा० २।१।७

६. वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोर्बाह्वोर्बलमूर्वोरोजो…वै० सू० ३।१४ यदन्नमिति भागं प्राश्य देव सवितरेतत्ते प्राह तत्प्र च सुव प्र च यज बृहस्पतिर्ब्रह्मा स यज्ञं पाहि स यज्ञपतिं पाहि स मां पाहि स मां कर्मण्यं पाहीत्याह यजमानः॥ वै० सू० ४।१६

७. अथो आहुर्ब्राह्मणस्योदर इत्यात्मास्यात्मन्नात्मानं मे मा हिंसीः। गो० ब्रा० २।१।३ से २।१।४ तक

८. धर्मं तपाम्यमृतस्य धारया देवेभ्यो हव्यं परिदां सवित्रे॥…वै० सू० १४।१

९. द्वया वै देवा यजमानस्य गृहमागच्छन्ति सोमपा अन्येऽसोमपाः…गो० ब्रा० २।१।६

२.२.१२[1] और १८[2] पर विशेषतया ध्यान दीजिये, जहाँ वैतान १६.१७ और १८.११[3] को टुकड़े-टुकड़े करके उद्धृत किया गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि शतपथ ब्राह्मण वाजसनेयि-संहिता के मन्त्रों की व्याख्या करता हुआ उनके टुकड़े-टुकड़े करके उद्धरण देता है। वैतान की पूर्ववर्तिता के लिये गो० ब्रा० २.१.१६[4] पर भी ध्यान देना आवश्यक है; यह अपने विषय पर क्रम एवं संबन्ध को ताक में रख कर विचार करता है, जबकि वैतानसूत्र ११.१[5] में यह अग्निष्टोम का उचित रीति से परिचय कराता है।

यह सब कुछ होने पर भी उत्तर में निश्चित रूप से कुछ मौलिक खण्ड अवश्य हैं। इस प्रकार प्राशित्र-आख्यान, गो० ब्रा० २.१.२[6], यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों की सामग्री पर आधृत है, तथापि यह एक सच्ची आथर्वणिक रचना प्रतीत होती है; क्योंकि इसमें कल्पित 'इध्म आङ्गिरस' और 'बर्हि आङ्गिरस' ऋषियों का उल्लेख है और यह आगे चलकर चतुर्थ ऋत्विक् का प्रतिनिधित्व करने वाले बृहस्पति आङ्गिरस का भी उल्लेख करता है। खण्ड २.२.५[7] 'मख' शब्द की निरुक्त-शैली में व्याख्या के साथ प्रारम्भ होता है और यज्ञ के दोषों में से एक पर व्याख्यान दे डालता है जो एक मात्र विचक्षण भृग्वङ्गिरोविद् द्वारा सुधारा जा सकता है। २.१.१७; २.६, १४.१५; ३.९[8] इत्यादि की भी कुछ बातों पर विचार कीजिये। इसके अतिरिक्त उत्तर की एक मौलिकता यह भी है कि यह ब्राह्मणों से लिये गये अंशों की भाषा-शैली में स्वतन्त्रता के साथ कुछ अदल-बदल कर देता है और उनमें से कुछ उक्तियों को सचमुच आथर्वणिक स्थितियों

१. यत्र विजानाति ब्रह्मन्त्सोमोऽस्कन्निति तमेतयालभ्याभिमन्त्रयते…गो० ब्रा० २।२।१२

२. प्रजापतिर्वै यज्ञस्तस्मिन्त्सर्वे कामाः सर्वा इष्टीः सर्वममृतत्वं तस्य हैते गोप्तारः गो० ब्रा० २।२।१८

३. अध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता प्रस्तोतोद्गाता प्रतिहर्ता ब्रह्मा सुन्वन्समन्वारब्धा…वै० सू० १६।१७

सदः प्रसृप्स्यन्तो धिष्ण्यान्नमस्कुर्वन्ति धिष्ण्येभ्यो नमो नम इति। वै० सू० १८।११

४. ऐन्द्राग्नमुस्रमनुसृष्टमालभेत यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबेत्…गो० ब्रा० २।१।१६

५. सोमेन यक्ष्यमाण ऐन्द्राग्नमुस्रमालभेत यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबेत्॥ वै० सू० ११।१

६. आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत्…गो० ब्रा० २।१।२

७. मख इत्येतद्यज्ञनामधेयं छिद्रप्रतिषेधसामर्थ्याच्छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधो मा यज्ञं छिद्रं करिष्यतीति…गो० ब्रा० २।२।५

८. देवा वा ओषधीषु पक्वास्वाजिमयुः स इन्द्रोऽवेदग्निर्वावेमाः प्रथम उज्जेष्यतीति… गो० ब्रा० २।१।१७

अथादित्याश्चाङ्गिरसश्च शंसत्यादित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यः…गो० ब्रा० २।६।१४ से २।६।१५ तक

पर ढाल लेता है। किंतु इसकी इन सबसे बड़ी मौलिकता तो इस बात में है कि यह इन ब्राह्मणों में से उद्धृत मन्त्रों को आथर्वणिकता के सांचे में ढाल लेता है। इस प्रकार २. १. १ के, जो कौ० ब्रा० ६. १३ से लिया गया है, मन्त्र 'इदमहमर्वावसोः' को इसने 'इदमहमर्वाग्वसोः' में बदल दिया है, (कौशि० ३. ७; १३७. ३९)[1]; स्तोम-भाग आख्यान, गो० ब्रा० २. ३. १३ तै० सं० २. ५. २. १[2]. के 'तस्माद् वासिष्ठो ब्रह्मा कार्यः' को छोड़ देता है; क्योंकि इसका ब्रह्मन्-ऋत्विज् का आदर्श 'भृग्वङ्गिरोविद्' है। इस प्रकार के अन्य अनुकूलन, जो यहाँ-वहाँ चतुराई से भरपूर हैं, किंतु प्रायशः निचले स्तर के हैं, निम्न विश्लेषण से स्पष्ट हो जायँगे।

६६. *पूर्व ब्राह्मण*—गोपथ ब्राह्मण के पूर्वभाग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह वैतान सूत्र के 'यज्ञ-क्रम' का तनिक भी अनुसरण नहीं करता; साथ ही इसका मुख्य ध्येय भी श्रौत यागों के सामान्य प्रकारों की व्याख्या करना नहीं है। उत्तर ब्राह्मण की तरह यह भी बाहर से अपनी सामग्री बटोरता है। किंतु इसका प्रधान स्रोत शतपथ ब्राह्मण का ११ वाँ और १२ वाँ काण्ड है। चतुर्थ प्रपाठक के प्रारम्भ से लेकर १. ५. २२[3] तक का ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण के १२ वें काण्ड की पुनरुक्ति प्रतीत होता है। इसका विषय वर्ष के सत्र एवं सोम याग के स्वरूपों का रहस्यपूर्ण एवं आध्यात्मिक वर्णन करना है। भले ही गोपथब्राह्मण में शब्दों तथा प्रासंगिक मन्त्रों की दृष्टि से कुछ स्वतन्त्रता सी हो, तो भी इस भाग में न तो स्वतन्त्र अथर्व-शाखा की परंपरा का ही प्रश्न उठता है, और न दोनों भागों में समान रूप से विवेचित विषय को किसी अन्य पूर्ववर्ती स्रोत का ही बताया जा सकता है। गोपथ ब्राह्मण खुले शब्दों में शतपथ ब्राह्मण के विषयों को लेता है; पर कभी-कभी यह उनमें आथर्वणिक चिह्नों को मिला देता है, जो इस ग्रन्थ में सुस्पष्ट हैं : चतुर्थवेद की प्रशंसा, अथर्वन्, अङ्गिरस्, भृगु आदि का उल्लेख, और इसी तरह की अन्य बातें; देखिये गो० ब्रा० १. ४. २४; ५ १०, ११, १५, १९[4]। शुक्ल यजुर्वेद की शाखा पर वैतान के आश्रित होने से वैतान ३१-३४ में आये

---

१. तदन्वालभ्य जपतीदमहमर्वाग्वसोः सदने सीदाम्यृतस्य सदने सीदामि सत्यस्य सदने सीदामीष्टस्य सदने सीदामि पूर्तस्य···कौ० सू० ३।७ इत्यादि।

२. ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यन्तं वसिष्ठः···तस्माद्वासिष्ठो ब्रह्मा कार्यः···। तै० सं० ३।५।२।१

३. ओमयं वै यज्ञो योऽयं पवते तमेत ईप्सन्ति ये संवत्सराय दीक्षन्ते तेषां गृहपतिः प्रथमो दीक्षते···गो० ब्रा० १।४।१···१।५।२२ तक

४. प्रेदिर्ह वै कौशाम्बेयः कौसुरुबिन्दुरुद्दालक आरुणौ ब्रह्मचर्यमुवास···गो० ब्रा० १।४।२४
देवा ह वै सहस्रसंवत्सराय दिदीक्षिरे तेषां पञ्च शतानि संवत्सराणां पर्युपेतान्यासन्नथेदं सर्वं शश्राम···वही १।५।१०
पुरुषं ह वै नारायणं प्रजापतिरुवाच यजस्व यजस्वेति स होवाच यजस्व यजस्वेत्येवं ह्यात्थ मा त्रिरपि व्रत मे वसवः···वही १।५।११

सत्र के विवरण में कुछ साम्य आ जाता है, किंतु इसमें श० ब्रा० १२ की अपनी संहिता (वाज० सं०) के संबन्ध जैसा निकट संबन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण का केवल ११ वाँ काण्ड और ऐ० ब्रा० के १ या २ खण्ड गोपथ ब्राह्मण ने लिये हैं : १. ३. २[1] : ऐ० ब्रा० ५. ३२. ३[2];–१. ३. ३[3] : ऐ० ब्रा० ५. ३२. ५[4];–३३. ४;–१. ३. ४[5] : ऐ० ब्रा० ५. ३१. १[6];–१. ३. ६–१०[7] : श० ब्रा० ११. ४. १[8];–१. ३. ११, १२[9] : श० ब्रा० ११. ५. ३. १–७[10];–१. ३. १३, १४[11] : श० ब्रा० ११. ५. ३. ८[12];=१. ३. १८[13] : ऐ० ब्रा० ७. १. १[14]।

अथ संस्थिते संस्थिते सवने वाचयति मयि भर्गो मयि महो मयि यशो मयि सर्वमिति पृथिव्येव भर्गोऽन्तरिक्षं एव'''वही ११५११५

स यदाह मयि यश इति दिवमेवैतल्लोकानामाहादित्यं देवानामादित्यान्देवान्देवगणानां जागतं छन्दसामुदीचीं दिशाम्'''वही ११५११९

१. प्रजापतिर्यज्ञमतनुत स ऋचैव हौत्रमकरोद्यजुषाध्वर्यवं साम्नौद्गात्रमथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वं तं वा एतं महावाद्यं कुरुते'''गो० ब्रा० ११३१२

२. स प्रजापतिर्यज्ञमतनुत तमाहरत्तेनाजयत स ऋचैव हौत्रमकरोत्'''ऐ० ब्रा० ५१३२१३

३. तदु ह स्माह श्वेतकेतुरारुणेयो ब्रह्माणं पृष्ट्वा भाषमाणमर्धं मेऽस्य यज्ञस्यान्तरगादिति तस्माद् ब्रह्मा स्तुते'''गार्हपत्ये जुहुयाद्यदि यजुष्टओं भुवो जनदिति'''गो० ब्रा० ११३१३

४. गार्हपत्ये जुहुवाथ यदि यजुष्टो भुव इत्याग्नीध्रीये'''ऐ० ब्रा० ५१३२१५ इत्यादि

५. तद्यदौदुम्बर्यां म आसिष्ट हिङ्ङकार्षीन्मे प्रास्तावीन्म'''गो० ब्रा० ११३१४

६. उद्यन्नु खलु वा आदित्य आहवनीयेन रश्मीन्संदधाति'''ऐ० ब्रा० ५१३११

७. उद्दालको ह वा आरुणिरुदीच्यान्वृतो धावयांचकार'''गो० ब्रा० ११३१६ से ११३११० तक

८. उद्दालको हारुणिः। उद्दीच्यान्वृतो धावयाञ्चकार तस्य निष्क'''शत० ब्रा० ११।४।१

९. अथ ह प्राचीनयोग्य आजगामाग्निहोत्रं भवन्तं पृच्छामि गौतमेति। पृच्छ गो० ब्रा० ११३१११

स होवाच रौद्रं मे गवीडायां मानव्यमुपहूतायां वायव्यमुपसृष्टायां वैराजं वत्समुन्नीयमानं जागतमुन्नीतमाश्विनं दुह्यमानं सौम्यम्'''गो० ब्रा० ११३११२

१०. शौचेयो ह प्राचीनयोग्यः। उद्दालकमारुणिमाजगाम ब्रह्मोद्यमग्निहोत्रं विविदिषामीति॥ शत० ब्रा० ११।५।३।१ से ११।५।३।७ तक

११. एवमेवैतद्भो यथा भवानाह पृच्छामि त्वेव भवन्तमिति पृच्छ प्राचीनयोग्येति यस्य सायमग्नय उपसमाहिताः स्युः'''गो० ब्रा० ११३११२

एवमेवैतद्भो भगवन्यथा भवानाहोपयामि त्वेव भवन्तमित्येवं चेन्नावक्ष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यदिति हन्त तु ते तद्वक्ष्यामि'''गो० ब्रा० ११३११४

१२. प्रक्ष्यामि त्वेव भगवन्तमिति पृच्छैव प्राचीनयोग्येति स होवाच'''शत० ब्रा० ११।५।३।८

१३. अथातः सवनीयस्य पशोर्विभागं व्याख्यास्याम उद्धृत्यावदानानि हनू सजिह्वे प्रस्तोतुः कण्ठः। गो० ब्रा० ११३११८

१४. अथातः पशोर्विभक्तिस्तस्य विभागं वक्ष्यामः। ऐ० ब्रा० ७।१।१

पूर्व ब्राह्मण के अन्तिम तीन खण्ड छन्दोबद्ध हैं और स्वरूप में परिशिष्टों से मिलते-जुलते हैं। निःसंदेह वे एक लेखक की रचना नहीं हैं; उनका यज्ञ की व्यक्तिक क्रियाओं पर विनियोग नहीं होता; उलटे, वे तो वैदिक ज्ञान एवं यज्ञ आदि के विषय में आथर्वण लोगों की क्या स्थिति थी एवं इनके विषय में उनकी क्या धाराणाएँ थीं इन बातों का वर्णन करते हैं; और यह इस लिये कि इसका मुख्य उद्देश्य अपने अथर्ववेद की व्याख्या एवं प्रशंसा करना रहता है। सच पूछो तो सारे ही पूर्व भाग का मुख्य विषय यही है; वे विभिन्न विषय जो पहले तीन प्रपाठकों में वर्णित है, भी इस विषय से संबद्ध है, चाहे वे सृष्टि-संबन्धी हों, चाहे उपनिषद्-शैली की ऊहाएँ हों, चाहे याज्ञिक विवरणों की व्याख्याएँ हों, चाहे व्याकरण के विषय (१. १. २४-२८)[1] अथवा चरण-व्यूह की शैली के विवरण (१. १. २९)[2] हों। हर बात में हर मौके पर अथर्ववेद को एवं चौथे पुरोहित को आगे लाना, जिसके लिये भृग्वङ्गिरोविद् होना अनिवार्य होता था, और चतुर्थवेद के बिना निष्पन्न हुए सभी अनुष्ठानों को असफल एवं लचर सिद्ध करना ही निर्विवाद रूप से अथर्व-ब्राह्मण की रचना का मौलिक उद्देश्य रहा था। प्रत्येक चतुष्ठयी रचयिता या रचयिताओं के पास देवप्रेषित वरदान था; चाहे यह चतुष्पाद् पशु हो (१. २. २४); चार छन्द हों, (प्रायशः) चार मात्राओं में आडम्बरपूर्ण ढंग से विभक्त पवित्र अक्षर 'ओम्' हो (१. १. १६)[3]; पार्थिव चतुष्टय—पृथ्वी और अग्नि, अन्तरिक्ष और वायु, आकाश और सूर्य; चन्द्र और जल (१. १. २९) हों, अथवा मनः शरीर-संबन्धी चतुष्टय वाणी, प्राण, दृष्टि और मन (१. २. ११[4]; ३. १४[5]) हों; इन सभी का चतुर्थवेद की स्वाभाविक आवश्यकता एवं प्राथमिकता को सिद्ध करने के लिये सहारा लिया गया है जैसा कि १. १. १६ में साफ शब्दों में कहा गया है। इतने ही से संतुष्ट न होकर कभी कभी, और वह भी खुले शब्दों में, (१. २. २१, २४; ५. १०[6]; तुल० १. १. ७

---

१. ओंकारं पृच्छामः को धातुः किं प्रातिपदिकं किं नामाख्यातं किं लिङ्गं किं वचनं का विभक्तिः कः प्रत्ययः कः स्वर उपसर्गो निपातः···गो० ब्रा० १।१।२४ से १।१।२८ तक

२. किं देवतमित्यृचामग्निर्देवतं तदेव ज्योतिर्गायत्रं छन्दः पृथिवी स्थानमग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारम्···गो० ब्रा० १।१।२९

३. स ब्रह्मचर्यमचरत्स ओमित्येतदक्षरमपश्यद् द्विवर्णं चतुर्मात्रं सर्वव्यापि··· गो० ब्रा० १।१।१६

४. प्राणापानाभ्यामेवाध्वर्युराध्वर्यवं करोति प्राणप्रणीतानि ह भूतानि प्राणप्रणीताः प्रणीतास्ते ब्रूमः प्राणापानावेवाध्वर्युः प्राणापानौ ब्रह्म। गो० ब्रा० १।२।११

५. यो ह वा एवं विद्वानश्नाति च पिबति च प्राणस्तेन तृप्यति प्राणे तृप्ते वायुस्तृप्यति वायौ तृप्ते ऽन्तरिक्षं तृप्यत्यन्तरिक्षे तृप्ते···गो० ब्रा० १।३।१४

६. तस्य तत्प्राणस्तनूं ज्येष्ठां दक्षिणां निरमिमत तां पञ्चस्वपश्यदृचि यजुषि साम्नि शान्तेऽथ घोरे···गो० ब्रा० १।२।२१

तथा १. १. ३[1] से भी) अथर्ववेद को दो भागों अर्थात् शान्त = अथर्वन् और घोर = अङ्गिरस्, में विभक्त करके चार वेदों के पाँच वेद कर दिये गये हैं। और तब इस प्रकार विभक्त हुए ये दोनों वेद लेखक के मन में इतने पक्के बन गये हैं कि वह इन दोनों को पृथक् पृथक् व्याहृतियों से संयुक्त कर देता है : 'ओम्' अथर्व के लिये और 'जनत्' अङ्गिरस् के लिये और त्रयी की व्याहृतियों (भूः, भुवः और स्वः) की रक्षा (गुप्) के लिये इन दोनों के मध्य रख देता है। इस प्रदर्शन के लिये बहुत से दाँव-पेंच खेले गये हैं : जैसे श० ब्रा० १२. २. २. २०[2] के 'चतुष्पादः पशवः' के स्थान पर गो० ब्रा० १. ४. २४[3] 'चत्वारो वेदाः' इस पाठ को अपनाता है और श० ब्रा० १२. ३. ३. २५ के तीन वेदों के स्थान पर गो० ब्रा० १. ५. १० पाँच वेदों को स्वीकार करता है। निःसंदेह गोपथ ब्रा० अथर्ववेद एवं इसके नियोजकों को व्यापक धर्म (सर्व-विद्या) के अर्थ में ब्रह्म से जोड़ता है और विश्वजनीन परमार्थज्ञानी (सर्व-विद्) के अर्थ में ब्रह्मा को उभारता है। यह बात १. २. १८; ५. ११, १५, १९[4] से स्पष्ट हो जाती है। देखिये, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट ४२, पृ० ५२; ऊपर ३३।

यद्यपि पूर्व भाग में उत्तर भाग के विपरीत, शैली तथा विषय-वस्तु की दृष्टि से एक तात्त्विक एवं ओजःपूर्ण स्वतन्त्रता दीख पड़ती है, यद्यपि उत्तर ब्राह्मण के समान यह उतनी मात्रा में और उतनी निर्लज्जता के अन्य ग्रन्थों से अपने उद्धरण नहीं बटोरता, और यद्यपि इसका काम किसी दूसरे आथर्वणिक ग्रन्थ का अनुसरण या व्याख्या करना भी नहीं है फिर भी हम निर्विवाद रूप से

या वेदे व्यष्टिरासीत्तां पञ्चस्वपश्यन्नृचि यजुषि साम्नि शान्तेऽथ घोरे
ता वा एताः पञ्च व्याहृतयो'''गो० ब्रा० १।५।१०

१. श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत्सोऽङ्गरसोऽभवत्तं वा एतमङ्गरसं सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते'''गो० ब्रा० १।१।७
श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः संतप्ताभ्यो यद्रेत आसीत्तदभृज्यत तस्माद् भृगुः समभवत्तद् भृगोर्भृगुत्वम्'''गो० ब्रा० १।१।३

२. पञ्चपदा पङ्क्तिः पाङ्क्तो यज्ञः कति त्वेवेति चत्वारीति होवाच चत्वारि वा इति होवाच चत्वारो वै वेदा वेदैर्यज्ञस्तायते'''गो० ब्रा० १।४।२४

३. कति त्वेवेति। चत्वार इति होवाच चत्वारि वा ऽइति होवाच चतुष्पादाः पशवः पशवो यज्ञः'''शत० ब्रा० १२।२।२।२०

४. या वेदे व्यष्टिरासीत्तां व्याश्नुवतायातयामा वाऽस्य वेदा ऽअयातयाम्न्या हास्य त्रय्या विद्ययार्त्विज्ज्यङ् कृतम्भवति य ऽएवमेतद्वेद ॥ शत० ब्रा० १२।३।३।२

५. प्रजापतिर्वेदानुवाचाग्नीनादधीयेति तान्वागभ्युवाचाश्वो वै संभाराणामिति तं घोरात्क्रूरात्सलिलात्सरस उदानिन्युः'''गो० ब्रा० १।२।१८
पुरुषं ह वै नारायणं प्रजापतिरुवाच यजस्व यजस्वेति स होवाच यजस्व यजस्वेत्ये हात्थ मा त्रिरपि क्षत मे वसवः'''गो० ब्रा० १। ५।११ इत्यादि

कह सकते हैं कि यह एक बहुत बाद की रचना है; अत्यन्त परवर्ती कौशिक-सूत्र, वैतान-सूत्र तथा २० काण्डों की शौनकीय संहिता हमेशा इसके सामने, अपने वर्तमान रूप में, विद्यमान रहते हैं। इसके विषय भी किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है, जैसा कि प्रारम्भिक सर्ग-रचना के आरम्भिक वर्णन १. १. १-१५[1] की द्वितीय भागीय १. १. १६-३०[2] तथाकथित प्रणव उपनिषद् से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है। खण्ड १. २. ८[3] शिव देवता का उल्लेख करता है और यह, हो न हो, पौराणिक है। खण्ड १. १. २८[4] एक दुष्ट देवता 'दोषपति' का उल्लेख करता है जो द्वापर युग के प्रारम्भ में ऋषि के रूप में आते हैं; इसे देखकर हमें बौद्ध दानव 'मार' दूषिन् की याद आ जाती है। खण्ड १. १. २५-२७[5] में विकसित कोटि का व्याकरणीय विषय है; १. १. २. ९[6] चरण-व्यूह के ढंग का है और निश्चित रूप से बहुत बाद का है। इस बात को प्रमाणित करना आसान है कि पूर्व ब्राह्मण वैतान से बाद का है, जैसे वैतान कौशिक के बाद का है। वैतान ५. १०[7] दो प्रकार की वनस्पतियों का उल्लेख करता है एक आथर्वणिक जो माङ्गलिक एवं पवित्र हैं और दूसरी आङ्गिरस जो भयंकर एवं आभिचारिक हैं। दूसरी वनस्पतियों की, जो कौशिक को अज्ञात हैं, पूरी तालिका दी गई है, जब कि पहली, जिनका कौशिक ८. १६[8] में वर्णन किया गया है, इन शब्दों से उल्लिखित हैं—'चित्यादिभिराथर्वणीभिः'। गो० ब्रा० १. २. १८[9], कौशिक तथा वैतान दोनों ही जिसके सामने हैं, दोनों वर्गों को 'आथर्वणीभिश् चाङ्गिरसीभिश्च' यह कह कर सूचित करता है। यदि पहले आये पाठ को सामने न रखा जाय तो गोपथ

१. ओ० ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्स्वयंभ्वेकमेव तदैक्षत···
गो० ब्रा० १।१।१ से १।१।१५ तक

२. ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे स खलु ब्रह्मा सृष्टश्चिन्तामापेदे केनाहमेकेनाक्षरेण···
गो० ब्रा० १।१।१६ से १।१।३० तक

३. प्राणापानौ जनयन्निति शङ्खस्य मुखे महर्षेर्वसिष्ठस्य पुत्र एतां वाचं ससृजे···
गो० ब्रा० १।२।८

४. असमीक्ष्यप्रवल्हितानि श्रूयन्ते द्वापरादावृषीणामेकदेशो दोषपतिरिह चिन्तामापेदे त्रिभिः सोमः पातव्य समाप्तमिव भवति···१।१।२८

५. किमयमोंकारः कस्य पुत्रः किं चैतच्छन्दः किं चैतद्वर्णः···
गो० ब्रा १।१।२५ से १।१।२७ तक

६. किंदेवतमित्यृचामग्निर्देवतं तदेव ज्योतिर्गायत्रं छन्दः पृथिवी स्थानमग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधातमम्···गो० ब्रा० १।१।२९

७. उपसि शान्त्युदकं करोति चित्यादिभिराथर्वणीभिः···वै० सू० ५।१०

८. चितिप्रायश्चित्तिशमीशमका···व्रीहियवाः शान्ताः। कौ० सू० ८।१६

९. प्रजापतिर्वेदानुवाचाग्नीनादधीयेति तान्वागभ्युवाचाश्वो वै संभाराणामिति तं घोरात्क्रूरात्सलिलात्सरस उदानिन्युः। गो० ब्रा० १।२।१८

का यह कथन दुर्बोध बन जाता है। एक बात और; उत्तर की भाँति पूर्व भाग भी, जहाँ तक मन्त्रों का संबन्ध है, कभी-कभी वैतान को संहिता के रूप में लेता है। इस प्रकार गो० ब्रा० १. १. १२[1], वैतान १०. १७ में दिये पैप्पलाद सूक्त के इस पाद को उद्धृत करता है—'अग्निर्यज्ञं त्रिवृतं सततन्तुम्'; साथ ही गो० ब्रा० १. २. १८ (अन्त) वैतान ६. १[2] के पाँच मन्त्रों को प्रतीक द्वारा उद्धृत करता है। अन्ततः, विषय एवं शब्दों के ऐक्य के अलावा (जैसे गो० ब्रा० १. ३. ११, १२)[3] गोपथ ब्राह्मण कभी-कभी ऐसे ब्राह्मण उपस्थित करता है, जो वैतान पर बाद में लिखी गई टिप्पणियाँ प्रतीत होते हैं। इस प्रकार 'एकगु' नामक अग्निष्टोम का वर्णन करते समय गो० ब्रा० १. ३. १७ को वैतान २४. २० पर टीका मात्र माना जा सकता है; या गो० ब्रा० १. २. १८ (उत्तरार्ध) में एक आथर्वणिक आख्यान है, जो साफ तौर से वैतान ५. १० के आधार पर एवं अप्रत्यक्ष रूप से कौशिक सूत्र ८[4] और ९ के आधार पर खड़ा किया गया है।

यह सब कुछ होने पर भी पूर्व ब्राह्मण की अपनी एक विशिष्ट मौलिकता है। सृष्टि-वर्णन १. १. १–१५[5]; प्रणव उपनिषद् १. १. १६–३०; गायत्री उपनिषद् १. १. ३१–३८; ब्रह्मचारी के कर्तव्यों के विषय में खण्ड (अथ० ११. ५[6] को दुहराते हुए) १. २. १–९;[7] अग्न्याधान में अग्नि-चरण अश्व का ब्राह्मण १. २. १८–२१, जहाँ १. २. २१ के अन्त में अनेक मौलिक शब्द हैं; तथा और बहुत से खण्ड अनूठे पाडित्य का परिचय देते हैं, जो अन्यत्र ऐसे विदग्ध रूप में मिलना कठिन है। १. २. १०[8] में गौण रचनाओं की सूची (संस्करण के १. २. ९ में) यह

१. अग्निर्यज्ञं त्रिवृतं सप्ततन्तुमित्यथाप्येष प्राक्रीडितः श्लोकः प्रत्यभिवदति
सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञा इति। गो० ब्रा० १।१।१२

२. यदस्कन्दः प्रथमं जायमान ··वै० सू० ६।१

३. गो० ब्रा० १।३।११,१२ के लिए पृष्ठ १७३

४. पुरस्ताद्धोमवत्सु निशाकर्मसु पूर्वाह्णे यज्ञोपवीती शालानिवेशनम्...कौ० सू० ८
अश्वयो यन्ति शम्भूमयो भू हिरण्यवर्णा निस्सालाम्'''कौ० सू० ९

५. अथेह प्राचीनयोग्य आजगाम'''गो० ब्रा० १।१।१,१५

६. ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं१ तपसा पिपर्ति॥ अथ० ११।५।१

७. ओं ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे इत्याचार्यमाह तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्तीति वायुमाह स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रमित्यादित्यमाह'''गो० ब्रा० १।२।१ से १।२।९ तक

८. एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्यानाः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्यास्तेषां यज्ञमभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं यज्ञ इत्येवाचक्षते॥
गो० ब्रा० १।२।१०

मान लेने पर भी कि यह बाद में बनी है, अपने इस क्रम और विवरण में अन्यत्र नहीं मिलती। १. ५. ७[1] में दिया यज्ञक्रम का विवरण स्वतन्त्र दीख पड़ता है। यों तो दूसरे ग्रन्थों से तुलना करने पर कोई भी वैदिक ग्रन्थ ऐसा नहीं निकलेगा जिसमें एकान्ततः स्वतन्त्र मन्त्रों और गद्यखण्डों की कमी हो अथवा एकान्ततः समान मन्त्रों के पाठान्तर न हों। इस बात में पूर्व ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मणों जैसा ही है: १. १. ९[2] में उपनिषद् जैसा एक मन्त्र है (श्रेष्ठो ह वेदस्) जि की सायण अपनी अथर्ववेद भाष्यभूमिका में कुछ पाठान्तर के साथ पुनरावृत्ति करते हैं; किंतु यह मन्त्र अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। १. १. ३९[3] में प्रतीक 'आपो गर्भं जनयन्तीः' अथर्ववेद ४. २. ८[4] (पैप्पलाद १) का पाठ प्रतीत हो रहा है। १. २. ७[5] में एक प्रायश्चित्त मन्त्र है, जो ब्रह्मचारियों द्वारा श्मशान भूमि में पैर रखने पर पढ़ा जाता है; इसे अन्य प्रायश्चित्त-मन्त्रों से जोड़ा जाता है, जो गो० ब्रा० के साथ-साथ वैतान १२. ८. ९[6] में मिलते हैं। उसी खण्ड १. २. ७[7] के अन्त में अथर्ववेद ११. ५. २३[8] पैप्पलाद रूप में सकल पाठ में उद्धृत है। इसी प्रकार 'चत्वारि शृङ्गाः' (ऋ० ४. ५८. ३[9] के शृङ्गा के लिये) यह पाठ भी १. २. १६[10] में है। १. २.

---

१. अथातो यज्ञक्रमा अग्न्याधेयमग्न्याधेयात्पूर्णाहुतिः पूर्णाहुतेरग्निहोत्रमग्निहोत्रा-
दर्शपूर्णमासौ दर्शपूर्णमासाभ्यामाग्रयणमाग्रयणाच्चातुर्मास्यानि'''गो० ब्रा० १।५।७

२. अहं किं च मनसा ध्यास्यामि तथैव तद्भविष्यति तद्ध स्म तथैव भवति
तदप्येतदृचोक्तं श्रेष्ठो ह वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्यानां क्षितये संबभूव'''१।१।९

३. आपो गर्भं जनयन्तीरित्यपां गर्भः पुरुषः स यज्ञोऽद्भिर्यज्ञः प्रणीयमानः प्राङ् तायते
तस्मादाचमनीयं पूर्वमाहारयति स यदाचामति त्रिराचामति'''गो० ब्रा० १।१।३९

४. आपो॑ व॒त्सं ज॒नय॑न्ती॒र्गर्भ॑म॒ग्रे समै॑रयन् । अथ० ४।२।८

५. नोपरिशायी स्यान्न गायनो न नर्तनो न सरणो न निष्ठीवेद्यद्युपरिशायी भवत्यभीक्ष्णं
निवासा जायन्ते यद्गायनो भवत्यभीक्ष्णश आक्रन्दान्धावते'''गो० ब्रा० १।२।७

६. यदत्रापि मधोरहं निरष्टविषमस्मृतम् ।
अग्निश्च तत्सविता च पुनर्मे जठरे धत्तामिति जाम्बीलस्कन्दन
आत्मानमनुमन्त्रयते । वै० सू० १२।८

७. देवानां परिपूतं यद्ब्रह्मचारी तदप्येतदृचोक्तं देवानामेतत्परिपूतमनभ्यारूढं
चरति रोचमानं तस्मिन्सर्वे पशवस्तत्र यज्ञास्तस्मिन्नन्नं सह देवताभिरिति
ब्राह्मणम् । गो० ब्रा० १।२।७

८. दे॒वाना॑मे॒तत्प॑रिपू॒तमन॑भ्यारूढं चरति॒ रोच॑मानम् ।
तस्मा॑ज्जा॒तं ब्राह्म॑ण॒ ब्रह्म॑ ज्ये॒ष्ठं दे॒वाश्च॒ सर्वे॑ अ॒मृते॑न सा॒कम् ॥ अथ० ११।५।२३

९. च॒त्वारि॒ शृङ्गा॒ त्रयो॑ अस्य॒ पादा॒ द्वे शी॒र्षे स॒प्त हस्ता॑सो अस्य ।
त्रिधा॑ ब॒द्धो वृ॑ष॒भो रो॑रवीति म॒हो दे॒वो मर्त्या॒ँ आ वि॑वेश ॥ ऋ० ४।५८।३

१०. चत्वारि शृङ्गा'''आविवेशेति चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्तास्त्रयो
अस्य पादा इति सवनान्येव द्वे शीर्षे इति ब्रह्मौदनप्रवर्ग्यावेव सप्त हस्तासो

९[1] में मन्त्र 'अन्तरिक्षे पथिभिः' इत्यादि अपने समानान्तर ऋ० १०. १६८. ३[2] की तुलना में विशेष प्रकार के पाठान्तर सामने रखता है; १. ३. १३[3] के गद्यखण्ड वैतान में नहीं मिलते और वे शतपथ ब्रा० ११. ५. ३. ८[4] के समानान्तर अंशों से भी भिन्न हैं; १. ५. ५[5] के अन्त में दो मन्त्र श० ब्रा० १२. ३. २. ७–८[6] की तुलना में पाठान्तर उपस्थित करते हैं और दूसरी जगह कहीं नहीं मिलते। सबसे बढ़कर तो १. ५. १२[7] में तीन दैनिक सोमाहुतियों के मन्त्र ('श्येनोऽसि' इत्यादि) न केवल शत ब्रा० १२. ३. ४. ३. ५[8] के समानान्तर अंशों से ही भिन्न है, अपितु शौनकीय संहिता के मन्त्रों (अथ० ६. ४८)[9] से भी भिन्न हैं; और जहाँ तक ज्ञात है इन मन्त्रों के सभी पाठों से भिन्न हैं। पूरे ग्रन्थ में तीन छन्दोबद्ध अध्यायों १. ५. २३–२५[10] को छोड़कर, श्लोक तथा अन्य छन्दोबद्ध अनुच्छेद

अस्येति छन्दांस्येव त्रिधा बद्ध इति कल्पो ब्राह्मणं वृषभो रोरवीति···

गो० ब्रा० ११२११६

१. अन्तरिक्षे पथिभिर्ह्रीयमाणो न नि विशते कतमच्च नाहः। अपां योनिः प्रथमजा ऋतस्य क्व स्विज्जातः कुत आ बभूवेति···गो० ब्रा० ११२१९

२. अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः।
अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्जातः कुत आ बभूव ॥ ऋ० १०।१६८।३

३. एवमेवैतद्भो यथा भवानाह पृच्छामि त्वेव भवन्तमिति पृच्छ प्राचीनयोग्येति यस्य सायमग्नय उपसमाहिताः सर्वे ज्वलयेयुः···गो० ब्रा० ११३ १३

४. प्रक्ष्यामि त्वेव भगवन्तमिति पृच्छैव प्राचीनयोग्येति···शत० ब्रा० ११।५।३।८

५. तदप्येतदृचोक्तं श्रमादन्यत्र परिवर्तमानश्चरन्वासीनो यदि वा स्वपन्नपि।
अहोरात्राभ्यां पुरुषः क्षणेन कति कृत्वः प्राणिति चापानिति च शतं शतानि परिवत्सराणामष्टौ च शतानि संवत्सरस्य मुहूर्तान्यान्वदन्त्यहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन कति कृत्वः प्राणिति चापानिति चेति ब्राह्मणम् ॥ गो० ब्रा० ११५१५

६. तदेषश्श्लोकोऽभ्युक्तः। श्रमादन्न्यत्र परिवर्त्तमानस्तिष्ठन्नासीनो यदि वा स्वपन्नपि ॥
अहोरात्राभ्याम्पुरुषः समेन कति कृत्व प्प्राणिति चाप चानितीति ॥ तदेष श्श्लोकः प्प्रत्युक्तः। शतानि पुरुष समेनाष्टौ शता यन्मिमतन्तद्वदन्ति ॥ अहोराब्राभ्याम्पुरुषः समेन तावत्कृत्वः प्प्राणिति चाप चानितीति ॥ शत० ब्रा० १२।३।२।७–८

७. श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वारभे स्वस्ति मा सं पारयेति स यदाह श्येनोऽसीति सोमं वा एतदाहैष ह वा अग्निर्भूत्वास्मिंल्लोके···गो० ब्रा० ११५११२

८······श्श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा ऽअनु त्वारभे स्वस्ति मा सम्पारयेति ॥ शत० ब्रा० १२।३।४।३ से १२।३।४।५ तक

९. श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वा रभे। स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥
अथ० ६।४८।१ इत्यादि ३ मन्त्र

१०. सायंप्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः।
बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुः ॥ गो० ब्रा० ११५१२३ से ११५१२५ तक

इतने स्पष्ट रूप में आथर्वणिक हैं कि वे प्राचीन ग्रन्थों से लिये गये नहीं माने जा सकते : यथा १. १. ३२[1] अन्त; तुल० २. २. ५)। उनका परिशिष्ट जैसा स्वरूप और मौलिकता समान रूप से स्पष्ट हैं।

गोपथ ब्राह्मण के विषयों का निम्न वर्णन ग्रन्थ के खण्डों के अनुसार है। अल्पाधिक मौलिक विषयों का विवेचन विस्तार से किया गया है। किंतु उन भागों पर, जो अन्य ब्राह्मणों से विना परिवर्तन के अथवा अल्प परिवर्तन के साथ ले लिये गये हैं, कम प्रकाश डाला गया है। ऐसे स्थलों पर स्रोत का उल्लेख-मात्र कर दिया गया है।

(ख) पूर्व ब्राह्मण का विषय

६७. *प्रथम प्रपाठक*—१. १. १–१५ उपनिषत्-पद्धति में आथर्वणिक सृष्ट्युत्पत्ति-वर्णन—एकाकी ब्रह्म एक दूसरे देवता के निर्माण का निश्चय करता है। तपस् के द्वारा ब्रह्म की भ्रू पर स्वेद उत्पन्न होता है। श्लेष के द्वारा रहस्यमय ढंग से यह इसे सुवेद 'उत्तम ज्ञान' का रूप देता है; और इस प्रकार ब्रह्मवेद की ओर इशारा करता है; निरन्तर तपस् के कारण ब्रह्म के लोम-रन्ध्रों से स्वेद की धाराएँ फूट पड़ती हैं, तब ब्रह्म इन सबको धारण करने (धारयिष्यामि), उत्पन्न करने (जनयिष्यामि), और प्राप्त करने (आप्स्यामि) का निश्चय करते हैं। असङ्ग श्लेषों की लम्बी श्रृङ्खला के द्वारा जल की ('आपः, आप्स्यामि' पर श्लेष के साथ) उत्पत्ति होती है; जल अथर्वन् का अपना तत्त्व है, जिस प्रकार इसके देवता चन्द्र हैं (२)। इन जलों में ब्रह्म अपना प्रतिविम्ब देखता है, उसका वीर्य जल में गिरता है। ब्रह्म जल को तब तक पीटता ही जाता है जब तक वह दो भागों में अर्थात् क्षार, अपेय महासागर और मधुर जल में विभक्त नहीं हो जाता। मधुर जल के तप्त हो जाने पर वीर्य सूख जाता है (अभृज्यत); और लीजिये, आथर्वणिक महर्षि भृगु उत्पन्न हो जाते हैं (३)। ब्रह्म अन्तर्धान हो जाता है; इसके पीछे भृगु सभी दिशाओं में चक्कर लगाने लगते हैं; वह तब तक इसकी खोज में फिरते रहते हैं जब तक कि वायु (वात) अपने शब्द द्वारा उन्हें नीचे के जल में (अथार्वाङ्) देखने को नहीं कहता। अथ अर्वाङ् के आधार पर वे अथर्वन् कहलाये; वे ठीक ब्रह्म के समान थे (४)। ब्रह्म अथर्वन् को एकर्च, द्व्यृच आदि १० अथर्वन् ऋषियों तथा एकादश 'द्वादश' आदि १० आथर्वण आर्षेयों में रच देते हैं; ये अथर्ववेद के २० काण्डों के प्रतीक माने जा सकते हैं। इन्हीं से

---

१. स तत्राजगाम यत्रेतरो बभूव तं ह पप्रच्छ स ह न प्रतिपेदे तं होवाच......गो० ब्रा० १।१।३२

२. मख इत्येतद्यज्ञनामधेयं छिद्रप्रतिषेधसामर्थ्याच्छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधो मा यज्ञं छिद्रं करिष्यति'......गो० ब्रा० २।५।५

अथर्ववेद विकसा; अथर्ववेद से 'ओम्' अक्षर उत्पन्न हुआ, जो उपनिषदों की शैली में संपूर्ण अथर्ववेद के कृत्यों और विशेषताओं को अपने ऊपर ले सकता है (५)। अथर्ववेद के निर्माण के उपरान्त सृष्टि का कार्य प्रारम्भ होता है, जिसकी परिनिष्ठा, अपने देवताओं, तत्त्वों एवं व्याहृतियों के साथ त्रयी विद्या में होती है, अर्थात् ऋग्वेद, पृथ्वी, अग्नि और भूः (६) पैदा हो जाते हैं। जिस प्रकार ब्रह्म के वीर्य ने मधुर जल से भृगु तथा अन्त में अथर्वन् को उत्पन्न किया इसी प्रकार इसके बाद क्षारगुण वाले जल क्रमिक सृष्टि-प्रक्रिया द्वारा (श्लिष्टरूप में) समुद्र, वरुण, और मृत्यु को उत्पन्न करते हैं; और मृत्यु के अङ्गों में से उनके रस को निकालने पर अन्त में अङ्गिरस् उत्पन्न होते हैं। अङ्गिरस् की उत्पत्ति समुद्र के क्षार जल से, उसके बाद वरुण से, जो कि यहाँ निःसंदेह अपने विरल दानवीय अर्थ में (जैसे 'वृत्र') प्रयुक्त हैं, तथा अन्त में मृत्यु से इसलिये दिखाई गई है कि जिससे घोर आङ्गिरस के वेद का माङ्गलिक अथर्वन् और आथर्वणवेद से वैपरीत्य दिखाया जा सके, जिसे कि भृगु से उत्पन्न हुआ बताया गया है। भृगु का बहुधा अथर्वन् के स्थान पर प्रयोग मिलता है: भृग्वङ्गिरसः = अथर्वाङ्गिरसः (७)। अङ्गिरस् ऋषि से ब्रह्म २० अङ्गिरस् ऋषियों को और उनसे आङ्गिरस् आर्षेयों को उत्पन्न करता है। आङ्गिरस आर्षेय क्रमशः १६, १८, १२, १, ३, ४, ५, ६, २ और ७ ऋचाओं से मेल खाते हैं। किंतु ये संख्याएँ और यह क्रम क्यों है? आङ्गिरसवेद से 'जनत्' शब्द उत्पन्न होता है, जो उस वेद की व्याहृति है (८)। इसके बाद आङ्गिरसों की एक विशेष 'स्तुति' आती है, जो एक स्वतन्त्र मन्त्र द्वारा सुप्रथित है (९)। इसके बाद ब्रह्म छः दिशाओं से पाँच अन्य वेदों को और इनसे व्याहृतियों को उत्पन्न करता है: 'सर्पवेद' और 'वृधत्'; 'पिशाचवेद' और 'करत्'; 'असुरवेद' और 'गुहत्', इतिहासवेद और 'महत्'; 'पुराणवेद' और 'तद्' (१०)। निकट और दूर के प्रदेशों से वह 'शम्' को, जो ऊँचा अक्षर अर्थात् 'ऊर्ध्वम्' है निकालता है। यह, हो न हो, शान्तवेद की ओर संकेत है (११)। 'ब्रह्म' चन्द्र, नक्षत्रों, वनस्पतियों, वृक्षों तथा अपने अल्प-प्राणों से अन्य बहुत से देवताओं का निर्माण करता है और अन्त में २१ रूपों वाले 'त्रिगुण' 'सप्त-तन्तु-युक्त यज्ञ का आविर्भाव करता है। इस बात को यह ब्राह्मण वैतान १०. १७[1] में सकलपाठेन उद्धृत पैप्पलाद सूक्त के एक पाद को उद्धृत करके और गो० ब्रा० १. ५. २५[2] = श्लोकाध्याय की ओर संकेत करके स्पष्ट करता है (१२)। इसके बाद ब्रह्म एक यज्ञ की स्थापना करता है और उसमें कतिपय देवताओं को श्रौत पुरोहितों के रूप में चुनता है। इसमें अथर्ववेद के देवता चन्द्रमा ब्रह्मा-

१. नीयमाने प्रसुच्यमानहोमाञ्जुहुयात्······वै० सू० १०।१७

२. सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः। सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपि यन्ति नूतना यानृषयः सृजन्ति ये च सृष्टाः पुराणैः······गो० ब्रा० १।५।२५

ऋत्विक् बनते हैं; और अथर्वाङ्गिरसः, जो ब्रह्मा के ही विशिष्ट भेद हैं, 'गोप्तारः' के रूप में आविर्भूत हो जाते हैं। प्रजापति कहते हैं कि ऐसे ऋत्विजों को भरपूर दक्षिणा देनी चाहिये, जिससे ऋत्विक् यजमान और उसके बच्चों की क्षति न होने पावे (१३)। अन्त में ब्रह्मा पुरोहित का (और गोप्तारः का) यज्ञ में हो जाने वाली त्रुटियों (विरिष्ट) को शोधने (संधान) का कार्य निर्धारित किया गया है (१४. १५)। पूरे का पूरा सृष्टि-सूक्त मौलिक है; क्योंकि यह अथर्वन् को ऐसी किल्ली (धुर्) के रूप में उभारता है, जिसके चारों ओर रचनात्मक क्रिया-कलाप घूमते हैं; और अन्त में बड़ी चतुराई से इस बात की ओर बढ़ता है कि अथर्ववेदी ब्राह्मण का मुख्य उद्देश्य क्या होना चाहिये, अर्थात् ब्रह्मा पुरोहित की स्तुति करना, जिसके लिये कि अथर्ववेदी होना आवश्यक था।

६८. *प्रथम प्रपाठक १. १. १६–३०.*[1] *प्रणव उपनिषद्*—ओम् से रचित सृष्टि का विवरण—ओपेनखात नामक ५० उपनिषदों के फारसी अनुवाद में, जो १६५६ में सुल्तान मुहम्मद दारा शिकोह के लिये दिल्ली नगर में बनाया गया था, तथा जिसका एङ्क्वेतिल डुपोरन ने १८०१–२ में लैटिन में अनुवाद किया था, प्रनउ उपनिषद् ४८ वाँ है। वेबर ने भ्रमवश पहले प्रनउ को प्राण तथा 'प्राणाग्निहोत्र' उपनिषद् बताया (इ० स्तू० १. २४९; २८६) था, किंतु बाद में तुरत ही उन्होंने इसके 'प्रणव' नाम को मान (इ० स्तू० २. ३९४; ३९६; ३. ३. ३२६) कर इसका एक विवरण भी प्रस्तुत किया था, जो एङ्क्वेतिल के अनुवाद का संक्षिप्त रूपान्तर-मात्र था (इ० स्तू० ९. ४९)। सूचियों में एक स्वतन्त्र प्रणव उपनिषद् की हस्तप्रतियों का उल्लेख है, किंतु ये आज भी उपनिषद् के विद्यार्थियों के हाथ में नहीं आ पाई हैं। इस प्रकार डायसन को अपने उपनिषदों के नवीन अनुवाद (जेख्त्सिग उपनिषद्स् पृ० ८) में प्रनउ उपनिषद् को जर्मन में उपस्थित करने के लिये फारसी-लैटिन अनुवाद का ही आश्रय लेना पड़ा था, क्योंकि उनके समय में इसका संस्कृत-मूल नहीं मिल रहा था। तो भी प्रणव का संस्कृत-मूल प्राच्य-विद्याविदों के हाथ में बहुत वर्षों से अज्ञात रूप में पड़ा रहा है : यह गो० ब्रा० का एक अंश है, जो इस समय हमारे सामने है। गो० ब्रा० १. १६–३० की डायसन के अनुवाद से तुलना करने पर प्रकट हो जायगा कि दोनों संकलनों के पारस्परिक पाठान्तर नहीं के बराबर हैं; जो भेद हैं भी उनका कारण फारसी ग्रन्थ में मूल तथा टीका का मिल जाना है और डायसन के अनुवाद का अंशतः असंगत होना है। स्वतन्त्र उपनिषद् के रूप में प्रणव तीन ब्राह्मणों में विभक्त है, जो क्रमशः गो० ब्रा० के खण्ड १६–२२; खण्ड २३ और खण्ड २४–३० में है। इसके विषयों का निरूपण और गो० ब्रा० से इसकी तुलना रोचक सिद्ध होगी।

---

१. ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे स खलु ब्रह्मा सृष्टश्चिन्तामापेदे केनाहमेकेनाक्षरेण··· गो० ब्रा० १।१।१६ से ३० तक

गोपथ ब्राह्मण के इस भाग में एक भिन्न लेखक द्वारा रचित सृष्ट्युत्पत्ति का दूसरा विवरण पढ़ने को मिलता है। हो सकता है कि यह प्रथम सृष्टि-वर्णन से बाद का हो। ब्रह्म (नपुंसकलिङ्ग) पद्मपत्र पर ब्रह्मा (पुंलिंग) को उत्पन्न करता है। ब्रह्मा तप के द्वारा दो वर्णों और चार मात्राओं वाले 'ओम्' को देखता है। प्रथम वर्ण के साथ वह जल तथा नमी को, और द्वितीय वर्ण से ज्योति और ज्यौतिष पदार्थों को देखता है (१६)। तीन स्वर मात्राओं ('ओं' प्लुतित) से भौतिक, याज्ञिक तथा मनो-भौतिक त्रयी की श्रृङ्खला (तु० १. १. ६)[1] प्रवृत्त हुई : पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौः; अग्नि (वृक्षों और वनस्पतियों सहित), वायु, सूर्य; ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद; भूः, भुवः, स्वः; गायत्री, त्रिष्टुभ्, जगती इत्यादि (१७-१९)। इसकी प्रथम व्यञ्जनात्मक मात्रा 'व्' से जल, चन्द्रमा (तु० १. १. १३)[2], अथर्ववेद, स्वयं ओम् (ओम् इति स्वात्मानम्), जनत् (अङ्गिरस् की व्याहृति; तुल० १. २. २४)[3], अनुष्टुभ् इत्यादि उत्पन्न हुए (२०)। इसकी द्वितीय व्यञ्जनात्मक मात्रा 'म्' से इतिहास-पुराण और अन्य साहित्यिक विधाएँ उत्पन्न हुई, जो पहले बनाई सृष्ट्युत्पत्ति के विवरण १. १. १०[4] से सुतरां भिन्न हैं; 'वृधत्' एवं अन्य आथर्वणिक व्याहृतियाँ (१. १. १०), संगीत के विविधवाद्य, गीत एवं नृत्य, बृहती छन्द आदि उत्पन्न हुए (२१)। कहना न होगा कि इस सृष्टि-क्रम का भी वही लक्ष्य है जो प्रथम सृष्टि-क्रम का था, अर्थात् आथर्वण ब्रह्मा पुरोहित के कार्यों की प्रशंसा करना, जो यज्ञ के प्रारम्भ तथा यज्ञ के अन्त में ओम् द्वारा यज्ञ की सारी त्रुटियों को शोध देता है (यह अथर्ववेद १०. ८. ९ और ९. १०. १८[5] में वर्णित है)। इससे भी उत्कृष्ट अध्याय में बताया गया है कि 'ओं' का १००० बार जप करने पर सभी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं (२२)। प्रणव का प्रथम ब्राह्मण इसी जगह समाप्त हो जाता है। ओम्-सृष्टि-विद्या के शेष अध्याय गौण प्रतीत होते हैं। ब्राह्मणीय शैली में 'वसोर्धारः' के (ऐन्केटिल, दोषपूर्ण सुधा) ऐन्द्र-नगर के लिये देवों तथा असुरों का संग्राम वर्णित है; असुर तब तक जीतते रहे, जब तक देवों ने ब्रह्म के 'ज्येष्ठ' पुत्र 'ओम्' के नेतृत्व में उन्हें पराजित नहीं कर दिया। इसके लिये 'ओम्' को यह पुरस्कार मिला कि कोई भी पवित्र ग्रन्थ ओम् के बिना नहीं पढ़ा जा सकता। फलतः ओम् एक ब्राह्मण

१. स भूयोऽश्राम्यद्भूयोऽतप्यद्भूय आत्मानं समतपत्स आत्मत एव त्रींल्लोकान्निरमिमीत ······गो० ब्रा० १।१।६

२. तमाहरत्तेनायजत तस्याग्निर्होतासीद्वायुरध्वर्युः सूर्य उद्गाता चन्द्रमा ब्रह्मा पर्जन्यः······गो० ब्रा० १।१।१३

३. अथ ह प्रजापतिः सोमेन यक्ष्यमाणो वेदानुवाच······गो० ब्रा० १।२।२४

४. स दिशोऽन्वैक्षत प्राचीं दक्षिणां प्रतीचीमुदीचीं ध्रुवामूर्ध्वामिति···गो० ब्रा० १।१।१०

५. तद॑सत् ऋष॑यः स॒प्त सा॒कं ये अ॒स्य गो॒पा म॑ह॒तो ब॑भू॒वुः ॥ अथ० १०।८।९ cb
यस्तन्न वेद॒ किमृ॒चा क॑रिष्यति॒ य इत्तद्वि॒दुस्ते अ॒मी समा॑सते ॥ अथ० ९।१०।१८

के अनुसार इस प्रकार उपस्थित किया जाता है : 'ऋचि ऋग् भवति, यजुषि यजुः, साम्नि साम, श्लोके श्लोकः, प्रणवे प्रणवः।' यहाँ अथर्ववेद का उल्लेख नहीं किया गया है; जिससे अनुमान होता है कि यह अंश किसी अनाथर्वणिक स्रोत से लिया गया है (२३)। इसके साथ प्रणव का द्वितीय ब्राह्मण समाप्त हो जाता है। बाद के अध्यायों में 'ओम्' पर व्याकरणीय-दार्शनिक विचार किया गया है, जो पूर्व-कथित विषयों से मेल न खाने के कारण हो सकता है, बाद में बनाया गया हो। इस प्रकार खण्ड २५ में, बाद के अथर्ववेदी उपनिषदों की भाँति, 'ओम्' के निर्वचन, उच्चारण तथा प्रयोग का वर्णन विस्तार से किया गया है और इस प्रसङ्ग में पर्याप्त संख्या में व्याकरण के विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया है। खण्ड २४ में 'ओम्' के विषय में ३६ प्रश्न उठाये गये हैं। खण्ड २५ में प्रजापति इन्द्र को ओम् की व्याख्या सुनाते हैं : चारों वेदों में इनका उच्चारण भिन्न भिन्न प्रकार का है (ऋग्वेद में स्वरितोदात्त इत्यादि)। इसकी चार मात्राएँ क्रमशः 'ब्रह्मदेवत्या, विष्णुदेवत्या, ईशानदेवत्या एवं शर्वदेवत्या (= सर्वदेवत्या) बताई गई हैं; इन सबके अपने विशिष्ट स्वरूप हैं। खण्ड २६ में खण्ड २४ में पूछे गये प्रश्नों का विस्तार से उत्तर है। अव्यय शब्द की व्याख्या में कारिका १, महाभाष्य १ पृष्ठ ९६ (कीलहार्न का संस्करण) उद्धृत की गई है। खण्ड २८ में दुष्ट देवता दोषपति द्वापर युग के आरम्भ में ऋषि के रूप में उभरते हैं; देखो प्र० ६६ नोट १। इस अध्याय में फिर भृग्वङ्गिरोविदः की महत्ता गाई गई है (२४-२८); और इसके आगे चारों वेदों की गणना और अथर्ववेद को एक बार फिर महत्तम दिखाने का अवसर मिल जाता है। वेदों, उनके देवताओं (जैसा कि अथर्ववेद का चन्द्र), छन्दों और विशेषतः उनके आद्य मन्त्रों का विवरण दिया गया है : उदाहरण के लिये अथर्ववेद का प्रारम्भिक मन्त्र १. ६. १ प्रतीकरूपेण (शं नो देवीरभिष्टये) पढ़ा गया है। 'ओम्' का एक नये प्रकार का रहस्यमय सृष्टिवर्णन ओम्-सृष्टि का अन्तिम अंश है।

६६. *प्रथम प्रपाठक : १. १. ३१–३८. गायत्री उपनिषद्*—यह संदर्भ अपने आपको उपनिषद् घोषित करता है, यद्यपि असल में यह इस प्रकार का है नहीं (तु० डायसन पृ० ८६७)। इसका अनुवाद राजेन्द्रलाल मित्र ने अपने गो० ब्रा० के संस्करण की भूमिका में दिया है (पृ० १९ आदि)। इसका आरम्भ मौद्गल्य तथा ग्लावमैत्रेय ऋषि के विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थ के प्रसिद्ध आख्यान के साथ होता है। ग्लावमैत्रेय देखने में सामवेदी प्रतीत होते हैं, क्योंकि ग्लाव शब्द पञ्चविंश ब्रा० २५. १५. ३[1]; षड्विंश ब्रा० १. ४. ६[2], छान्दोग्य उप० १. १२[3] में मिलता है और

१ ···गृहपतिर्धृतराष्ट्र ऐरावतो ब्रह्मा पृथुश्रवा दौरेश्रवस उद्गाता ग्लावश्चा

२. जगावश्च प्रस्तोतृप्रतिहर्त्तारौ······पंचविंश ब्रा० २५।१५।३

एतद्ध स्माह ग्लावो मैत्रेयः। षड्विंशब्रा० १।४।६

३ ···तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयःप्रतिपालयांचकार। छा० उप० १।१२

हमारी जान में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इस शास्त्रार्थ में ग्लाव हार जाता है, क्योंकि वह 'सावित्री', २४ और १२ (सर्गिक) यामों वाली गायत्री, जिसकी आँखें भृग्वङ्गिरस् हैं और जिस पर यह सब कुछ ठहरा हुआ है, की व्याख्या नहीं कर पाता। इस पर मौद्गल्य (३३) सविता की और १२ सर्गिक मिथुनों वाली सावित्री की व्याख्या करते हैं : मन और वाणी, अग्नि और पृथ्वी इत्यादि, और यज्ञ और उसकी दक्षिणा के साथ इस समस्या को समाप्त कर देते हैं। इसके बाद गायत्री के तीन पादों का प्रत्येक १२ संख्या वाले तीन सर्गिक सेटों के साथ मेल बिठाया गया है : पृथिवी, ऋक्, अग्नि आदि, अन्तरिक्ष, यजुः, वायु आदि। इनमें से प्रत्येक का अन्तिम परिणाम व्रत या धर्मपूर्ण भक्ति है (तुल० गायत्री के वरेण्य शब्द की)। गायत्री के विभाजन में, कितने आश्चर्य की बात है, कि स्वयं अथर्ववेदी की ही उपेक्षा कर दी गई है, यद्यपि यह मान लिया जा चुका है कि 'भृग्वङ्गिरसः' इसकी आँखें हैं। यह प्रसङ्ग इस विवरण के साथ समाप्त होता है : 'श्रियमश्नुते य एवमेतां वेदानां मातरं सावित्रीं संपदमुपनिषदमुपास्त इति ब्राह्मणम्।'

७०. *प्रथम प्रपाठक : १. १ ३९. आचमन क्रिया*—प्रथम प्रपाठक आचमन पर एक अध्याय देकर समाप्त होता है। यह वैतान १. १९,[1] कौशि० ३. ४; ९०. २२[2] पर एक ब्राह्मणीय व्याख्या है। गुरु का प्रतीक 'आपो गर्भं जनयन्तीः' अथर्ववेद ४. २. ८ (आपो वत्सं जनयन्तीः) के एक स्वतन्त्र (पैप्पलाद ?) पाठ का उल्लेख करता प्रतीत होता है; अन्य मन्त्र (अथर्व १९. ६९[3] और ७०) सूत्र, तथा पद्य भी पढ़े गये हैं। मुख्य विधान यह है कि आचमन तीन बार होना आवश्यक है। इस अध्याय का अथर्वशाखीय स्वरूप तीन आचमनों की 'पुरस्ताद्धोम' 'आज्य-भागौ' तथा संस्थित होना' के साथ दिखाई गई एकरूपता से स्पष्ट हो जाता है (कौ० ३. १९[4] वैता० १. ४[5] इत्यादि)। अन्त में एक श्लोक द्वारा 'भृग्वङ्गिरसः' का जल से सम्बन्ध स्थापित किया गया है जो १. १. २९[6] के वाग्बन्ध के समान है। यह अध्याय एक स्वतन्त्र आथर्वणिक वर्णन है, भले ही यह बाद का क्यों न हो। और संभवतः इसका सुझाव पूर्ण खण्ड के इस वचन से हुआ है : 'आपो ज्योतिषि प्रतिष्ठिताः'।

---

१. जीवाभिराचम्येत्यादि प्रपदनान्तम्। वै० सू० १।१९

२. ऋतं त्वा सत्येन परिषिञ्चामि जातवेद इति सह हविर्भिः पर्युक्ष्य······कौ० सू० ३।४
जीवाभिराचम्य। कौ० सू० ९०।२२

३. जीवा स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम्। अथ० १९।६९
इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवत जीव्यासमहं सर्वमायुर्जीव्यासम्। अथ० १९।७०

४. पुरस्ताद्धोम आज्यभागः संस्थितहोमः समृद्धिः शान्तानाम्॥ कौ० सू० ३।१९

५. प्रधानहोममन्त्रान्पुरस्ताद्धोमसंस्थितहोमेष्वावपन्त्येके॥ वै० सू० १।४

६. किं देवतमित्यृचामग्निर्देवतं तदेव ज्योतिर्गायत्रं छन्दः···गो० ब्रा० १।१।२९

७१. द्वितीय प्रपाठक : १. २. १–६. ब्रह्मचारी के कर्तव्य—हो सकता है कि प्रस्तुत प्रपाठक के विषय का सुझाव सावित्री-विषयक विवरण से मिला हो, जिसकी प्राप्ति को ब्राह्मण शिष्य की शिक्षा का प्रधान अंग माना गया है। यह विवरण अथर्ववेद ११. ५[1] पर आधृत है, जो सूर्य की ब्रह्मन् शिष्य के रूप में प्रशंसा करता है। इस विवरण में पर्याप्त मौलिकता दीख पड़ती है : क्योंकि यह श० ब्रा० ११. ५. ४,[2] तै० आ० २[3] और गृह्यसूत्रों के वर्णनों से बहुत अंशों में भिन्न है। यहाँ ब्रह्मचारी को यह कह कर कि वह अपने मन के सात वेगों को जीते : जात्यभिमान (ब्रह्मवर्चस), यश, निद्रा, क्रोध, आत्मश्लाघा, आत्मसौन्दर्य तथा सुगन्धि का क्रमशः मृग, गुरु, अजगर, सूकर, जल, कुमारी, वृक्ष और वनस्पति के साथ संवन्ध उभारा गया है। यदि वह अपने को मृगचर्म से आच्छादित करता है तो वह ब्रह्मवर्चसम् को प्राप्त करता है। यदि वह गुरु के लिए कार्य करता है, तो वह उनकी प्रसिद्धि को प्राप्त कर लेता है; यदि सोते हुए भी वह निद्रा से अलग रहता है तो वह अजगर की निद्रा को पा लेता है; यदि मन में नम्र होकर वह क्रोध से किसी को क्षति नहीं पहुँचाता तो वह सूकर के क्रोध को प्राप्त कर लेता है; यदि वह जल में कुचेष्टाएँ नहीं करता तो वह जल की श्लाघा को प्राप्त कर लेता है। यदि वह नग्न स्त्री की ओर नहीं देखता तो वह उसके सौन्दर्य को प्राप्त कर लेता है। यदि वह वनस्पतियों और वृक्षों को काटकर नहीं सूँघता, तो वह स्वयं सुगन्ध से भर जाता है (१, २)। आगे के चार खण्डों में ब्रह्मचारी के कर्तव्यों और पुरस्कारों का रूपकों एवं सोदाहरण आख्यानों का आश्रय लेकर वर्णन किया गया है (३–६)। बाद वाले अध्याय में उन पापों का प्रायश्चित्त बताया गया है, जो पाप कि उसे लग सकते हैं : उनमें से दो वैतान १२. ७. ९[4] (आप० श्रौ० सू० ९. १३. ११) में आते हैं, किंतु तीसरा ('यदीदम् ऋतुकाम्य' इत्यादि) गोपथ ब्राह्मण का अपना मौलिक प्रतीत होता है। इसके बाद अथर्ववेद के पैप्पलादीय मन्त्र ११. ५. २३,[5] का उल्लेख करके ब्रह्मचारी को 'देवानां परिपूतम्' जिसे 'देवताओं ने गतिमान् बनाया' कहा गया है (७)। ८वें अध्याय में ब्रह्मचारी को प्राचीनकाल के ऋषियों का अनुगमन करते हुए आश्रम में रहने का आदेश दिया गया है। महर्षि वसिष्ठ के पुत्र ने अथ० ११. ५–२५ प्रचलित अथर्ववेदमें ११. ५. २४[6] के अर्धर्च को किसी शङ्ख के मुँह में फूका

१. ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं१ तपसा पिपर्ति ॥ अथ० ११।५।१

२. ब्रह्मचर्यमागामित्याह ।……शत० ब्रा० ११।५।४

३. ॐ सह वै देवानां……ब्रह्मचर्येण तपसैव देवास्तेऽसुरा……तै० आ० २

४. य ऋते चिदिति शीर्णदण्डाद्यभिमन्त्रयते…वै० सू० १२।७

५. देवानामेतत्परिपूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् । अथ० ११।५।२३ a

६. प्राणापानौ जनयन्नाद्व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् । अथ० ११।५।२४

था, जिससे शीत और तप्त स्रोत उसमें से बह निकलें। तब विपाश् नदी के बीच में पहला आश्रम पानी के बीच में से उभरा, जिसका नाम वसिष्ठशिला रखा गया। इसके बाद अन्य आश्रम निकले, जिनके नाम अधिकतर मौलिक हैं। इसके बाद तपस्या के चमत्कारों का वर्णन करके कहा गया है कि शिव ने ४८००० ब्राह्मण-वर्षों तक समुद्र-पृष्ठ पर (सलिलस्य पृष्ठे) तप किया। यह अध्याय ब्राह्मण होने की अपेक्षा पौराणिक अधिक है; अन्ततः अध्याय ९ में जैसा कि पहले के सभी विवरणों के अन्त में, यह खण्ड भी अथर्ववेद तथा ब्रह्मा पुरोहित (भृग्वङ्गिरस्) की महत्ता के गीत गाना प्रारम्भ कर देता है। अथ० १३. २. २७[1] के ब्रह्मोद्य मन्त्र की व्याख्या के बाद और अथर्ववेद एवं अन्य-वेदीय मन्त्रों के उदाहरण देकर चारों वेदों एवं उनके पुरोहितों के कृत्यों का विवरण दिया गया है। इन मन्त्रों में से एक मन्त्र ('अन्तरिक्षे पथिभिः' इत्यादि) ऋग्वेद १०. १६८. ३[2] का है और मौलिक पाठान्तरों के साथ है।

७२. *द्वितीय प्रपाठक का उपसंहार; विविध विषय : १. २. १०-१४. यज्ञ और यज्ञ-स्थान (देवयजन) का विचार*—कबन्ध आथर्वण के पुत्र विचारिन् (तु० १. २. १८) एक अत्यन्त भूखे पुरोहित थे, किंतु वे इतने अभिमानी थे कि भोज्य की खोज में नहीं जाते थे। उन्हें उनकी भूखी माता बाहर भेजती है। राजा मान्धातृ यौवनाश्व के यहाँ होने वाले सोमयाग में पहुँचकर विचारिन् ने एक दम यज्ञ के विषय में और यज्ञीय स्थान के चुनाव के विषय में उपनिषद् शैली में व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दिया : 'जैसे नदियाँ अपना पृथक् नाम रखते हुए भी अपने पार्थक्य को समुद्र में खो देती हैं, उसी प्रकार सभी वेद तथा अन्य गौण साहित्यिक विधाएँ यज्ञ में अपना वैयक्तिक स्वरूप खो देती हैं। देवयजन के याज्ञिक लक्षणों की मुहारनी के बाद एक बार फिर चार ऋत्विजों के सापेक्ष स्थान और कृत्यों के बाद में उपदेश चल पड़ता है : ब्रह्मा ऋत्विक् वास्तव में यज्ञ का मस्तिष्क है (तुल० १. ३. २, १४[3])। चार शीर्षकों अर्थात् आत्मा, श्रद्धा, ऋत्विक् और भौमम् के नीचे देवयजन की व्याख्या करने के बाद यह विषय समाप्त हो जाता है। इसका संबन्ध शत० ब्रा० ३. १. १[4] से बांधा जा सकता है।

१. २. १५-१७. अग्न्याधेय पर ब्रह्मौदन—यहाँ पहुँचकर गोपथ ब्राह्मण प्रत्यक्ष रूप में वैतान सूत्र के ब्राह्मण का काम करना आरम्भ कर देता है (५. ४ तुलना करो ६. ६ से)। जैसा कि आशा की जानी चाहिये, इस विषय का

---

१. एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्। अथ० १३।२।२७ a
२. अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः। ऋ० १०।१६८।३
३. ···'मनसा चैव हि वाचा च यज्ञो वर्ततेऽद एव मन इयमेव वाक्स यद्वदन्नास्ति'······ गो० ब्रा० १।३।१ इत्यादि
४. ॐ देवयजनं जोषयन्ते। स यदेव वर्षिष्ठं स्यात्तज्जोषयेरन्'·····शत० ब्रा० ३।१।१

यहाँ प्रसिद्ध ब्रह्मौदन सूक्तों अथ० ११. १[1] और १२. ३[2] के संवन्ध में वर्णन नहीं किया गया है, अपितु 'चातुःप्राश्य ओदन' (चार ऋत्विजों के लिए पर्याप्त मन्थ) को अथर्ववेदिय चतुष्टयी से संवद्ध करने के लिये किया गया है, जिसका वर्णन यह ब्राह्मण अव और तव प्रसंग के विना भी करने लगता है। अदिति के प्रसिद्ध आख्यान को कहने के वाद, जिस अदिति ने कि ब्रह्मौदन का अवशेष खाकर आदित्यों को जन्म दिया था, चातुःप्राश्य को पिष्टपेषित सर्गिक एवं याज्ञिक चतुष्टयों के साथ संवद्ध किया गया है; और हमें इस चतुष्टयी के प्रसङ्ग में अथर्ववेद याद आ जाता है : आपः, चन्द्रमाः, ब्रह्मवेद और ब्रह्मत्व (ब्रह्मा ऋत्विक् का काम)। इस मन्त्र की 'चत्वारि शृङ्गाः' इत्यादि (ऋ० ४. ५८. ३) और अथ० १०. १०. २[3] मन्त्र की पौरोहित्य-संवन्धी व्याख्याओं से पुष्टि की गई है। इसके वाद यह आता है, यद्यपि इतने पक्षपाती विवरण में इसके लिए स्थान नहीं के वरावर है, कि यज्ञ की पहली दक्षिणा अभिगोत्रीय आत्रेय पुरोहित को दी जानी चाहिये, क्योंकि अत्रि ने सूर्य को अन्धकार से मुक्त किया था। यह अंश अथ० १३. २. ४ c + d १२[4] को उद्धृत करता है और वैतान २१. २५[5] (तुल० श० ब्रा० ४. ३. ४. २१[6]) की व्याख्या करता प्रतीत होता है।

१. २. १८–२१. अग्न्याधेय में लौह-शफ अश्व—यह अश्व अग्न्याधेय की परम आवश्यकताओं में से एक है (वैता० ५. ११[7]; श० ब्रा१ २. १. ४. १६[8])। इसे वाक् ने घोर जल में से उत्पन्न किया है। तीन वेद इस अश्व को शान्त नहीं कर पाते; तव शंयु आथर्वण—जो आथर्वण शान्ति-सिद्धान्त का प्रतीक है—कवन्ध आथर्वण के पुत्र विचारिन् को इस काम के लिए नियुक्त करता है (तुल० १. २. १०[9]), जो पवित्र (आथर्वण) तथा आभिचारिक (आङ्गिरस)

---

१. अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मोदनं पचति पुत्रकामा। अथ० ११।१ a इ० ३७ मन्त्र

२. पुमान् पुंसोऽधि तिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते। अ० १२।३a इ० ६० मन्त्र

३. त्रिषु पात्रेषु तं सोममा देव्यहरद् वशा।
अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये॥ अथ० १०।१०।१२

४. सुताद्यमत्रिर्दिवमुन्नियाय तं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम्। अथ० १३।२।४ cd
दिवि त्वात्रिरधारयत्सूर्यं मासाय कर्तवे।
स एषि सुधृतस्तपन्विश्वा भूतावचाकशत्॥ अथ० १३।२।१२

५. हिरण्यमात्रेयाय ददाति……वै० सू० २१।२५

६. अथैवेमेत्रोपसद्य। आत्रेयाय हिरण्यं ददाति……शत० ब्रा० ४।३।४।२१

७. तेनाग्निपदमश्वं स्नापयन्नभ्युत्त्क्रमयत्यनुदित उदिते वा धास्यमानः॥ वै० सू० द० ११

८. ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः। यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयंस्तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत……शत० ब्रा० २।१।४।१६

९. विचारी ह वै कावन्धिः कवन्धस्याथर्वणस्य पुत्रो मेधावी मीमांसकोऽनूचान आस……गो० ब्रा० १।२।१०

वनस्पतियों द्वारा, और मन्त्रों की उचित सूची के उच्चारण द्वारा पवित्र जल (शान्त्युदक) को तैयार करता है (१८)। इस अश्व के विवरण को एक आथर्वणिक आख्यान ने बीच में तोड़ सा दिया है, जो ब्रह्मा, उसके सहायकों की उत्पत्ति एवं स्वरूप की चर्चा करता है (तुल० वैतान ११. ३[1])। ब्रह्मा के सहायक सदस्य, ब्राह्मणाच्छंसिन्, पोतर् और अग्नीध्र कहे गये हैं (१९)। इतना कहने के बाद ब्राह्मण फिर अश्विचरण अश्व पर लौट आता है; और बताता है कि इसे 'अग्नि त्वाहुर्वैश्वानरम्' इस मन्त्र में (वैता० ६. ७[2]; गो० ब्रा० १. २. २१[3]) अग्नि वैश्वानर क्यों कहा गया है; साथ ही वह इसे अग्नि जातवेदस् से पृथक् करता है जो अग्नि कि अग्न्याधान के अवसर पर जलाई जाती है। ब्राह्मण (अर्थात् ब्राह्मणीय धर्म) अग्नि वैश्वानर को ले गया; अग्नि वैश्वानर ने इन लोकों की रचना की। इस पर अग्नि जातवेदस् प्रतिस्पर्धा में, अपनी ज्योति और शक्ति को प्रकट करने की ठानते हैं, जिससे कि ब्राह्मण उन्हें भी ले जाय। जातवेदस् अपनी विशेषताओं को चार रूपों में प्रकाशित करते हैं: अन्त में वे ब्राह्मण की पत्नी विराज् को देखते हैं और उस स्त्री को उसे दे देते हैं। तब ब्राह्मण अग्नि जातवेदस् का निर्माण करते हैं। दूसरी ओर अग्नि वैश्वानर अश्व बन जाता है, जिसे देख देवता भयभीत हो जाते हैं और तब ब्रह्मा (ब्रह्मा ऋत्विक्) इसे, उपर्युक्त मन्त्र को तथा ५ वैतान मन्त्रों को पढ़ कर (६-१[4]) शान्त करते हैं। इसके बाद वैतान ६-८[5] में रथ पर आरोहण होता है, जो रथ ब्रह्मन् के रस से उत्पन्न हुआ था और जिससे देवता डर गये थे और जिसे बाद में कुछ मन्त्रों ने शान्त कर दिया था। अन्त में इस बात के भी कारण बताये गये हैं कि चातुःप्राश्य में ब्राह्मणों को स्वर्ण तथा गौएँ क्यों दी जाती हैं।

१. २. २२-२३. सांतपन अग्नि—ऋग्वेद ७. ५९. ९[6] के समय से ही सांतपन शब्द मरुतों से संबद्ध रहता आया था, क्योंकि आरम्भ से ही इसमें याज्ञिकता की पुट बस गई थी। वैतान ९. २[7] की भाँति सभी जगह यह शब्द शाकमेध क्रियाओं (चातुर्मास्यानि में एक) में मरुतों के साथ संबद्ध रहता है। किंतु गोपथ में यह 'ब्रह्म', 'ब्राह्मण' तथा 'ब्राह्मयम् हविस् से संबद्ध और एक

---

१. ब्राह्मणाच्छंसी पोताग्नीध्र इति ब्रह्मणोऽनुचराः।······वै० सू० ११।३

२. अग्निं त्वाहुर्वैश्वानरं स दहन्प्रदहन्नवगाः······वै० सू० ६।७

३. अग्निं त्वाहुर्वैश्वानरं सदनान्प्रदहन्वगाः।······गो० ब्रा० १।२।२१

४. यदस्कन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।······वै० सू० ६।१

५. इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकमिति रथमभि हुत्वा वनस्पते वीड्वङ्ग इत्यातिष्ठति। वै० सू० ६।८

६. सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन। ऋ० ७।५९।९ ०

७. पूर्वेद्युरिष्ट्यामग्नेरनीकवतोऽचिक्रददिति। मध्यन्दिने सांतपनानां मरुतां सांतपना इदमिति।······वै० सू० ९।२

अग्नि का नाम प्रतीत होता है। विशेषतः गृह्य संस्कारों में सांतपन के विना एक ब्राह्मण, लेखक की दृष्टि में एक पात्र में मृल्लोष्ठ के समान है, जो चमकता नहीं है। प्रतीत यह होता है कि गृह्य संस्कारों में वरती जाने वाली एक अग्नि, जिसमें एक ही ब्राह्मण नियुक्त होता है, यहाँ सांतपन के नाम से कही गई है। यहाँ का विषय और इसके यहाँ रखे जाने के कारण संदिग्ध हैं।

१. २. २४–१. ३. ५. आथर्वणिक ब्रह्मा पुरोहित की श्रेष्ठता—ब्राह्मण अपने प्रिय विषय आथर्वणिक ब्रह्म पर लौट आता है (तुल० वैता० ११. २[1])। एक निराधार-सा आख्यान सर्गिक और याज्ञिक चतुष्टयी (तुल० १. २. १६[2]) को उपस्थित करता है; जो चतुर्थवेद को वचाए रखने के लिये है और जो इस क्रम में रखी गई है—अथर्वाङ्गिरः, ब्रह्मत्व, आपः, चन्द्रमा··· ओमित्यथर्वणां शुक्रम् जनदित्यङ्गिरसाम् (तुल० १. २. २० से)[3]।

७३. *तृतीय प्रपाठक, विविध विषय : १. ३. १–५.*[4] *आथर्वणिक ब्रह्मा पुरोहित की प्रधानता*—१. ३. १ में 'भृग्वङ्गिरसः' के ज्ञाताओं को 'देवा ब्राह्मः' कहा गया है; उनके विना यज्ञ उसी प्रकार पङ्गु वन जाता है, जैसे कोई पशु चार पैरों के अभाव में। खण्ड १. ३. २[5] ऐ० ब्रा० ५. ३२. ३[6] के पाठ को आथर्वणिक चोगा पहरा कर चालू रखता है; अन्तर दोनों में इतना रहता है कि जहाँ ऐ० ब्रा० कहता है कि 'अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति त्रय्या विद्यया' वहाँ गो० ब्रा० 'ब्रह्मत्वम्' को अथर्वन् के हाथों सौंप देता है। इसके वाद १. ३. ३[7] में प्रायश्चित्त मन्त्र आता है, जो पुरोहित के किसी यज्ञ में मौन भङ्ग करने पर पैदा हुए पाप के लिये है। यहाँ भी यह ऐ० ब्रा० ५. ३२. ५-३३. ४[8] ही अथर्व के गले में से वोल रहा है। अन्तर यह है कि गो० ब्रा० 'भुर्' इत्यादि प्रायश्चित्त मन्त्र के पहले 'ओम्' और वाद में 'जनत्' को जोड़ देता है। और यह वात स्पष्ट है कि 'ओम्' अथर्वाणः का प्रतिनिधित्व करता है और 'जनत्' अङ्गिरसः का (तुल० १. १. २०; २. २४[9])।

---

१. ऋत्विजो वृणीते। अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्। सामविदमुद्गातारम्।···वै० सू० ११।२
२. प्रजापतिरथर्वा देवः स तपस्तप्त्वैतं चातुःप्राश्यं ब्रह्मौदनं निरमिमीत···गो० ब्रा० १।२।१६
३. ब्राह्मणो ह वा इममग्निं वैश्वानरं बभार···गो० ब्रा० १।२।२०
४. ···एते वै देवा ब्रह्माणो यद्भृग्वङ्गिरसः······गो० ब्रा० १।३।१
५. प्रजापतिर्यज्ञमतनुत स ऋचैव हौत्रमकरोत्······गो० ब्रा० १।३।२
६. स प्रजापतिर्यज्ञमतनुत······अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्, इति। ऐ० ब्रा० ५।३२।३
७. ॐ भूर्जनदिति गार्हपत्ये जुहुयात्······गो० ब्रा० १।३।३
८. ते देवा अब्रुवन्प्रजापतिं यदि नो यज्ञ ऋक्त आर्तिः स्यात्······ऐत० ब्रा० ५।३२।५
एता व्याहृतयस्तस्मादेवैव यज्ञे प्रायश्चित्तिः कर्तव्या। ऐ० ब्रा० ५।३३।४
९. तस्य वकारमात्रयापश्चन्द्रमसमथर्ववेदम्······गो० ब्रा० १।१।२० इत्यादि

अन्य मन्त्र मानों इन्हीं के बीच में जड़ दिये गये हों। १. ३. ४ में, ऐ० ब्रा० ५. ३४. १[1] के ढंग पर उन प्रधान कृत्यों का वर्णन है, जिनके लिए पुरोहित को दक्षिणा दी जाती है। ब्रह्मा पुरोहित से संबद्ध ('देवयजनम् मेऽचीक्लपत्' इत्यादि) रोचक हैं। इसके बाद (१. ३. ५[2]) एक अनुपयुक्त सा आख्यान है, जो बताता है कि किस प्रकार तीन पुरोहितों वाले यज्ञ की दक्षिणा आधी रह जाती है।

१. ३. ६–१०. दर्श और पूर्णमास यज्ञ की रहस्यात्मक व्याख्या—यह श० ब्रा० ११. ४. १[3] का विस्तृत विवरण है और साफ तौर से उसी पर आधृत है। गोतम-पुत्र उद्दालक आरुणि को, जो कुरुपाञ्चाल देश का निवासी है, उसके आदमी उदीच्यों के पास जाने के लिए चुनते हैं। वहाँ पहुँचकर वह पुरस्कार पाने की नियत से स्वैदायन शौनक के साथ ब्रह्मोद्य-विवाद छेड़ बैठता है, दर्शपूर्णमास के पृथक्-पृथक् कृत्यों का मानव-शरीर के विकासगत तथ्यों तथा घटनाओं के साथ संबन्ध उभारा जाता है : बाल पहले शिर में होता है, दाढ़ी और सारे शरीर पर बाल बाद में उगते हैं; बाल पहले शिर में सफेद होता है फिर बाकी शरीर पर। प्राणी दन्तहीन उत्पन्न होते हैं, दाँत बाद में आते हैं, वे सातवें या आठवें वर्ष में गिर जाते हैं, फिर उगते हैं और अन्त में सब के सब गिर जाते हैं। निचले दाँत पहले दिखाई देते हैं और ऊपर के बाद में; नीचे के सघन और कमजोर होते हैं और ऊपर के अलग-अलग किंतु मजबूत······इत्यादि। शरीर-शास्त्रीय विवरण 'कस्मादिदं शिश्नमुच्चश्च एति, नीची पद्यते, कस्मात् सक्रुद् (शकृद्) अपानम्' (७) इसके साथ समाप्त हो जाता है। इन तथ्यों तथा दर्शपूर्णपास अनुष्ठानों के साथ इन तथ्यों के संबन्ध का एक उदाहरण यह है : क्योंकि यज्ञिय कुश (बर्हिस्) को सर्वप्रथम वेदी के सामने फैलाया जाता है, इसलिये मानव-प्राणियों के जन्म के समय भी उनके शिर पर केश होते हैं, इत्यादि (९)। तुल० वैता० २ और ३[4]।

१. ३. ११–१६. अग्निहोत्र के समय के कार्यों की रहस्यपूर्ण व्याख्या—उपर्युक्त आख्यान के प्रसङ्ग में 'प्राचीन योग्य' नामक दूसरा ब्रह्मा उद्दालक आरुणि से अग्निहोत्र कृत्यों का रहस्यात्मक अर्थ पूछता है। यह अंश श० ब्रा० ११. ५. ३. १–७[5] के समान है। किंतु इसके विषय के वर्णन में स्वतन्त्रता बरती गई है;

---

१. तद्यदौदुम्बर्यां म आसिष्ट हिङ्ङ्कार्षीन्मे······गो० ब्रा० १।३।४
तदाहुर्यद्ब्रह्मान्मेऽग्रहीत्प्राचारीन्म आहुतीर्मेऽहौषीत्······ऐ० ब्रा० ५।३४।१

२. देवाश्च ह वा असुराश्च संग्रामं समयतन्त······गो० ब्रा० १।३।५

३. उद्दालको हारुणिः। उदीच्यान्वृतो धावयांचकार······शत० ब्रा० ११।४।१

४. यत्र विजानाति ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामीति तत्र प्र णय यज्ञम्।······वै० सू० २।१ इत्यादि

५. शौचेयो ह प्राचीनयोग्यः। उद्दालकमारुणिमाजगाम ब्रह्मौद्यमग्निहोत्रं विविदिषामीति॥
······शत० ब्रा० ११।५।३।१–७

वैतान सूत्र ७[1] के विषय से इसका निकट सामीप्य है और उसी की तरह इसमें कुछ ऐसे शब्द हैं, जो और कहीं नहीं मिलते। इसके बाद तीन श्रौत अग्नियों पर घट सकने वाली दुर्घटनाओं के लिए प्रायश्चित्त का विधान है: यद्यपि वैतान के प्रकाशित संस्करण में यह प्रकरण नहीं मिलता, तो भी, हो सकता है कि इसके अप्रकाशित प्रायश्चित्त अध्यायों में यह मिल जाय। श० ब्रा० ११. ५. ३. ८[2] आदि का विषय इससे बहुत अधिक मिलता-जुलता है, किंतु इसकी अपनी व्याख्या स्वतन्त्र है; और दोनों ग्रन्थों में प्रायश्चित्त-मन्त्र पृथक्-पृथक् हैं। इन प्रायश्चित्तों का लाभ कारण-कार्य की शृङ्खला में बाँधा गया है, जिसमें चार वेदों की प्रचलित सर्गिक शृङ्खला (मनः, चन्द्रमाः, आपः अथर्ववेद के लिये; तुल० १. २. १२,[3] १६ इत्यादि) को उपस्थित किया गया है। बाद में अग्निहोत्र का वर्णन प्रारम्भ होता है, जो प्रियमेध भरद्वाज के परिवार से संबद्ध आख्यान पर ढल जाता है, जो अपने आप को वेदविद् (सर्वज्ञ) कहते थे, और अन्य किसी भी पण्डित की राय नहीं लेते थे। वे दिन में एक, दो या तीन बार अग्निहोत्र करते थे। जो लोग दो बार अग्निहोत्र करते थे वे सबसे अधिक समृद्ध हुए (१५)। दूसरे अध्याय में स्वाहा की उत्पत्ति और उसके स्वभाव का कल्पनारञ्जित वर्णन आता है। इसका संबन्ध लामगायनों के परिवार से बताया गया है; यह नाम साम-शाखाओं में पाया जाता है; और हो सकता है कि यह विषय उसी वेद के किसी ग्रन्थ से लिया गया हो।

१. ३. १७–२३. अग्निष्टोम पर और विशेषतः यजमान की दीक्षा पर नोट—विना आगापीछा देखे यह ब्राह्मण अग्निष्टोम पर ढल जाता है, और इस संबन्ध में कारु लोगों के पुरोहित-परिवार का एक आख्यान सुनाता है; जिन लोगों ने, क्योंकि वे निर्धन थे, एक गौ से अग्निष्टोम को पूरा किया था; और जो इसी कारण 'एकगु' इस नाम से वजे थे। यह संदर्भ वैतान २४–२०[4] पर एक टिप्पणी है। 'कारवोऽल्पस्वाः' 'दरिद्र-पुरोहिताः' इन कथनों का उन ब्राह्मणों की ओर इशारा प्रतीत होता है, जिन्हें उनकी अल्पस्वता के कारण बहुत बड़े व्यक्तिगत मन्त्रों से मुक्त कर दिया जाता था (१७)। इसके बाद अग्निष्टोम के सवनीय पशु

१. सायं प्रातरग्निहोत्रम् ॥ वै० सू० ७।१ इत्यादि

२. शौचेयो ज्ञस्तुः। प्रवक्ष्यामि त्वेव भगवन्तमिति पृच्छैव प्राचीनयोग्येति······
शत० ब्रा० ११।५।३।८

३. ······मनो ब्रह्मेति ब्रह्म देव इति देवम्। गो० ब्रा० १।२।१२
···चत्वारो वा इमे लोकाः पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौराप इति चत्वारो वा इमे देवा अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमाः······गो० ब्रा० १।२।१६

४. अल्पस्व एकगुनापि यजेत्। वै० सू० २४।२० ॥ सवनीयहोमादिन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पत इति···वै० सू० २२।२०

का वर्णन है; इसका वैतान सूत्र २२. २१ में निर्देश मिलता है; किंतु प्रत्यक्ष रूप में यह ऐ० ब्रा० ७. १. १[1] = आश्व० श्रौ० सू० १२. ९[2] के समानान्तर संदर्भ से लिया गया है। इसमें आथर्वणिक विशेषताओं का पूर्णतः अभाव है (१८)। इसके बाद दीक्षा का वर्णन है जो वैतान ११. १७[3] से हर तरह मिलता है। यह दीक्षित शब्द (=धियम् क्षियति,) की व्याख्या से आरम्भ होता है; और इस बात के कारण पर प्रकाश डालता है कि क्यों एक दीक्षित को उठकर किसी का स्वागत नहीं करना चाहिये (वैता० ११. १८[4]); 'विचक्षणवती वाक्' और 'चनसितवती वाक्' शब्दों की व्याख्या करता है; बताता है कि क्यों दीक्षित का भोजन नहीं खाना चाहिए और क्यों उसका नाम नहीं लेना चाहिये; और अन्त में इस बात को बताता है कि दूसरों के, विरोधी दीक्षा-कर्मों का परिहार कैसे करना चाहिये (१९)। इसके बाद एक आख्यान आता है, जिसमें दीक्षा से संबद्ध बातों का विवेचन किया गया है (२०)। इसके अनन्तर दीक्षित के लिए आचरण-संहिता है, जो अन्त की ओर वैता० ११. २१-२६[5] से अक्षरशः मेल खा जाती है (२१)। इसके बाद दीक्षा के नियमों का उल्लङ्घन करने पर प्रायश्चित्त का विधान है (वैता० १२. १[6]); मंत्र यहाँ भी, और साथ ही साथ वैतान में भी सकल-पाठेन उद्धृत हैं (२२)। अन्त में पत्नी के गर्भवती होने पर दीक्षित के कर्तव्यों का वर्णन है (वैता० १२-१४[7])। इस ब्राह्मण का दीक्षा-वर्णन स्वतन्त्र शाखा-परंपरा की रचना न होकर गौण विस्तार-मात्र है, जो वैतान-सूत्र के वर्णन से मिलता-जुलता है।

७४. *चतुर्थ प्रपाठक-वार्षिक सत्त्र का रहस्यमय आध्यात्मिक विवरण*—पहले कहा जा चुका है कि गो० ब्रा० का यह दीर्घ और विस्तृत प्रकरण श० ब्रा० के काण्ड १२ के आधार पर बनाया गया है (प्र० ६६)। यह चौथे और पाँचवें प्रपाठक में फैला हुआ है, जिनमें से पाँचवें के अन्तिम तीन (२३-२५) खण्डों को यह छोड़ देता है। प्रथम छः खण्ड = श० ब्रा० १२. १. १[8] सोलह श्रौत ऋत्विजों की दीक्षा का वर्णन करते हैं; सत्रहवें सदस्य का उल्लेख नहीं किया गया (तुल०

१. अथातः पशोर्विभक्तिस्तस्य विभागं वक्ष्यामः इति ॥ ऐ० ब्रा० ७।१।१
२. एतेन वर्तयेयुः पशुना च। तस्य विभागं वक्ष्यामः। आश्व० श्रौ० सू० १२।९
३. व्रतानि। वै० सू० ११।१७
४. अप्रत्युत्थायिकोऽनभिवादुकः। वैता० सू० ११।१८
५. कृष्णाजिनं वसीत। वै० सू० ११।२१ इत्यादि
६. अग्निहोत्रं च मा पौर्णमासश्च यज्ञः पुरस्तात्प्रत्यञ्चमुभौ······वै० सू० १२।१
७. ऋतुमतीं जायां सारूपवत्सं श्रपयित्वाभिघार्योद्वास्योद्धृत्याभिहिङ्कृत्य···वै० सू० १२।१४
८. ···तमेतऽईप्सन्ति ये संवत्सराय दीक्षन्ते तेषां गृहपतिः प्रथमो दीक्षते······
शत० ब्रा० १२।१।१

वैतान ३१. १ और ११. ३[1])। इसके बाद विविध इष्टियों की आख्यानात्मक उत्पत्ति आती है; और बाद में अग्निष्टोम की विविध क्रियाओं की उनसे संवद्ध देवताओं से उत्पत्तिका, एवं इन अनुष्ठानों के पारितोषिक का विवरण आता है। अग्निष्टोम यहाँ वार्षिक सत्र के विषुवत् दिन का तथा और बहुत से दिनों के प्रमुख कृत्यों में से एक प्रतीत होता है: देखिये श० ब्रा० १२. १. २. १, और १२. १. ३. १–६[2] और तुल० वैतान ११–१७। इसके बाद के दो खण्डों में (९, १०), सामान्य सत्र के विभिन्न अङ्गों, कृत्यों एवं गवामयनम् को देवताओं एवं दैवी मूर्तियों से उत्पन्न हुआ बताया गया है, और साथ ही उनके पारितोषिकों का विवरण भी दिया गया है; देखिये श० ब्रा० १२. १. २. २. ३[3] और १२. १. ३. ८–२१ तुलना वैतान ३१. ७[4] से। इसके बाद के दो खण्ड (११, १२) सत्र तथा इसके कुछ भागों का साम्य वर्ष से दिखाते हैं: देखिये श० ब्रा० १२. २. ३. १[5]। इसके अनन्तर पाँच खण्ड (१३–१७) महाव्रत दिनों की दृष्टि से सत्र के अङ्गों का निदर्शन करते हैं: देखिये श० ब्रा० १२. १. ३. २३[6] और १२. २. ३. २–४,[7] ८[8]। यह विवेचन श० ब्रा० १२. २. ३. ४[9] के एक विस्तृत विवरण के साथ समाप्त हो जाता है। सत्र में दो पृष्ठ्यों के मध्य में अभिप्लव का स्थान सामान्य जीवन के कुछ तथ्यों के साथ मिलाया गया है। दो खण्ड (१८, १९) जो सचमुच श० ब्रा० १३. ३. ३. ६[10] ही हैं, सत्रवर्ष की एक विशाल गरुड के पंखों से तुलना करते हैं। बीच वाला दिन विषुवत् है, मानों यह पंखों के बीच में पक्षी का शरीर हो। इसके बाद (२० = श० ब्रा० १२. २. १[11]) अभिप्लव के अङ्ग के रूप में ज्योतिः (ज्योतिष्टोम) के स्वरूप का वर्णन है। इसके बाद के

१. माध्याः पुरस्तादेकादश्यां सप्तदशावराः सत्रमुपयन्तो ब्राह्मणोक्तेन दीक्षेरन् ॥ वै० सू० ३१।१

ब्राह्मणाच्छंसी पोताग्नीध्र इति ब्रह्मणोऽनुचराः। सदस्यश्च।···वै० सू० ११।३

२. संवत्सराच्चतुर्विंशमहः। ब्रह्मणोऽभिप्लवं क्षत्रात्पृष्ठ्यमग्नेराभिजितमन्हयः······ शत० ब्रा० १२।१।२।२,३

३. अथ यत्क्रयेण चरन्ति। सोममेव देवतां सोमो देवता भवन्ति सोमस्य सायु०······ शत० ब्रा० १२।१।३।८–२२

४. प्रायणीयचतुर्विंशमभिप्लवाश्चत्वारः पृष्ठ्य इति प्रथमो मासः। वै० सू० ३१।७

५. स वा एष संवत्सरो बृहतीमभिसम्पन्नः।···शत० ब्रा० १२।२।३।१

६. स एष संवत्सरस्त्रिमहाव्रतः। चतुर्विंशे महाव्रतं विषुवति······शत० ब्रा० १२।१।३।२३

७. यद्वै चतुर्विंशमहः। दशरात्रस्य वै तत्सप्तमम्······शत० ब्रा० १२।२।३।२–४

८. तदाहुः। यत्पुरस्ताद्विषुवत ऊर्ध्वान्स्तोमान्······शत० ब्रा० १२।२।३।८

९. अभिप्लवं पूर्वं पुरस्ताद्विषुवत उपयन्ति······शत० ब्रा० १२।२।३।४

१०. ते विश्वजितमेव सर्वपृष्ठम्। पृष्ठ्यस्य षडहस्याज्ञः······शत० ब्रा० १२।३।३।६,७

११. समुद्रं वाऽएते प्रतरन्ति। ये संवत्सराय दीक्षन्ते तस्य तीर्थमेव···शत० ब्रा० १२।२।१

दो खण्ड (२१, २२ = श० ब्रा० १२. २. ३. १०, ११[1]) सत्रवर्ष के उत्सवों के विभाजन का आरोहात्मक तथा अवरोहात्मक रूप में वर्णन करते हैं; विषुवत् दिन मध्य में है; इस विवरण के द्वितीय अंश को आदित्यों और अङ्गिरसों की प्रतिद्वन्द्विता के आख्यान द्वारा पुष्ट किया है, जो श० ब्रा० १२. २. २. ९–१२[2] से भिन्न रूप में मिलता है। यह विषय गोपथ ब्राह्मण के लिये डरावना विषय है; क्योंकि आदित्यों और अङ्गिरसों के युद्ध-संवन्धी आख्यान, नियमित रूप से, अङ्गिरसों की पराजय होती दिखाते हैं, जैसे कि देवों के साथ युद्ध में असुरों की पराजय होती है; किंतु गोपथ ब्राह्मण तो इस प्रकार की पराजय के प्रतिकूल है; क्योंकि इस ब्राह्मण के अनुयायी अङ्गिरसों का विशेष रूप से समादर करते हैं। इस ब्राह्मण में इस प्रकार के आख्यान का आ जाना ही इस आख्यान को गौण सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। प्रपाठक का अन्त (२४; श० ब्रा० १२. २. २. १३–२३[3]) प्रेदि (श० ब्रा० प्रोति) कौशाम्बेय, कौसुरविन्दु, और उसके गुरु उद्दालक आरुणि के आध्यात्मिक वार्तालाप (ब्रह्मोद्य) के साथ होता है। इसमें यज्ञ, और वर्ष को एक के रूप में दश, नौ, आठ इत्यादि दिनों (अहानि) का बना बताया गया है। गो० ब्रा० ने चार संख्या के साथ वर्ष का संबन्ध बताने में कमाल कर दिया है। जबकि श० ब्रा० इस संवन्ध को चतुष्पाद् पशुओं के द्वारा स्थापित करता है, गो० ब्रा० अपने प्रतिदिन के रटे इस वाक्य को नहीं भूलता कि वेद चार हैं, 'चत्वारो वै वेदा वेदैर्यज्ञस्तायते'। इसमें संदेह नहीं है कि गो० ब्रा० में दोनों का गौण पाठ उपस्थित किया गया है।

७५. *पञ्चम प्रपाठक : १. ५. १–२२. वार्षिक सत्र के विवरण का उपसंहार*—प्रथम खण्ड = श० ब्रा० १२. २. २. १२[4] सामान्यतः छः दिनों के अभिप्लव का वर्णन करता है; यह वर्णन रहस्यपूर्ण अदल-बदल के साथ किया गया है, जिसके फलस्वरूप इसमें पाँच दिनों से एक दिन तक आ जाता है। इसके अनन्तर (२ = श० ब्रा० १२. २. १. १–९[5]) सत्र के गाध-प्रतिष्ठा नामक स्वरूप का वर्णन है। इसके बाद के तीन खण्डों में सत्र एवं इसके अङ्गों का सांगिक पुरुष

---

१. अथ वाऽअतोऽह्नामभ्यारोहः। प्रायणीयेनातिरात्रेणोदयनीयमतिरात्रमभ्यारोहन्ति··· शत० ब्रा० १२।२।३।१०,११

२. अथादित्याश्च ह वाऽअङ्गिरसश्च। उभये प्राजापत्या अस्पर्द्धन्त वयं पूर्वे स्वर्गं लोकमेष्यामो वयम्······शत० ब्रा० १२।२।२।९–१२

३. प्रोतिर्ह कौशाम्बेयः। कौसुरुबिन्दुरुद्दालकऽआरुणौ ब्रह्मचर्यमुवासतम्······ शत० ब्रा० १२।२।२।१३–२३

४. अभिप्लवः षडहः। षड् ह्यहानि भवन्त्यभिप्लवः······शत० ब्रा० १२।२।२।१२

५. ···गाधमेव प्रतिष्ठा चतुर्विंशमह।······शत० ब्रा० १२।२।१।१–९

तथा उसके अंगों से संवन्ध दिखाया गया है (३ = श० ब्रा० १२. १. ४. १[1]; ४ = श० ब्रा० १२. २. ४. १.[2] ५ = श० ब्रा० १२. ३. २. १[3])। इन खण्डों में गोपथ ब्राह्मण ने पर्याप्त स्वतन्त्रता बरती है; विशेषतः खण्ड ५ के दो पद्य श० ब्रा० १२. ३. २. ६, ७[4] से भिन्न हैं, और वे प्रकाशित साहित्य में और कहीं नहीं मिलते। इसके बाद (६ = श० ब्रा० १२. ३. ५. १२–१३[5]) विषुवत् दिन के दोनों ओर के दो अर्ध सत्र-वर्षों की मुख्य घटनाओं का समान वर्गीकरण और संख्यात्मक संवन्ध दिखाया गया है, जो वैतान सूत्र ३१. १५[6] और गो० ब्रा० १. ५. २३[7] से भिन्न प्रकार का है।

यहाँ पहुँच कर (७) ब्राह्मण तथाकथित हविर्यज्ञ अथवा इष्टि एवं सोम-यज्ञों (सोमसंस्था) का उल्लेख करता हुआ एक यज्ञक्रम उपस्थित करता है। यह केवल सोम-उत्सवों में के प्रथम अनुष्ठान 'अग्निष्टोम' तक ही उस क्रम को अपनाता है जो कि वैतान में मिलता है। न तो यह यज्ञक्रम और न वैतान द्वारा व्यवहृत क्रम ही आगे के गो० ब्रा० १. ५. २३ में अपनाये यज्ञ-क्रम से मेल खाता है। पिछला धर्मसूत्रों में अपनाये गये यज्ञ-क्रम से पूरी तरह मेल खाता है, जैसा कि गोतम ध० सू० ८ १९; २०[8] के अनुसार कहा गया है। वर्तमान विवरण अन्य सभी ज्ञात विवरणों से अल्पाधिक मात्रा में स्वतन्त्र है। यह यज्ञक्रम सहस्र दक्षिण यज्ञ के महत्त्व को पहचानने के लिये एक सोपान-मात्र है (८)। प्रजापति सभी यज्ञों को यज्ञक्रम के अनुसार करते हैं, परंतु इनके वदले उन्हें केवल नश्वर फल ही (अन्तम्) प्राप्त होते हैं; किंतु जब वह सहस्र दक्षिणा

---

१. पुरुषो वै संवत्सरः। तस्य पादावेव प्रायणीयोऽतिरात्रः पादाभ्यां हि प्रयन्ति·········
शत० ब्रा० १२।१।४।१

२. पुरुषो वै संवत्सरः। तस्य प्राण एव प्रायणीयोऽतिरात्रः प्राणेन हि प्रयन्ति·········
शत० ब्रा० १२।२।४।१

३. पुरुषो वै संवत्सरः। पुरुष इत्येकं संवत्सर इत्येकमत्र···शत० ब्रा० १२।३।२।१

४. एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह वार्कलिः। सार्वभौमं मेवं वर्षन्तम्···शत० ब्रा० १२।३।२।६,७

५. संवत्सरस्य समता वेदितव्या। एकं पुरस्ताद्विषुवतोऽतिरात्रमुपयन्ति·········
शत० ब्रा० १२।३।५।१२–१३

६. तदेतच्छ्लोकोऽभिवदति द्वावतिरात्रौ षट्शतमग्निष्टोमा द्वे विंशतिशते उक्थ्यानाम्। द्वादश षोडशिनः षष्टिः षडहा वैषुवतं चेति। वैतान ३१।१५

७. सायंप्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः। गो० ब्रा० १।५।२३

८. अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपौर्णमासावाग्रयणं चातुर्मास्यानि निरूढपशुबन्धः सौत्रामणीति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः। गौ० ध० सू० ८।१९
अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः। गौ० ध० सू० ८।२०

के साथ सत्र का अनुसरण करते हैं तब उन्हें अनन्त फल प्राप्त होता है। वैतान ३४. २१[1] पर कहे गये ये दोनों खण्ड निश्चय ही गौण रचना हैं।

शतपथ ब्राह्मण के ठीक पीछे चलते हुए गो० ब्रा० का खण्ड ९ = श० ब्रा० १२. ३. ५. ३-११[2] सत्र में संलग्न लोगों (संवत्सरसंसदः) को अग्निहोत्रादि अन्य यज्ञों को सतत करते रहने का आदेश देता है; इसके अनन्तर (१० = श० ब्रा० १२. ३. ३. १[3]) एक आख्यान आता है, जो वै० सू० के उस खण्ड (४२. १८[4]) की व्याख्या करता है, जिसमें १००० वर्ष तक चलने वाले याग का विवरण दिया गया है, और जिसके स्थान पर 'विश्वजित्' की ऊहा की गई है: शत० ब्रा० १२. ३. ३. २[5] के तीन वेदों के स्थान पर गो० ब्रा० ५ वेदों को स्थापित करता है (ऋचि, यजुषि, साम्नि, शान्ते = अथर्वणि और घोरे = अङ्गिरसि)। खण्ड ११-२० तीन दैनिक सवनों के विषय का मनमाना विस्तार करते हैं, जिनका विवरण श० ब्रा० १२. ३. ४. १[6] में मिल जाता है। गो० ब्रा० बहुत से अथर्व-लक्षणों को अपनी रचना में ले आता है: ११ में 'विद्वांसः' चतुर्थ (ब्रह्मा) ऋत्विज् का वर्णन उन्हीं शब्दों में किया गया है जिनमें कौशि० ९४. ३, ४[7] करता है। श० ब्रा० १२. ३. ४. ६-९ में चार मन्त्रों 'मयि भर्गः मयि सर्वम्' को तीन सर्गिक एवं याज्ञिक स्वरूपों से संबद्ध किया गया है, जिनमें त्रयी विद्या तथा एक अनिश्चित चतुर्थ जो 'सर्वम्' का समानान्तर है, (ये अन्ये लोकाः, देवाः वेदाः प्राणाः तत्सर्वम्') संमिलित हैं। गो० ब्रा० इसे सुनिश्चित चतुष्ट्यी में बदल देता है, जिससे हमें आथर्वण सर्ग (आपः चन्द्रमाः आदि) की मयि सर्वम् (सर्वविद्या = ब्रह्मदेव) के संबन्ध में प्राप्ति हो जाती है: देखो खण्ड १५ और १९। तीन सवनों (१२-१४) पर तीन मन्त्रों का मौलिक पाठ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। गो० ब्रा० ११-२० संभवतः उस ढंग

---

१. अथ ज्योतिष्टोमेनाग्निष्टोमेनात्मनिष्क्रयणेन सहस्रदक्षिणेन पृष्ठशमनीयेन त्वरेत। वै० सू० ३४।२१

२. तदाहुः। यत्संवत्सराय संवत्सरसदो दीक्षन्ते कथमेषामग्निहोत्रमनन्तरितं भवतीति व्रतेनेति ब्रूयात्।......शत० ब्रा० १२।३।५।३-११

३. देवा ह वै सहस्रसंवत्सराय दिदीक्षिरे। तेषां पञ्चशतानि......शत० ब्रा० १२।३।३।१

४. सहस्रसंवत्सरपर्यन्तान्ययनानि विश्वजिता सहस्रसंवत्सरप्रतिमेन यजेत्। वै० सू० ४२।१८

५. ...ऋग्वेदो वै भर्गः। यजुर्वेदो महः सामवेदो यशो...वेदास्तत्सर्वम्।......... शत० ब्रा० १२।३।३।२

६. ...वसवः प्रातःसवनेनागू रुद्रा माध्यन्दिनेन सवनेनादित्यास्तृतीयसवनेनाथ...... शत० ब्रा० १२।३।४।१

७. एष ह वै विद्वान्यद् भृग्वङ्गिरोवित्। कौ० सू० ९४।३
एते ह वा अस्य सर्वस्य शमयितारः पालयितारो यद् भृग्वङ्गिरसः। कौ० सू० ९४।४

का सबसे अच्छा नमूना है, जिसमें यह ब्राह्मण मौलिक श्रौत परंपरा से अत्यन्त दूर डिगा होने पर भी अपने प्राथमिक उद्देश्य अथर्वन् की प्रशंसा के लिये वर्तमान वस्तुओं का संयोजन करता है; और यहाँ पहुँचकर (२१) दध्यञ्च् आङ्गिरस का उपाख्यान प्रस्तुत करता है, जो शतपथ में नहीं मिलता और जो १७ अक्षरों वाले 'औं श्रावय' आदि सूत्रों का, वर्ष, प्रजापति अथवा याग के साथ संबन्ध उभारता है और इसके अनन्तर पितरों के निमन्त्रण, प्रवर की ओर बढ़ता है; वैता० ५-१५[1]। यहाँ गोपथ उस ग्रन्थ के शब्दों तथा उद्धरण (अथ० ६. १२३. ३-५[2]), को भी दुहराता है। विषय का अन्त (२२ = श० ब्रा० १२. ३. ५. ११[3]) 'सावित्र पशु' के साथ होता है (तुल० वैता० २२. १०[4])।

७६. *पञ्चम प्रपाठक : १. ५. २३-२५. यज्ञ के विषय में छन्दोबद्ध प्रबन्ध*—पूर्व ब्राह्मण के अन्तिम तीन खण्डों में रचना की एकता नहीं दीख पड़ती, जिससे कल्पना की जा सकती है कि वे खण्ड एक ही व्यक्ति की रचना नहीं है। प्रथम (२३) में सामान्य यज्ञक्रम है; इसके हविर्यज्ञ और सोमसंस्था: (सुत्या:) के विवरण गौतम धर्म सूत्र ८. १९, २०[5] से मिलते हैं। 'पाक-यज्ञ' सत्यव्रत सामश्रमी के जर्नल उषा के शब्द और क्रम से मिलते हैं। यहाँ यज्ञ-क्रम की सामवेद की शाखाओं से उत्पत्ति बताई गई है और इससे इस खण्ड में उन श्लोकों के पाये जाने का महत्त्व खिल उठता है, जो सामवेदीय जैमिनीय ब्राह्मण के समानान्तर हैं। इस खण्ड के शेष भाग में प्रश्न और उत्तर हैं (ब्रह्मोद्य), जो यज्ञिय वर्ष के काल-विभाजन के विषय में हैं। मन्त्रों में से एक वैता० ३१. १५[6] के अनुरूप है। एक दूसरा मन्त्र जैमिनीय ब्राह्मण २. ७१. ७३, पाठान्तर के साथ मिलता है; एक और मन्त्र जैमिनीय ब्राह्मण २. ७१.[7] गो० ब्रा० के प्रारम्भिक मन्त्र के साथ समानता दिखाता है। इसके बाद का खण्ड (२४) यज्ञ के उद्भव के संबन्ध में आथर्वणिक सृष्ट्युत्पत्ति-संबन्धी विवरण प्रस्तुत करता है। वैश्वानर, तप से तमतमाते हुए संतानेच्छुक श्रद्धा में शुक्र डालते हैं। इससे विश्वविजेता सोमदन्त अङ्गिरस् का जन्म होता है। इसके बाद परिणामभूत चारों वेदों का वर्णन किया गया है। 'पवित्र अथर्वन् तथा अङ्गिरस्, प्रायश्चित्त

---

१. प्रवरे प्रव्रियमाणे वाचयेद्देवाः पितर इति तिस्रः। वै० सू० २।१५

२. देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि। अथ० ६।१२३।३ इत्यादि ३ मन्त्र

३. ते वाऽएवमेते यज्ञक्रतवः। संवत्सरमपि यन्ति स यो हैवमेताम् शत० ब्रा० १२।३।५।११

४. मध्यमोच्चैस्तरया वाचा संतव्यौ। वै० सू० २२।१०

५. गौ० ध० सूत्र—देखिये पृष्ठ १८९

६. तदेच्छ्लोकोऽभिवदति द्वावतिरात्रौ षट्शतमग्निष्टोमा···वै० सू० ३१।१५

७. अथ वा अतस् संख्यानस्यैव। तस्य वा एतस्य संवत्सरस्य सप्त विंशतिशतान्यहोरात्राणां भवन्ति। जैमि० ब्रा० २।७१

और भेषज से प्रशंसा करते हैं'। इसके बाद चार वैदिक वर्गों में विभक्त १७ श्रौत पुरोहितों की सूची आती है; इन्हीं में चार कार्यकर्ता और जोड़ दिए गये हैं : यज्ञ के समय पत्नी (दीक्षिता पत्नी), कसाई (शमितर्), गृहपति, और अन्त में स्वयं अङ्गिरस्। अन्तिम खण्ड (२४) अथर्वन् को एकदम देव-तुल्य बना देता है। यह कहने के बाद कि सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन (२१) शास्त्रीय यज्ञ अङ्गिरस् में निहित हैं, यह ग्रन्थ एक बार फिर अथर्ववेद की ओर से विस्तृत सर्गिक चतुष्टयी में प्रवेश करता है, जो पहले जैसी होने पर भी उससे किन्हीं अंशों में भिन्न है। सर्ग–निर्माण का चरम परिणाम अथर्वन् से रक्षित (रहस्यमय) यज्ञ है। नियमित यज्ञों के अतिरिक्त ग्राम्य तथा वन्य मन्त्र एवं बलि भी अङ्गिरस् में आ मिलते हैं; अन्त में अथर्वन् ब्रह्म के स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है, जब कि त्रयी विद्या से केवल 'त्रिविष्टं त्रिदिवं नाकमुत्तमम्' की ही प्राप्ति संभव है।

(ग) उत्तर ब्राह्मण का विषय = यज्ञकर्म

७७. *प्रथम प्रपाठक : २. १. १–१२. दर्शपूर्णमास बलियाँ*— प्रथम खण्ड में तीन विषयों का विवेचन है : ब्रह्मन् के आसन का पवित्रीकरण, प्रणीता-जल का लाना और अग्नि के चारों ओर परिधि-काष्ठों का विन्यास। केवल दो विशिष्ट बातों को छोड़कर, प्रथम दो विषय शब्दशः कौ० ब्रा० ६–१३[1] से लिये गये हैं। 'इदमहमर्वावसोः' इत्यादि मन्त्र का असली आथर्वणिक रूप मिलता है : 'इदमहमर्वाग्वसोः' इत्यादि (कौशिक ३-७; १३७. ३९); और कौ० ब्रा० के 'बृहस्पतिर्हं वै देवानां ब्रह्मा' को बदल कर गो० ब्रा० 'बृहस्पतिर्वा आङ्गिरसो' पढ़ता है, जो आङ्गिरस वेद की महत्ता का ख्यापक है। प्रणीता-जल के विषय में वैतान २. २[2] का विवरण कौ० ब्रा० और गो० ब्रा० से मिलता है, किंतु जो परिधि से संबद्ध है (वैतान ३-८, १३)[3] वह कौ० ब्रा० में नहीं मिलता, बल्कि गो० ब्रा० में मौलिक प्रतीत होता है। बाद के तीन खण्ड (२–४) प्राशित्र भोज्य का वर्णन करते हैं (वैतान ३. ७[4]); ये प्राशित्र आख्यान से प्रारम्भ होते हैं। यज्ञ का भागी न बन सकने पर रुद्र ने यज्ञ के एक भाग प्राशित्र को अलग कर दिया। यह क्रमशः भग को दिया गया और वे अन्धे बन गये; सविता को दिया गया, उनके हाथ (और बाद में स्वर्णहस्त) जाते रहे; पूषा को मिला और वे दांत गिर जाने पर यवागु खाने लगे, इध्म अङ्गिरस् को दिया गया, उनका सिर ही जाता रहा। बर्हि आङ्गिरस को दिया गया, उनका शरीर ही अलग हो गया, और अन्त में जब यह बृहस्पति

१. अथ यद्ब्रह्मसदनात्तृणं निरस्यति शोधयत्येवैनम्'''कौ० ब्रा० ६।१३

२. प्रणीतासु प्रणीयमानासु वाचं यच्छत्याहविष्कृत उद्वादनात्। वै० सू० २।२

३. यस्यां वृत्ता इति परिधीन्निधीयमानान्। वै० सू० २।८ इत्यादि

४. प्राशित्रं यवमात्रमधस्तादुपरिष्टाद्वाभिघारितमग्रेणाध्वर्युः परिहरति। वै० सू० ३।७

आङ्गिरस (विशेष ब्रह्मन्-ऋत्विज्) को दिया गया, तब उन्होंने मन्त्र पढ़कर इसे हानि-रहित बना दिया। इध्म आङ्गिरस, दध्यङ्ङ् आथर्वण या आङ्गिरस के प्रसिद्ध आख्यान की ओर संकेत करते हैं। इध्म और बर्हि का अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता, क्योंकि ये दोनों कल्पित मूर्त स्वरूप हैं। यहाँ वर्णित तीन आङ्गिरसों से प्रतीत होता है कि इन्हें इसमें जोड़ने का आशय है आख्यान को आथर्वण ढांचा पहराना। खण्ड ३ का उत्तरार्ध कौ० ब्रा० ६. १४[1] के, तथा खण्ड ४ तै० सं. २. ६. ९[2] के समान है। इसके अनन्तर दर्शपूर्णमास के व्यक्तिगत विषयों का विवेचन है। दक्षिणा का निषेध किया गया है, क्योंकि अन्वाहार्य मन्थ इन यज्ञों की निर्दिष्ट दक्षिणा है (५); अन्वाहार्य से संबद्ध दूसरा खण्ड (६) मै० सं. १. ४. ६[3] से लगभग शब्दशः लिया गया है, और (७) अन्वाहार्य को प्रजापति का भाग बताया गया है। इस बात को इस आख्यान द्वारा स्पष्ट किया गया है कि देवताओं ने प्रजापति के लिये यज्ञ किया, जबकि राक्षसों ने परस्पर एक दूसरे के मुख में बलि दी। सोमयज्ञ में दीक्षित होने से पूर्व दर्शपूर्णमास यज्ञ को निष्पन्न करने की आवश्यकता का वर्णन खण्ड ८ में हुआ है; पुरोहित द्वारा सायं बलि पकाते समय चन्द्रमा का उदय हो जाने के फलस्वरूप विहित एक प्रायश्चित्त कर्म ९ में वर्णित है। पूर्वा और उत्तरा पौर्णमासी तथा अमावस्या का रहस्यात्मक वर्णन कौ० सू० १-२९, ३०[4] से शब्दशः उतार कर आगे खण्ड १० में रखा गया है। यह नियम कि दर्शपूर्णमास दिनों में से केवल एक ही को चुनना चाहिये अक्षरशः तै० सं. २. ५. ५, २[5] से लिया गया है और संपादित पुस्तक में गलतियों से भरा पड़ा है। अन्त में (१२) अग्नि-विष्णु तथा सरस्वती और सरस्वन्त् की विशिष्ट बलियों का, जो दर्शपूर्णमास से पहले होती हैं, वैतानसूत्र ८.१, २[6] के अनुसार वर्णन दिया गया है।

२. १. १३-१६. काम्येष्टयः—अगले तीन खण्ड (१३–१५) विशेष-विशेष इच्छाओं की पूर्ति के लिए किये जाने वाले यज्ञों का वर्णन करते हैं। वैतान में इसका समानान्तर प्रकरण नहीं है। सच पूछो तो ये मै० सं० २. १. १०[7] की अक्षरशः

१. इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठस्तस्मा एनत्परिहरतेति······कौ० ब्रा० ६।१४

२. अग्नीध आ दधात्यग्निमुखानेवर्तून् प्रीणाति······तै० सं० २।६।९

३. द्वया वै देवा अहुतादो यद्ब्राह्मणं,······इषमूर्जं नियच्छन्ति। मै० सं० १।४।६

४. या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राका ॥ कौ० सू० १।२९
या पूर्वामावस्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूः ॥ कौ० सू० १।३०

५. न द्वे यजेत यत् पूर्वया संप्रति यजेतोत्तरया······तै० सं० २।५।५।२

६. त्रयोदश्यामाग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेद्दर्शपूर्णमासावारिप्समानोऽग्नाविष्णू इति ॥ वै० सू० ८।१ इत्यादि

७. वारुणं घृते चरुं निर्वपेद्, वरुणो वै देवानां राजा,······मै० सं० २।१।१०

नकल हैं। खण्ड १६ वैतान सूत्र ११. १[1] (जो अग्निष्टोम से प्रारम्भ होता है) का ब्राह्मण है और गोपथ ब्रा० से शब्दशः मिलता है : यदि किसी के पिता-पितामहों ने अपने जीवनकाल में सोमयज्ञ न किया हो और वह इन्हें करना चाहता हो तो उसे चाहिये कि वह अग्नि-इन्द्र के लिये एक वृषभ (उस्रम् अनुसृष्टम्) छोड़ दे। चूंकि यह विषय बिना क्रम के वर्णित है इसलिए इसे काम्येष्टि समझा गया है।

२. १. १७–२६. आग्रायण, अग्निचयन और चातुर्मास्यानि—ऋतु के प्रथम फलों की बलि (१७) सामान्य आख्यान से प्रारम्भ होती है, जो अग्नि-इन्द्र, विश्वेदेवाः और सोम के हव्य का वर्णन करता है; और सब बातों में यह वैतान ८. ३-७[2] से मिलता-जुलता है। अन्त में आथर्वणिक याग 'पुरस्ताद्धोम' और 'संस्थित होम' (कौशिक २. ३. १९[3]) का उल्लेख आता है, जिससे प्रतीत होता है कि यह ब्राह्मण कुछ मौलिक है। खण्ड १८ में अग्निचयन का वर्णन है और उस अवसर पर अप्रतिरथ सूक्त[4] के आथर्वणिक स्वरूप (अथर्व० १९. १३[5]) के उपयोग का भी वर्णन दिया गया है। यह ब्राह्मण वैतान २९-१६[6] की व्याख्या करता है तथा मै० सं. ३.३.७[7] से मिलता-जुलता है। श० ब्रा० ९. २. ३. १–५[8] से भी तुलना कीजिये। यहां क्रम में कुछ भङ्ग दीख पड़ता है, क्योंकि इसके बाद के खण्ड में चातुर्मास्यानि का विवेचन है, जिसे वैतान–सूत्र ८ में आग्रायण के तुरत बाद रखा गया है। इस प्रपाठक के शेष खण्ड (१९–२६) ऋतु–बलियों का वर्णन करते हैं; वे, जैसा कि कहा जा चुका है, कौषीतकि ब्राह्मण से लिये गये हैं उनकी विशेष विवेचना की आवश्यकता नहीं है।

७८. *द्वितीय प्रपाठक : २. २. १-४ अग्निष्टोम का तनूनप्त्र कर्म*—प्रथम खण्ड भ्रामक रूप में कुछ काम्येष्टियों से प्रारम्भ होता है, जिनमें विशेष-विशेष फल की इच्छा से 'आहिताग्नि' (जिसने पवित्र अग्नि की स्थापना की है) व्यक्ति द्वारा पशुओं और पक्षियों की बलि दी जाती है। दसवें अध्याय में पशुबन्ध का विवेचन करने वाले वैतान सूत्र के क्रम में यहाँ भङ्ग कर दिया गया है। इसके बाद (२-४) ब्राह्मण तनूनप्त्र पर आता है, और तै० सं. ६. २. २. १[9] के आख्यान से अक्षरशः प्रारम्भ

१. सोमेन यक्ष्यमाण ऐन्द्राग्नमुस्रमालभेत यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबेत् ॥ वै० सू० ११।१

२. आधानवृद्धिश्चेदर्वाक्संवत्सराद्रोहिण्यामुत्सृज्याग्निहोत्रं पुनर्वस्वोः पुनरादधीतों भूर्भुवः स्वर्जनदोमिति ॥ वै० सू० ८।३ इत्यादि

३. पुरस्ताद्धोम आज्यभागः संस्थितहोमः समृद्धिः शान्तानामिति। कौ० सू० ३।१९

४. प्रधानहोममंत्रान्पुरस्ताद्धोमसंस्थितहोमेष्वावपन्त्येके ॥ वै० सू० १।४

५. इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणौ चित्रा इमावृषभौ पारयिष्णू। अथ० १९।१३।ab

६. प्रतीच्य प्रतिगृह्याग्निहुतस्येन्द्रपीथस्येन्दोरिन्द्रियावतः। वै० सू० १९।१६

७. इन्द्रो वै वृत्रमहन्त्सं प्राङपद्यत, संपद्यमाना इन्द्रं षोडशभिर्भोगैः पर्यगृह्णत्··· मै० सं० ३।३।७

८. अथातः सम्प्रेष्यति। उद्यच्छेध्ममुपयच्छोपयमनीरग्नये······शत० ब्रा० ९।२।३।१।५

९. यदुभौ विमुच्याऽऽतिथ्यं गृह्णीयाद्यज्ञं विच्छिन्द्याद्यदुभावविमुच्य···तै० सं० ६।२।२।१

करता है। इसके बाद मुख्य अनुष्ठान आता है, जो तै० सं० से घनिष्ठ संपर्क रखता है, किंतु उसमें एक या दो आथर्वणिक परिष्कार जोड़ दिये गये हैं : गो० ब्रा० तै० सं० के 'प्राण' के स्थान पर 'मनस्' (ब्रह्मा का प्रतिनिधि) का प्रयोग करता है। बहुत से मन्त्र तै० सं० की अपेक्षा वैतानसूत्र (१३. १६ एवं आगे) के समानान्तर हैं। गो० ब्रा० बिना किसी स्वतन्त्र परंपरा के आधार के सूत्र के कर्मों को तै० सं० के ब्राह्मण से अलंकृत कर देता है।

२. २. ५–६. प्रवर्ग्य कर्म—खण्ड ५ पुनः वैतान के यज्ञक्रम में यज्ञ के उन दोषों का विवरण देकर व्यवच्छेद उत्पन्न कर देता है, जो क्रमशः इसे भृग्वङ्गिरोविद् के महत्त्व-ख्यापन की ओर बढ़ा देता है। यह खण्ड, ६ में आये यज्ञ-आख्यान के कारण यहाँ उपयुक्त समझा गया होगा। विवेचन 'मख' शब्द पर आधृत है, एवं 'मख इत्येतद् यज्ञनामधेयम्' से प्रारम्भ होता है, जो साफ तौर से नैघण्टुकों की भाषा है। हो न हो यह खण्ड यास्क के बाद का है। अनेक परिशिष्ट श्लोक भी बहुत बाद की तिथि की ओर संकेत करते हैं। इसके बाद सामान्य आख्यान से प्रारम्भ होने वाला प्रवर्ग्य (६) आता है, जो ऐ० ब्रा० १. १८[1] से अक्षरशः उद्धृत है; (तुल० ऐ० ब्रा० १. ४. ९)। अनुष्ठान और मन्त्र वैतान १३. २५[2] से मेल खाते हैं, जिसके साथ कि गो० ब्रा० जगह-जगह अक्षरशः मिलकर चलता है; यथा १३. २६, ३०। वैतान सूत्र (१४.१[3]) अथर्ववेद पैप्पलाद से सारे-के-सारे धर्म-सूक्त को उद्धृत करता है; गो० ब्रा० इसे प्रतीक (घर्मं तपामि) द्वारा उद्धृत करता है। इसमें संदेह नहीं है कि गोपथ ब्राह्मण सूत्र की पूर्व सत्ता को मानता है।

२. २. ७–१२. उपसद्-दिवस, तथा अग्निष्टोम का सातत्य-खण्ड ७ तथा ८ उपसदों से संवद्ध आख्यान एवं सामान्य विषयों का विवेचन करते हैं। आख्यान का वर्णन कुछ अंशों में स्वतन्त्र-सा है। खण्ड ९ देवपत्न्य : की गणना के विषय में वैतान १५. ३[4] से मेल खाता है। दोनों ग्रन्थ भिन्न हैं : मै० सं० १-०-२[5]; तै० आ० ३-९-१[6] और आगे से जो आपस में समान हैं। खण्ड १० वैतान १६. ५[7] का ब्राह्मण है और कुछ भाग में उसके समान है। यज्ञ के ३३ स्वरूपों (यज्ञ–तनूः) की

---

१. यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामन्न वोऽहमन्नं भविष्यामीति नेति देवा अब्रुवन्···ऐ० ब्रा० ४।१८

२. प्रवर्ग्याय पुरस्ताद्धोमान्हुत्वा गार्हपत्यं दक्षिणेनोपविशति। वैतान १३।२५

३. धर्मं तपाम्यमृतस्य धारया·····वैता० १४।१

४. यत्राहाध्वर्युरग्नीद्देवपत्नीर्व्याचक्ष्वेति तदपरेण गार्हपत्यं·····वैता० १५।३

५. सेनेन्द्रस्य, धेना बृहस्पते, गायत्री वसूनाम्·····मैं० सं० १।९।२

६. सेनेन्द्रस्य। धेना बृहस्पतेः।··· : तै० आ० ३।९।१
ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यन्तं वसिष्ठः प्रत्यक्षमपश्यत्·····ते० सं० ३।५।२।१

७. हविरुपावहत इत्यादि वैश्वानरोऽग्निष्टोम इत्यन्ताभिर्यज्ञतनूभिः···वै० १६-५

आख्यानात्मक व्याख्या का स्रोत निकाल लेना कठिन है। खण्ड ११, जो वैतान १६. ६[1] के शब्दशः समान है, बताता है कि विरोधी के सोमयज्ञ को कैसे नष्ट किया जाय। खण्ड १२ वैतान १६. १५–१७[2] का ब्राह्मण है, और सोम के अत्यधिक स्राव हो जाने पर विहित प्रायश्चित्त का विवेचन करता है। दोनों ग्रन्थ अक्षरशः समान हैं। वैतान १६.१७[3] के मन्त्र गो० ब्रा० में खण्डशः व्याख्यात्मक टिप्पणियों के साथ उद्धृत हैं, मानों इस विषय में वैतान गो० ब्रा० की अपनी संहिता हो।

२.२.१३–१५. स्तोमभाग के मन्त्र– खण्ड १३ इन मन्त्रों की उत्पत्ति वाले आख्यान से प्रारम्भ होता है, जो मुख्यतः वही है, जो तै० सं० ३. ५. २-१ में; अन्तर केवल इतना है कि गो० ब्रा० 'तस्माद्वासिष्ठो ब्रह्मा कार्यः' इस वचन को छोड़ देता है, क्योंकि यह आथर्वणिक याज्ञिक सिद्धान्तों के विपरीत है। बाद के मन्त्र वैतान तथा तै० सं० से मेल नहीं खाते, फिर भी खण्ड १४ वैतान १७-१६[4] की अथर्व-व्याहृतियों (तुलना करो गो. ब्रा. १. ३. ३[5]) की सूची से साम्य रखता है, और रक्षा के उद्देश्य से 'ॐ' और 'जनत्' का प्रयोग (ऋग्भिरेवोभयतोऽथर्वाङ्गिरोभिर्गुप्ताभिः) का विधान सामान्य व्याहृतियों के दोनों ओर करता है : ॐ भूर्जनत्। 'अप गा' 'गाना बन्द करो' यह कथन केवल यहाँ और वैतालसूत्र १७.४ में मिलता है। खण्ड १५, जो वैतानसूत्र १७.७[6] की व्याख्या है, शत्रु के द्वारा किये जाने वाले यज्ञ को जीतने के लिए 'स्तोमभागों' के महत्त्व का वर्णन करता है। दोनों ग्रन्थों में 'स्तुतेषे' इत्यादि लम्बा मन्त्र समान है। भले ही ब्राह्मण में कुछ स्वतन्त्रता के चिह्न दीख पड़ते हैं फिर भी यह सूत्र से बाद का है। वैतान से घनिष्ठ संपर्क में ही खण्ड १६ वहिष्पवमान के अन्त में अग्नीध्र अग्नि के विभाजन का वर्णन करता है। दोनों ग्रन्थों के प्रैष एक हैं : वैतान १७. १२–१८. १;[7] तुलना करो श० ब्रा० ४. २. ५. ११.[8] । खण्ड १७, वैतान १८. ५[9] (तुलना करो तै०

१. यजूंषि यज्ञ इति च विष्पर्धायां चतुर्भिश्चतुर्भिः पुरस्तात्प्रातरनुवाकस्य। वैता० १६।६
२. यत्र विजानाति ब्रह्मन्त्सोमोऽस्कन्निति तमेतयालभ्याभिमन्त्रयते……वै० १६।१५
३. अध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता प्रस्तोतोद्गाता प्रतिहर्ता ब्रह्मा होमाञ्जुह्वति ॥ वैंता० १६।१७
४. उक्थ्यादिष्वहीने चों भूर्भुवः स्वर्जनद्वृधत्करद्रुहन्महत्तच्छमोमिति च ॥ वै० सू० १७।६
५. तदु ह स्माह श्वेतकेतुरारुणेयो ब्रह्माणं दृष्ट्वा……गो० ब्रा० १।३।३।
६. त्रिष्पर्धमानयोः सवृतसोमयोः स्तोमभागानामुपर्युपरि स्तुतेषे स्तुतोर्जे स्तुत देवस्य सवितुः सवे।…वै० सू० १७।७
७. अथाध्वर्युराहाग्नीदग्नीन् विहर वर्हिं स्तृणीहि पुरोडाशानलंकुर्विति ॥…………
वै० सू० १७।१२ इत्यादि
८. अ॒थ स्तुत॒ऽएतां वा॒चं वदति। अ॒ग्नीदग्नीन्वि॒हर ब॒र्हि॒ स्तृणीहि…शत० ब्रा० ४।२।५।११
९. सदः प्रसृप्स्यन्तो धिष्ण्यान्नमस्कुर्वन्ति धिष्ण्येभ्यो नमो नम इति।…………
वै० सू० १८।११ इत्यादि

सं० ३-१-१०-१[1]) के अनुसार ही प्रवृताहुतियों 'ऋत्विग्-वरण के समयकी आहुतियों' का वर्णन करता है, और खण्ड १८-१९ (वैतान १८. ११-१५) 'सदस्' की क्रियाओं का विवेचन करते हैं। वैतान १८. ११ का 'धिष्ण्येभ्यो नमोनमः' यह मन्त्र आंशिक रूप में गो० ब्रा० में निर्दिष्ट है, मानों वैतान ने इस ब्राह्मण के लिये संहिता का स्थान प्राप्त कर लिया हो। खण्ड २०-२२ 'प्रस्थित पात्रों' के द्वारा होता की आहुतियों का वर्णन, वैतान १९.६[2] के अनुसार करते हैं। क्योंकि होता ऋग्वेदी होता है, अतः ये खण्ड ऐ० ब्रा० ६. १०; ६. ११; ६; और ६. १२. ६[3] आदि से लिये गये हैं। प्रपाठक दो खण्डों (२३-२४) के साथ समाप्त होता है, जिनमें से पहला फिर विचक्षणवती वाक्' और 'चनसितवची वाक्' इन अभिधानों की व्याख्या में लग जाता है (दे० १. ३. १९)[4]। अन्तिम खण्ड आश्चर्यजनक रूप से दर्शपूर्णमास पर फिर लौट आता है, और दर्शपूर्णमास दिनों के प्रथम दिन देवताओं के स्वीकरण (परिगृह्णीयात्) का निर्देश करता है; क्योंकि ये याग 'सत्रुत' कहाते हैं, अर्थात् इनका अनुष्ठान एक ही समय में बहुत से लोग करते हैं। यह खण्ड वैतान १. १४ का ब्राह्मण प्रतीत होता है।

७२. तृतीय प्रपाठक : २. ३. १ ११. अग्निष्टोम चालू : वषट्कार और अनुवषट्कार; ऋतुग्रह आदि—वैतान १९. ८-१२[5] की व्याख्या के रूप में, जिसका संबन्ध वषट्कार, अनुवषट्कार (होता के कृत्य) के साथ है, गो० ब्रा० के खण्ड १-६ कुछ अदल-बदल के साथ ऐ० ब्रा० ३. ५-३. ८[6] को उपस्थित करते है।

यास्क, निरुक्त ८. २२[7] में, ऐ० ब्रा० ३. ८. १;[8] गो० ब्रा० २. ३. ४[9] के

---

१. जुष्टो वाचो भूयासं जुष्टो वाचस्पतये देवि वाक्। तै० सं० ३।१।१०।१

२. इन्द्र त्वा वृषभं वयमिति ब्राह्मणाच्छंसी यजति उत्तराभ्यां पोत्राग्नीध्रौ वै० सू० १९।६

३. अथाऽऽह यदैन्द्रो वै यज्ञोऽथ कस्माद् द्वावेव प्रातःसवने प्रस्थितानां प्रत्यक्षादैन्द्रीभ्यां यजतो होता चैव···ऐ० ब्रा० ६।१०

ते वै खलु सर्व एव माध्यंदिने प्रस्थितानां प्रत्यक्षादैन्द्रीभिर्यजन्ति···ऐ० ब्रा० ६।११।६

अथाऽऽह यद्यथाछन्दसं पूर्वयोः सवनयोरन्वाह गायत्रीः प्रातः सवने···ऐ० ब्रा० ६।१२।६

४. विचक्षणवतीं वाचं भाषन्ते चनसितवतीं विचक्षयन्ति ब्राह्मणं चनसयन्ति········ गो० ब्रा० १।३।१९।

५. ये ३ यजामहे वौ ३ षडित्याद्यन्तावादिप्लुतावनवानम्। वै० सू० १९।८

६. देवपात्रं वा एतद्यद्वषट्कारो वषट्करोति देवपात्रेणैव तद्देवतास्तर्पयति···ऐ० ब्रा० ३।५ यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्साक्षादेव तद्देवतां प्रीणाति प्रत्यक्षाद्देवतां यजति इति। ऐ० ब्रा० ३।८

७. यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्, तां मनसा ध्यायेत् वषट्करिष्यन् निरुक्त ८।१२

८. ऐ० ब्रा० ३।८।१ देखिये पृष्ठ १९४

९. यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायन्वषट्कुर्यात् गो० ब्रा० २।३।४

प्रारम्भिक अंश को दोनों से भिन्न रूप में उद्धृत करते हैं; किंतु यहाँ उन्हें गो० ब्रा० की अपेक्षा, अधिक स्वतन्त्र परंपरा के ज्ञान का श्रेय देना उचित नहीं होगा; दोनों के गले में ऐ० ब्रा० का पाठ सुनाई पड़ रहा है। खण्ड ६ का द्वितीय भाग (वैतान १९. १८, १९[1]) सोम पीने पर आशीर्वाद की व्याख्या करता है और ऐ० ब्रा० ७. ३३. ५[2] को शाब्दिक परिवर्तन के साथ प्रस्तुत करता है। खण्ड ७-८ ऋतुग्रहों (वैतान २०. २[3]) का वर्णन करते हैं। खण्ड ७ अंशतः ऐ० ब्रा० २. २९[4] के अनुरूप है और उसी के समान है। खण्ड ८ का ऐ० ब्रा० ६. १४. ५[5] से आंशिक साम्य है। खण्ड ९ 'हिं' ध्वनि (वै० २०. १५, १६[6]) की आख्यानात्मक विवेचना प्राचीन ब्राह्मणीय भाषा में करता है, और इस प्रसङ्ग में दैनिक जीवन से कुछ रुचिर उदाहरणों को ग्रहण करता है। इसका समानान्तर संदर्भ नहीं पाया जा सका है : किंतु हो सकता है कि इसे आथर्वणिक परिवर्तनों के साथ किसी साम के ही स्रोत से लिया गया हो (हिंकृत्याथर्वाणो ब्रह्मत्वं कुर्वन्ति)। आहाव तथा प्रतिगर मन्त्रों का विवरण देने वाला खण्ड १० (वैतान २. १५) शब्दशः ऐ० ब्रा० ३. १२[7] (तुलना करो कौ० ब्रा० १४.३[8]) से उतार लिया गया है। अन्तर केवल इतना है कि मन्त्र को वैतानसूत्र के शब्दों में पढ़ा गया है, जो अन्य सभी ग्रन्थों के सूत्रों से भिन्न है। वैतानसूत्र २१. ३, ४[9] की व्याख्या करने वाला खण्ड ११ कौ० ब्रा० ११.४ और ५[10] से मामूली अदल-बदल के साथ उतार लिया गया है। इसमें 'इति ह स्माह कौषीतकिः' कथन भी मिलता है, जो कि इसके स्रोत के विषय में संदेह नहीं रहने देता। (तुलना करो ६५ से)।

२. ३. १२–१९. एकाह का प्रातःसवन—खण्ड १२ एक आख्यान के साथ

---

१. शं नो भव हृद आपीत इन्दो पितेव सोम सूनवे सुशेवः।···वै० सू० १९।१८ इत्यादि
२. ···आप्यायस्व समेतु ते सं ते पयांसि समु यन्तु···तत्समृद्धम्। ऐ० ब्रा० ७।३३।५
३. यजमानोऽति प्रेष्यति होतरेतद्यजेति ॥ वै० सू० २०।२
४. प्राणा वा ऋतुयाजास्तद्यदृतुयाजैश्चरन्ति प्राणानेव तद्यजमाने दधति, इति। ऐ० ब्रा० २।२९
५. अथाऽऽह यद्धोता यक्षद्धोता यक्षदिति मैत्रावरुणो होत्रे प्रेष्यत्यथ कस्मादहोतृभ्यः······ ऐ० ब्रा० ६।१४।५
६. प्रवरे प्रव्रियमाणे वाचयेद्देवाः पितर इति तिस्रः। वै० सू० २।१५
७. देवविशः कल्पयितव्या इत्याहुश्छन्दश्छन्दसि प्रतिष्ठाप्यमिति···ऐ० ब्रा० ३।१२
८. शोंसावों ३ इति प्रातःसवन आह्वयते यच्छुद्धं प्रणवं कुर्वन्ति ···कौ० ब्रा० १४।३
९. त्रिष्प्रथमां त्रिरुत्तमामन्वाह ॥ वै० सू० २१।३
१०. अथ सर्वा ह वै देवता होतारं प्रातरनुवाकमनुवक्ष्यन्तमाशंसमानाः प्रत्युपतिष्ठन्ते··· कौ० ब्रा० ११।४–५

प्रारम्भ होता है, जो ऐ० ब्रा० ३. १४[1] से मिलता-जुलता है। इसमें प्रजापति (अग्निष्टोम) यज्ञ करते हुए मृत्यु का सामना करते हैं, जिसे वे पदानुपद अग्निष्टोम के एक शस्त्र और स्तोत्र से दूसरे पर हटाते चलते हैं। खण्ड १३–१५ (आज्य और प्रउग के बाद) तीन शस्त्रों का वर्णन करते हैं, जो होता के तीन सहायकों 'मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसिन्' और 'अच्छावाक' के लिए हैं; ये खण्ड वैतान २०. १४[2] पर आधृत हैं। यद्यपि इनमें ऐसे मन्त्र हैं, जिन्हें अन्य ब्राह्मणों के समानान्तर अध्यायों में मिलना चाहिये, परंतु ऐसी बात नहीं है; वे गो० ब्रा० के अपने मौलिक प्रतीत होते हैं, और संभवतः किसी ऋग्वेदीय सूत्र की शैली में बनाये गए हैं; तु० शां० श्रौ० ११.१[3]। इस प्रकार 'अयमु त्वा विचर्षणे (ऋ० ८. १७. ७ = अथर्व २०. ५. १) मन्त्र वैतान २१. २ और गो० ब्रा० २. ३. १४ से अलग ग्रन्थों में उद्धृत नहीं मिलता। 'इन्द्र पिब प्रतिकामं सुतस्य' (ऋ० १०. ११२. १) केवल गो० ब्रा० २. ३. १४ में उद्धृत है। खण्ड १६ एक स्वतन्त्र प्रतीत होने वाले ब्राह्मण द्वारा, प्रातःसवन के आहाव (शसांवोम्) के वैतान २०. १५[4] (तुलना करो गो० ब्रा० २. ४. ४[5] और १८[6]) के संबन्ध में चार प्रकार के विनियोग का विवरण देता है।

खण्ड १७–१९ में इस बात का विवेचन है कि दक्षिणा ब्राह्मणों को किस क्रम में दी जानी चाहिए, और दक्षिणा में क्या-क्या देना चाहिए; तुलना करो वैतानसूत्र २१. २४–२२. २[7]। ये मैसं० ४. ८. ३ की शब्दशः नकल हैं।

२. ३. २०–२. ४. ४. एकाह का माध्यंदिन सवन— विषय का विवेचन मुख्यतः वैतान सूत्र के क्रम में हुआ है और ऐ० ब्रा० से पर्याप्त सामग्री ली गई है; किंतु प्रातः सवन की भाँति यहाँ भी कुछ अध्याय गो० ब्रा० के मौलिक प्रतीत होते हैं। खण्ड २०, २१, जो ऐ० ब्रा० ३. २३[8] को पुनः शब्दशः उपस्थित करते हुए 'सा' (ऋक्) का 'अम' (सामन्) के साथ दीखने वाले संयोग के आख्यान का वर्णन करते हैं, जिसके कारण तीन ऋचों के मिलने पर सामन् की

---

१. अग्निर्वै देवानां होताऽऽसीत्तं मृत्युर्बहिष्पवमानेऽसीदत्…ऐ० ब्रा० ३।१४

२. प्रउगशस्त्राद्वैश्वदेवम्। मैत्रावरुणस्य मैत्रावरुणम्।…वै० सू० २।१४

३. …आ नो मित्रावरुणा मित्रं वयं मित्रम्…शां० श्रौ० सू० १२।१

४. ब्राह्मणाच्छंस्युक्तमाप्रतीहारान्त्रिर्हिङ्कृत्य…वै० सू० २०।१५

५. अथाध्वर्यो शंसावोमिति स्तोत्रियायानुरूपाय प्रगाथायोक्थमुखाय परिधानीयाया……
गो० ब्रा० २।४।४

६. अथाध्वर्यो शंशंसावोमिति स्तोत्रियायानुरूपाय…गो० ब्रा० २।४।१८

७. हिरण्यहस्तो यजमानो बहिर्वेदि दक्षिणा आयतीरा गाव इति प्रत्युत्तिष्ठति ॥……
वै० सू० २१।९४

८. ऋक्च वा इदमग्रे साम चाऽऽस्तां सैव नाम ऋगासीदमो नाम साम…ऐ० ब्रा० ३।२३

उत्पत्ति होती है इत्यादि (तुलना करो वैतान २२-८[1]) खण्ड २२ ऐ० ब्रा० ३. २४[2] को उपस्थित करता हुआ, निष्कैवल्य शस्त्र के 'स्तोत्रिय, अनुरूप, धाय्या, प्रगाथ और निविदों का वर्णन करता है और स्वयं वैतान सूत्र २२. १०-१२[3] पर आधृत है। खण्ड २२ सोम के माध्यंदिन सवन पर निष्केवल्यशस्त्र पर इन्द्र के एकाधिपत्य के विषय में आख्यानात्मक विवरण प्रस्तुत करता है। 'आरम्भ में केवल एक ही प्रातः सोम सवन था। तब प्रजापति ने अपने ज्येष्ठपुत्र इन्द्र के लिये माध्यंदिन सवन का निर्माण किया।' यह आख्यान ऐ० ब्रा० ३. २४. १०[4] (तुलना करो कौषी० ब्रा० १५. ५) से नितान्त भिन्न है। यदि हम ऋ० ७. ९८. ५[5] = अथ० २०. ८७. ३[6] के उद्धरण पर विश्वास करें, तो यह मौलिक ठहरेगा, क्योंकि यह किसी भी ग्रन्थ में और यहाँ तक कि वैतान में भी नहीं मिलता।

८०. *चतुर्थ प्रपाठक : २. ४. १-३ माध्यंदिन सवन (उपसंहार)* – तीन होत्रकों (तुलना करो २. ३. १३-१५)[7] के स्तोत्रिय, अनुरूप और प्रगाथ इत्यादि का विवरण देता हुआ माध्यंदिन सवन का वर्णन खण्ड १-३ में चालू रहता है। ये आश्व० श्रौतसूत्र ७. ४. १., शां श्रौतसूत्र ७. २२-२४[8] पर आधृत हैं, और थोड़ी सी अदल-बदल के द्वारा ब्राह्मण स्वरूप में ढाल दिये गए हैं। खण्ड ४ माध्यंदिन आहाव (अध्वर्यो शंसावोम्) के पाँच प्रकार के प्रयोगों का विवरण प्रस्तुत करता है। ब्राह्मण मौलिक प्रतीत होता है : तुलना करो गो० ब्रा० २. ३. १६ और २. ४. १८।[9]

२. ४. ५-१८ एकाह का तृतीय सवन– वैतान के क्रम में ही खण्ड ५ पात्नीवत-ग्रह (वैतान सूत्र २२. ३)[10] का, तथा नेष्टर की क्रोड में अग्नीध्र के अंश के उपभोग (वैतान सूत्र २५. ५) का वर्णन करता है। यह ब्राह्मण ऐ० ब्रा० ६. ३.

---

१. द्वे तिस्रः करोति पुनरादायम् । प्रथमां शस्त्वा तस्या उत्तमं पादं···वै० सू० २२।८

२. स्तोत्रियं शंसत्यात्मा वै स्तोत्रियः, इति ।···ऐ० ब्रा० ३।२४

३. मध्यमोच्चैस्तरया वाचा शंस्तव्यौ । वै० सू० २२।१०

४. इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचमिति सूक्तं शंसति, तद्वा एतत्प्रियमिन्द्रस्य सूक्तं······ निष्केवल्यम् ऐ० ब्रा० ३।२४।१०

५. प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार । ऋ० ७।९८।५ab

६. जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच । अथ० २०।८७।३ab

७. मित्रावरुणावब्रवीद्युवं न इमं यज्ञस्याङ्गमनुसमाहरतम्···गो० ब्रा० २।३।१३-१५

८. वामदेव्यं मैत्रावरुणस्य । कया नश्चित्रः कया त्वं न ऊत्येति स्तोत्रियानुरूपौ ।······ कस्तमिन्द्रेति सामप्रगाथः । शां० श्रौ० सू० ७।२२-२४

९. अथ शंसावोमिति स्तोत्रियानुरूपायोक्थमुखाय परिधानीयाया···गो० ब्रा० २।३।१६

१०. मरुत्वतीयहोममिन्द्रो मा मरुत्वानिति । वै० सू० २२।३ इत्यादि

८-११[1] से लिया गया है। खण्ड ६ क्षौर की आहुतियों (वैतान २३-१२)[2]; आहवनीय अग्नि में यवान्न डालने (२३. १३) और चात्वाल-कुण्ड से पश्चिम में सोम पात्रों को उड़ेलने (वैतान सूत्र २३. १४) का वर्णन करता है। यह ब्राह्मण कौ० ब्रा० १८.७ और[3] ८ से लिया गया है। खण्ड ७ यजमान के पवित्रीकरण का वर्णन करता है और वैतान २३. २३-२२[4] से कुछ भिन्न होने पर भी उससे मिलता है। 'अभूद्देवाः' तथा 'द्रप्सवत्यः' (ऋचा) मन्त्र वैतान सूत्र और गो० ब्रा० दोनों में मिलते हैं; किंतु पैप्पलादमन्त्र 'यत् ते ग्रावा' के स्थान पर, जिसे वैतान सूत्र ने लिया है, गो० ब्रा० ने सौमीभिः (ऋग्भिः) को अपनाया हैं। यह ब्राह्मण किसी अज्ञात श्रौत स्रोत से लिया गया प्रतीत होता है । खण्ड ८, वैतान सूत्र २४. १५, १६[5] की व्याख्या करता हुआ वेदी प्रज्वलित करने का और सक्तुहोम का वर्णन करता है। तै० सं० ३. ३. ८. २[6] आदि इससे बहुत कुछ मिलते हैं। तै० सं० इसका प्रभव प्रतीत होता है, क्योंकि दूसरा अध्याय (९) वैतान के क्रम को तोड़ देता है, जो अध्याय स्वयं तै० सं० के समानान्तर अध्याय से लिया गया है। खण्ड ९ एकाष्टका दिन के एक अनुष्ठान से आरम्भ होता है; और वैतान ३१. ४, ५[7] के आधार पर है। यह तै० सं ३. ३. ८. ४-६[8] के ब्राह्मण का अगला भाग है जहाँ से यह अक्षरशः उद्धृत है। किंतु अन्त में ब्राह्मण वैतान सूत्र (२४. १४) के क्रम पर लौट आता है और अग्नि-समारोपण (तुलना करो तै० सं० ३. ४. १०. ४)[9] का वर्णन करता है।[10] खण्ड १० दिन के साथ तीन सवनों का संवन्ध उभारता है और सूर्य की तीन प्रमुख अवस्थाओं के साथ भी उनके प्रतीकात्मक संवन्ध को दिखाता है। यह ऐ० ब्रा० ३. ४४[11] से लिया गया है।

---

१. उपांशु पात्नीवतस्याऽऽग्नीध्रो यजति रेतो वै पात्नीवत उपांश्विव वै रेतसः सिक्तिः, इति। ऐ० ब्रा० ६।३।८-११

२. आ नौ शाकलान्सर्वे…वै० सू० २३।१२

३. अथ शाकलाञ्जुह्वति तद्यथाऽहिर्जीर्णायै त्वचो निर्मुच्येतेषीका वा मुञ्जात्…… कौ० ब्रा० १८।७-८

४. सोमलिप्तानि दध्नाभिजुहोत्यभूद्देवो द्रप्सवत्योर्यत्ते गावेत्येतैः। वै० सू० २३।२२

५. अपमित्यमप्रतीत्तमिति वेदिमुपोष्यमाणाम्। वै० सू० २४।१५ इत्यादि

६. अग्निर्वाव यम इयं यमी कुसीदं वा एतद्यमस्य यजमान आ दत्ते…तै० सं० ३।३।८।२

७. अह्नां विधान्यामेकाष्टकायामपूपं चतुःशरावं पक्त्वा प्रातरेतेन कक्षमुपोषेत्…वैता० ३१।४

८. अह्नां विधान्यामेकाष्टकायामपूपं चतुः शरावं पक्त्वा प्रातरेतेन कक्षमुपौषेत्… तै० सं० ३।३।८।४-६

९. दक्षिणो युक्तो भवति सव्योऽयुक्तः…तै० सं० ३।४।१०।४

१०. अयं ते योनिरित्यरण्योरग्निं समारोप्यमाणमनुमन्त्रयते…वै० सू० २४।१

११. यो वा एष तपत्येषोऽग्निष्टोम एष साह्नस्तं सहैवाह्ना संस्थापयेयुः साह्नो वै नाम, इति… ऐ० ब्रा० ३।४४

यहाँ पहुँच कर गो० ब्रा० प्रथम दो सवनों २. ३. १२–१९ और २. ३. ३०–२-४४ के वर्णन के अनुरूप तृतीय सवन के शस्त्रों की ओर मुड़ता है। खण्ड ११–१४ एक आख्यान देते हैं, जो इस रूप में अन्यत्र नहीं मिलता। इन्द्र, अग्नि, वरुण, बृहस्पति और विष्णु राक्षसों को गोधूलि में प्रविष्ट होने से रोकते और इस प्रकार सायं शस्त्रों को उनके हाथों नष्ट होने से बचा लेते हैं। अग्नि अश्व का रूप धारण करते हैं, और युद्ध में पहले लोहा लेते हैं। इसीलिये 'साकमश्व-सामन्' तृतीय सवन में सभी शस्त्रों से पहले है। युद्ध में संलग्न हुए पाँचों देवताओं का ऐक्य क्रमशः वाक्, प्राण, मनस्, चक्षुष्, श्रोत्र से और इन प्राणों के द्वारा प्रजापति के साथ दिखाया गया है। इस बात का कारण भी बताया गया है कि तृतीय सवन पर इनकी प्रशंसा क्यों की जाती है। अन्त में अग्नि को छोड़ कर, जिसे साकमश्व के साथ पहले ही जोड़ दिया गया है, और देवताओं को तीन होत्रकों के शस्त्रों में बांटा गया है : इन्द्रावरुण मैत्रावरुण के साथ, इन्द्राबृहस्पती ब्राह्मणाच्छंसिन् के साथ और इद्राविष्णू अच्छावाक के साथ। इसके बाद के तीन खण्ड (१५–१७) होत्रकों के उक्थ, स्तोत्रिय अनुरूप इत्यादि के लिये मन्त्र बताते हैं, जो ऋग्वेदीय स्तोत्रों पर आधृत हैं; तु० आश्व० श्रौतसूत्र ६. १. १;[1] शां० श्रौतसूत्र ९. २-४[2]। खण्ड १८ तृतीय सवन (अध्वर्यो शंसावोम्) के चतुर्विध आहाव के वर्णन के साथ अग्निष्टोम को समाप्त करता है; जो मौलिक प्रतीत होता है।

२. ४. १९ षोडशिन् याग– खण्ड १९ में यज्ञ की संक्षिप्त व्याख्या के साथ यह प्रपाठक समाप्त होता है और इस प्रकार वैतान सूत्र (२५-१२[3]) के क्रम पर लौट आता है। यह ब्राह्मण ऐ० ब्रा० ४. १. ५–८[4] से लिया गया है।

८१. *पञ्चम प्रपाठक : २ ५. १–५[5] अतिरात्र क्रियाएँ*—ये वैतान, अध्याय २६ के क्रम को चालू रखते हैं और गो० ब्रा०, ऐ० ब्रा० तथा कौ० ब्रा० के अंशों को लेकर बने हैं। खण्ड १, जो ऐ० ब्रा० ४. ५ के सुतरां तुल्य है, अतिराज की उत्पत्ति की व्याख्या करता है, जो इस बात का प्रतीक है कि किस प्रकार इन्द्र ने अपने साथी छन्दों की सहायता से असुरों को रात्रि में भगा दिया था। इस प्रसङ्ग की तीन घड़ियां (पर्यय) रात्रि के प्रथम भाग, मध्य भाग और अन्तिम भाग से असुरों को निकाल देने के प्रतिनिधि हैं। खण्ड २, जो ऐ० ब्रा०

---

१. एह्यू षु ब्रवाणि त आग्निरगामि भारतश्चर्षणीधृतम्'''आश्व० श्रौ० सू० ६।१।२

२. एह्यू षु ब्रवाणीति स्तोत्रियानुरूपौ चर्षणीधृतम्'''शां० श्रौ० सू० ९।२।४

३. षोडशिनि ग्रहमुपतिष्ठते । य आबभूव भुवनानि विश्वा यस्मादन्यत्र परं किं च······ नास्ति वै० सू० २५।१२

४. तदाहुः किं षोळशिनः षोळशित्वमिति षोळशः स्तोत्राणां षोळशः ऐ० ब्रा० ४।१।५–८

५. अहवैं देवा अत्त्ययन्त रात्रीमसुराः'''ऐ० ब्रा० ४।५

४. ६. ४-७[1] से लिया गया है तीन पर्ययों (वैतान सूत्र २६-३[2]) में शस्त्रों की उपयोगिता को बताता है। खण्ड ३, जो ऐ० ब्रा० ४. ६. ८-१४[3] से लिया गया है, बताता है कि पवमान स्तोत्र, जो असल में दिन के लिए बने हैं, रात्रि में किस प्रकार प्रयोग में लाने चाहियें। यह अतिरात्र के उन अङ्गों की भी व्याख्या करता है जो दिन के सोम-विधानों के ढाँचे पर बनाये गए हैं। खण्ड ४, जो कौ० ब्रा० १७. ७[4] से लिया गया है, यज्ञ के अङ्गों का सर्गिक पुरुष के अङ्गों के साथ ऐक्य बताता है, और यज्ञ में काम करने वाले पुरोहितों का शरीर के प्राण एवं अन्य क्रियाओं के साथ ऐक्य स्थापित करता है। खण्ड ५ के प्रथमांश में एक बार फिर असुरों के निष्कासन का वर्णन मिलता है। इस बार १७. ७ के परिशिष्ट रूप में ही इस विषय को कौ० ब्रा० से लिया गया है, जबकि पहली बार का विषय ऐ० ब्रा० से लिया गया था। संकलनकर्ता ने अपने उद्धरणों को ठीक बिठाने की कोशिश नहीं की है। कौ० ब्रा० १७. ९[5] से गृहीत खण्ड ५ का द्वितीय भाग शस्त्रों के अवसर पर छन्दों के विभाजन की प्रक्रिया को बताता है।

२. ५. ६-१० सौत्रामणी, वाजपेय तथा अप्तोर्याम कृत्य— बाद के दो खण्ड वैतान के क्रम में भङ्ग डाल देते हैं, जो वाजपेय और अप्तोर्याम के बाद अध्याय ३० में सौत्रामणी का विवरण देता है। खण्ड ६ में सौत्रामणी से चिपके दो आख्यानों में से एक आख्यान पढ़ने को मिलता है, जो दूसरे शब्दों में श० ब्रा० १२. ८. ३. १-२ से लिया गया है। खण्ड ७, जो वैतान ३०. १६, १८[6] की व्याख्या करता है सौत्रामणी पर गाये जाने वाले सामों का विवेचन करता है: इसने श० ब्रा० १२. ८. ३. २३-२८[7] को शब्दशः उतार लिया है। खण्ड ८ में ब्राह्मण फिर वैतान (२७. १-१७) के क्रम पर लौट आता है, और पञ्चविंश ब्राह्मण २८. ७[8] से

---

१. प्रथमेन पर्यायेण स्तवते प्रथमान्येव पदानि पुनराददते…ऐ० ब्रा० ४।६।४-७

२. स्तोत्रियानुरूपयोः प्रथमानि पदानि पुनरादायमर्धर्चशस्यवच्छंसति…वै० सू० २६।३

३. पवमानवदहरित्याहुर्न रात्रिः पवमानवती…ऐ० ब्रा० ४।६।८-१४

४. पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव हविर्धाने मुखमाहवनीय उदरं सदोऽन्नमुक्थानि……बाहू कौ० ब्रा० १७।७

५. अवभृथोऽमुमेवैतत्सवनैरीप्सन्ति……कौ० ब्रा० १७।९

६. सामगानाय प्रेषितः। बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्। येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवीत्यैन्द्रयां बृहत्यां शंसनानि गायति ॥ वै० सू० ३०।१६ इत्यादि

वाजपेयः शरदि ॥ वै० सू० २७।१ इत्यादि

७. अथ साम गायति। क्षत्रं वै साम क्षत्रेणैवैनमेतदभिषिञ्चति……शत० ब्रा० १२।८।३।२३।२८

८. प्रजापतिरकामयत वाजमाप्नुयां स्वर्गं लोकमिति……पञ्चविंश ब्राह्मणम् १८।७

उद्धृत एक संदर्भ के द्वारा वाजपेय याग का वर्णन करता है। खण्ड ९, १० अतोर्याम का विवेचन करते हैं; इनका विवरण वैतानसूत्र २७–१८[1] से पूरी तरह मेल नहीं खाता और न प्रकाशित ब्राह्मणों में इसके स्रोत का ही पता चल सका है। सामान्यदृष्ट्या इसकी पञ्चविंशब्राह्मण २०. ३. २[2] से तुलना कीजिए।

२. ५. ११–२. ६. १६ (अन्त) अहीन (सत्र) याग– गो० ब्रा० के शेष खण्ड इन्हीं यागों पर हैं; और ये वैतान सूत्र ३१[3] के क्रम एवं वर्णन से मिलते हैं। प्रस्तुत संदर्भ ऐ० ब्रा० के छठे काण्ड से कुछ अदल-बदल के साथ लिये गये हैं; मन्त्रों को कुछ अंशों में वैतान के मन्त्रों से मिला दिया गया है। खण्ड ११ ऐ० ब्रा० ६. १७. १. २ और ६. ५ से बना हुआ है। १२ = ऐ० ब्रा० ६. ६;[4] खण्ड १३ = ऐ० ब्रा० ६. ७[5]; खण्ड १४ ऐ० ब्रा० ६. ८[6] के बहुत कुछ समान है। खण्ड १५ ऐ० ब्रा० ६. १८. ४[7] से अक्षरशः मिलता है; यह ऐ० ब्रा० ६. १७. २[8] के एक वाक्य के साथ प्रारम्भ होता है और ऐ० ब्रा० ६. १७. ३[9] के एक वाक्य के साथ समाप्त होता है। तुलना करो वैतान सूत्र ३१. १९, २० से[10]।

८२. *षष्ठ प्रपाठक–अहीन याग (क्रमशः)*—खण्ड १ ऐ० ब्रा० ६. १८. १–३,[11] ६. १९. १–१०[12] (तु० वैतानसूत्र ३१. २५[13]) से बना है। खण्ड २, ऐ० ब्रा० ६. १९. १०[14] के मध्य में ६. २० तक चालू रहता है, और गो० ब्रा० में इसके कुछ

---

१. अक्षोर्यामिणि गर्भकारं शंसति ॥ वै० सू० २७।१८

२. प्रजापतिः पशूनसृजत तेऽस्मात् सृष्टा अपाक्रामन्······पञ्च० ब्रा० २०।३।२

३. मध्याः पुरस्तादेकादश्यां सप्तदशावराः सत्रमुपयन्तो ब्रह्मणोक्तेन दीक्षेरन्। वै० सू० ३१।१ इत्यादि

४. अथात आरम्भणीया एव इति। ऋजुनीती नो वरुण इति मैत्रावरुणस्य मित्रो नयतु······ऐ० ब्रा० ६।६

५. अथातः परिधानीया एव, इति। ते स्याम देव वरुणेति ऐ० ब्रा० ६।७

६. उभेभ्यः परिधानीया भवन्ति होत्रकाणां प्रातःसवने च मध्यंदिने च···ऐ० ब्रा० ६।८

७. त एते प्रातःसवने षळहस्तोत्रियाञ्छस्त्वा माध्यंदिनेऽहीनसूक्तानि शंसन्ति, इति ·········ऐ० ब्रा० ६।१८।४

८. यः श्वःस्तोत्रियस्तमनुरूपं कुर्वन्ति······ऐ० ब्रा० ६।१७।२

९. ते वै देवाश्च ऋषयश्चाऽऽद्रियन्त समानेन यज्ञं संतनवामेति······ऐ० ब्रा० ६।१७।३,४

१०. अस्मा इदु प्र तवसे तुरायेत्यहीनसूक्तमावपते। वै० सू० ३१।१९ इत्यादि

११. तान्वा एतान्संपातान्विश्वामित्रः प्रथममपश्यत्······ऐ० ब्रा० ६।१८।१।३

१२. ततो वा एतांस्त्रीन्संपातान्मैत्रावरुणः······ऐ० ब्रा० ६।१९।१।१०

१३. इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैर्य एक इद्धव्यश्चर्षणीनां वै० सू० ३१।२५

१४. को अद्य नर्यो देवकाम इति मैत्रावरुणः······ऐ० ब्रा० ६।१९।१० से ६।२० तक

अंश छोड़ दिये गए हैं; तुलना करो वैतान सूत्र ३२. १०[१]। खण्ड ३–५ ऐ० ब्रा० ६. २१–२३[२] से सारे का सारा मिलता है; तुलना करो वैतान ३५. १२ और ३५.२, ४[३]। खण्ड ६ बताता है कि होता दो उक्थ्यों और एक सूक्त का उच्चारण क्यों करता है, जब कि उसके सहायक होत्रक एक उक्थ और दो सूत्रों का उच्चारण करते हैं। खण्ड ७ का प्रथमांश होत्रकों के शस्त्रों को उनके विशिष्ट देवमिथुनों के प्रति निर्दिष्ट करता है। इनमें से कोई सा अंश भी किसी ज्ञात ब्राह्मण से लिया गया नहीं प्रतीत होता; फिर भी देखो ऐ० ब्रा० ६. १३ और १४[४] (विशेषतः ऐ० ब्रा० ६. १३. ७[५] की तुलना कीजिये) गो० ब्रा० पृ० १६७, पंक्ति ३ और उसके आगे से खण्ड ७ का अन्तिम अंश, जो तथाकथित 'शिल्पानि' का विवेचन करता है, ऐ० ब्रा० ६. २७. १–५[६] से बहुत कुछ मिलता है। खण्ड ८ ऐ० ब्रा० ६. २७. ६–३०. ४[७] जैसा है; खण्ड ९ ऐ० ब्रा० ६. ३०. ५–६. ३१[८] से मिलता है; खण्ड १० ऐ० ब्रा० ५. ९ और १०[९] से (तुलना करो वैतान सूत्र ३१–२७[१०]); खण्ड ११ ऐ० ब्रा० ५. ११–५, १२. ३ और ६. ३२[११] १, २ से उद्धृत है। खण्ड १२ उन संदर्भों का संकलन है, जिनमें से कुछ ऐ० ब्रा० के अनुच्छेदों से मिलते हैं, दूसरों में कुछ स्वतन्त्रता बरती गई दीखती है, फिर भी आधार उनका वही ग्रन्थ मालूम पड़ता है। ऐ० ब्रा० ५. १९. १२ (तुलना करो वैतान ३२. १२); ६. २९. १ (तु० वैतान ३२. १३); ६. २९. २ (वृषाकपि सूक्त, तुलना करो वैतान ३२. १४); और ६. ३२ (तुलना करो वैतान ३२. १९)। इसी

---

१. वने न वा यो न्यधायि चाकन्नित्यष्टर्चं च ॥ वै० सू० ३२।१०

२. कस्तमिन्द्र त्वावसुं कन्नव्यो अतसीनां कदू न्वस्याकृतमिति······ऐ० ब्रा० ६।२१।२३

३. माध्यन्दिने कन्नव्यो अतसीनामिति कद्वान्त्साममप्रगाथः ॥ वै० सू० ३५।१२

४. अथाऽऽह यदुक्थिन्योऽन्या होत्रा अनुक्था अन्याः······ऐ० ब्रा० ६।१३।१४

५. अथाऽऽह शंसन्ति प्रातःसवने शंसन्ति माध्यंदिने होत्रकाः······ऐ० ब्रा० ६।१३।७

६. देवशिल्पान्येतेषां वै शिल्पानामनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते······ऐ० ब्रा० ६।१७।१५

७. रेतो वै नाभानेदिष्ठो रेतस्तत्सिञ्चति, इति······ऐ० ब्रा० ६।२७।६।३०४

८. तान्येतानि सहचराणीत्याचक्षते······ऐ० ब्रा० ६।३०।५।६।३१

९. देवक्षेत्रं वा एतद्यत्षष्ठमहर्देवक्षेत्रं वा एतं आगच्छन्ति ये षष्ठमहरागच्छन्ति······ऐ० ब्रा० ५।९ और १०

१०. दूरे चित्सन्तमिति प्रणवान्तयातानेव मंत्रोक्तमुपतिष्ठन्ते ॥ वै० सू० ३१।२७

११. देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त······ऐ० ब्रा० ५।११
य द्वै समानोदर्कं तत्षष्ठस्याह्नो रूपम्······ऐ० ब्रा० ५।१२।३
छन्दसां वै षष्ठेनाह्नाऽऽप्तानां रसोऽत्यनेदत्······ऐ० ब्रा० ६।३२।१।२
इमा नु कं भुवना सीषधामेति द्विपदा शंसति द्विपाद्वै पुरुषः······ऐ० ब्रा० ५।१९।१२
षष्ठ इमा नु कं भुवना सीषधाम हत्वाय देवा असुरान्यदायन्निति······वै० सू० ३२।१२

प्रकार खण्ड १३ का संकलन भी ऐ० ब्रा० ६. ३३. २-५ (तुलना करो वैतान ३२. २०, कौ० ब्रा० ३०. ५) ३३. १८ (तुलना करो वैतान ३२. २७; कौ० ब्रा० ३०. ७); ६. ३३. १९ (तुलना करो वैतान ३२. २२); ६. ३३. १८ (तुलना करो वैतान ३२. २३); ६. ३३. ०२ (तुलना करो वैतान ३२. २६) से लिया गया है। खण्ड १४ ऐ० ब्रा० ६. ३४-३६. ३ (तुलना करो वैतान ३२. २८-३०) से लिया गया है, खण्ड १५ अधिक स्वतन्त्रता के साथ ऐ० ब्रा० ६. ३६. ४-७ की सामग्री को काम में लाता है (तुलना करो वैनान ३२. ३१); और अन्त में खण्ड १६ ऐ० ब्रा० ६. ३६. ८-१७ (तुलना करो वैतान ३२. ३३, ३५) पर आधृत है।

सुकीर्तिं शंसति देवयोनिर्वै सुकीर्तिस्तद्यज्ञाद्देवयोन्यै यजमानं प्रजनयति······ऐ० ब्रा० ६।२९।१

अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रानिति सुकीर्तिम् ॥ वै० सू० ३२।१३

वृषाकपिं शंसत्यात्मा वै वृषाकपिरात्मानमेवास्य तत्कल्पयति······ऐ० ब्रा० ६।२९।२

विहीसोतोरसृक्षतेति वृषाकपिं पदावग्राहमनवानम्······। वै० सू० ३२।१४

ऐ० भा० ६।३२ के लिये देखिये पृष्ठ १९९

इदं जना उपश्रुतेति कुन्तापमर्धर्चशः······वै० सू० ३२।१९

ऐतशप्रलापं शंसति, इति। ऐतशो ह वै मुनिरग्नेरायुर्ददर्श······ऐ० ब्रा० ६।३३।१।५

एता अश्वा आ प्लवन्त इत्यैतशप्रलापं पदावग्राहम्। तासामुत्तमेन पटेन प्रणौति। वै० सू० ३२।३०

ओमित्यृचः प्रतिगर एवं तथेति गाथाया ओमिति···ऐ० ब्रा० ६।३३।१८

पत्नी यद् दृश्यते जरितर्होता विष्टीमेन जरितरिति प्रतिगरौ। वै० सू० ३२।२७

प्रजापतिर्यज्ञमसृजत यज्ञं सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे असृज्येताम्······ऐ० ब्रा० ६।३३।१९

इहेत्थप्रागपागुदगधरागिति प्रतिराधात्······वै० सू० ३२।२२

तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः······ऐ० ब्रा० ६।३३।१८

भुगित्यभिगत इत्याजिज्ञासेन्यास्तिस्रः। वै० सू० ३२।२३

अथातो देवयजनस्यैव पाञ्चस्तदाहुर्यद् ब्राह्मणो······ऐ० ब्रा० ६।३३।२०

वीमे देवा अक्रंसतेत्यतीवादम् ॥ वै० सू० ३२।२६

अथातः स्तुतशस्त्रयोरेव······ऐ० ब्रा० ३६।१

आदित्या ह जरितरिति देवनीथमैतशप्रलापवत् ॥ वै० सू० ३२।२८ इत्यादि

ऐकाहिका होत्रा एता वै शान्ताः क्लृप्ताः प्रतिष्ठिताः······ऐ० ब्रा० ३६।४

यदस्या अंहुभेद्या इत्याहनस्यावृषाकपिवत्। वै० सू० ३२।३१

अथ यदौदुम्बर्यासन्दी भवत्यौदुम्बरश्चमसः······ऐ० ब्रा० ३६।८

दधिक्राव्णो अकारिषमित्यर्धर्चशः। सुतासो मधुमत्तमा इति पावमानीः। अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदिति पच्छः। वै० सू० ३२।३३ इत्यादि

विषयानुक्रमणिका

अग्नि—याजुष ग्रन्थों, गुह्यसूत्रों एवं उपनिषदों में अग्नि प्राण के साथ संवद्ध हैं; १३२. १५—१७. दे० वास० ३.१७; तैसे० १.५.५.३; ७४; शब्रा० २.३.४.१९; शांश्रौ० २.११.३; पारगृ० २.४—८; प्रश्न उप० १.७; मैत्रा० उप० ६.५, ९, ३३; सेबुई०, ४२.३६६,

अग्नि परिक्षित्,—की प्रशंसा में है अवे० २०.१२७.७—१०; = धर्मनिष्ठा का देवता; संभवतः एक राजा : त्सिमर, आले०, पृष्ठ १३१; ओल्डन बर्ग, दायत्शे लितराल्यूरत्साइतुङ्ग, १८९७.३७०.

अग्नि वैश्वानर—को ब्राह्मण ले गया : २३९.१०; द्र० शब्रा० १.४१. १० एवं आगे,

अग्निष्टोम,—वैतान के क्रम को गोब्रा० अ०—तक ही अपनाता है : २४६. १०—११; द्र० गार्बे, वैतान सूत्र–अनुवाद पृष्ठ—४

अग्निहोत्र,—का रहस्यात्मक अर्थ : २४१. २७–२८. द्र० ऐब्रा० ५.२६.६; तैब्रा० २.१.७१; जैब्रा० १२१. जो लोग दो बार—करते थे वे सबसे अधिक समृद्ध हुए : २४२ १४–१५; द्र० शब्रा० २.३.१.१८ एवं आगे; कौब्रा० २९.

अग्नीध्र,—सदस्य, ब्राह्मणाच्छंसिन् एवं पोतर् ब्रह्मा के सहायक तै० २३९.५, बाद के संदर्भों में जो कि ऋग्वैदिक स्रोत के प्रतीत होते हैं, ब्राह्मणाच्छंसिन्, मैत्रावरुण और अच्छावाक को होता का सहायक बताया गया है। देखो २.४.१४.

अङ्गिरस्,—असुरों की भाँति अङ्गिरस् भी सदा पराजित होते दिखाये गये हैं : १६.५–६; दे० वेबर, इस्तू० १.२९१ एवं आगे; प्रस्तुत ग्रन्थ का खण्ड ५२ नो० ३. मृत्यु के शरीर में से उसके रसको निकालने पर उत्पन्न होते हैं : २३१.८–९. व्युत्पत्ति के लिये देखो जैब्राउ० २.११.९.

अङ्गिरस् ऋषि,—अङ्गिरस् से ब्रह्म ने २० अङ्गिरस् ऋषियों की रचना की : २३१ १५, द्र० इस्तू० १३.४३३.

अङ्गिरसः,—कठोर अभिचार—कहाते हैं = घोर, अथर्ववेद : १३५.४–८, इस दृष्टिकोण के विस्तार के लिये देखो सेबुई० ४२ पृष्ठ एवं १८ आगे; हिलेब्राण्ट्ट, सेबुई० ४२ पृष्ठ १६९.

अङ्गिरोभ्यः,—स्वाहा : अवे का अभिधान काठक में १३,१६–१७, बाद में यह नाम अथर्व प्रातिशाख्य और पाणिनि ५.२.३७ पर महाभाष्य में चल पड़ता है; दे० इस्तू० १३.४३३, अचूक–लक्ष्य काम तेरे हृदय को बींघ दे १४५.६ द्र० सेबुई० ४२. ३५९.

अजेयता,—अवध्यता, ब्राह्मणों की १५८.१६–१७, द्र० वेबर, इस्तू० १०.६० एवं आगे; त्सिमर, १९७ एवं आगे

अति तराणि मृत्युम्,—एक विशष आदर अवे० ४.३५ में वर्णित है, जो मृत्यु के पार ले जाता है : १६२.८–९.

अतिसाराभिचार,—युद्धाभिचार ही बाद में जोड़े गये मन्त्र के द्वारा—में बदल जाता है : ७०.१५–१८; दे० सेबुई०, ४२.२३३ एवं आगे

अथर्वकविधान,—हेमाद्रि, चतुर्वर्गचिन्तामणि, व्रतखण्ड में एक अथर्वकविधान को प्रस्तुत करते हैं : ३१.७–८; दे० वेबर, फेर्त्सा० १ पृष्ठ ३३२,

अथर्व-तर्पण ३१.६.

अथर्वन्,—अङ्गिरस्, एवं भृगु आदि नाम : ४१. ४—५; द्र. सेबुई० ४२ पृष्ठ ३४ एवं आगे— = अ + थर्वन्, √थुर्व् हिंसा; देखो नोट आङ्गिरस पर; अन्त में—और इससे व्युत्पन्न शब्द चतुर्थ वेद के अनुष्ठानों एवं अभिचारों के लिये प्रयुक्त होने लगे : १८. १०—१४; सेबुई० ४२ पृष्ठ २५. देवता उस राजा के हव्य को नहीं अपनाते जिसके घर में—में निष्णात पुरोहित नहीं होता ५७. ८—९; वेबर, ओमिना उन्द पोर्तेन्ता, ३४६ एवं आगे; इस्तू० १०. १३८; सायण, अवे-भूमिका, पृष्ठ ६;—ब्रह्मवेद है : ५९. ११; सेबुई० ४२, पृष्ठ ४३; श्रौत अनुष्ठानों के निष्पादन में—की समर्थता और वैतानसूत्र की वैधता : ६४. २२—२४; गार्बे, वैतानसूत्र, पृष्ठ ६;

अथर्वन्—और अङ्गिरस् ये दोनों नाम—के मत्रों में उसी अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं जिसमें कि—का सबसे प्राचीन नाम 'अर्थवाङ्गिरसः' प्रयुक्त हुआ है : ३.२४–२५, सेबुई० ४२. पृष्ठ २१ और ३१ एवं आगे; हिन्दू जब इन अभिचारों को 'आथर्वण और 'आङ्गिरस' इन नामों से पुकारते थे तब उनका तात्पर्य उन अग्नि-मन्त्रों से होता था, जिनका उच्चारण अग्नि में सोम के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की आहुति डालते समय किया जाता था : ४.२–६;—का अग्नि से संबन्ध भारेरानी है (अवेस्ता अथ्रवन्) : श्पीगल, ईरानिश्श आल्तरथुम्स कुन्द ३. पृष्ठ ५५९; दि अरिश्शे पीर्योद, पृष्ठ २३२; हाग, एसेज़ ऑन दि पारसीज़, पृष्ठ २८०.२९४; गाइगर, सिविलाइजेशन आफ दि ईस्टर्न आइरेनियन्स, २, पृष्ठ ४८ एवं आगे; हाग का यह प्रयत्न कि अवेस्ता अइबिस्तिस के रूप में—के किसी संग्रह से परिचित है, ऐतिहासिक दृष्टि से चिन्त्य है : ब्रह्मा उन्द दि ब्राह्मनन्, पृष्ठ ४३ एवं आगे, एसेज़, पृष्ठ १८२;—के नाम और उनके अर्थ : १३, ब्लूमफील्ड, सेबुई० : ४२, पृष्ठ १७–३३; हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, पृष्ठ १६९.

अथर्ववेद—पहले व्याख्याताओं ने विवाह-सूक्त को गलत समझा था : १४९. १९–२०; द्र० सेवन हिम्स, अजफि० ७. ४७३–६; सेबुई० ४२, २५२ एवं आगे;—का ब्राह्मणों एवं धर्मग्रन्थों से संबन्ध : ७. १०; द्र० मधुसूदन सरस्वती, प्रतिष्ठान भेद, इस्तू० १. १६; डायसन, आलगेमाइने गेश्शिश्त देर फिलोसफी, भाग १, खण्ड १, पृष्ठ ५०; सायण, अवेभाष्य-अलबेरूनी, इण्डिया, (सखाऊ का अनुवाद) पृष्ठ १२९ एवं आगे; कोलब्रुक, एसेज़, भाग १ पृष्ठ १३, ८० एवं आगे;—बोहलन, दास आल्त इन्दीन, भाग १, पृष्ठ १२८; लास्सन, इन्दिश्श आल्तरथुम्स कुन्द, भाग १. पृष्ठ ५२३; राँथ, त्सुर लितरात्यूर उन्द गेश्शिश्त देस वेद, पृष्ठ ५, १३, ३७ एवं आगे; आवहाण्डलुङ्ग उबेर देन अथर्ववेद (त्सुबिङ्गन); देर अथर्ववेद, इन काश्मीर (त्सुबिङ्गन १८७५); मैक्समुलर, हिऐंसंलि०, पृष्ठ ४४६ एवं आगे; चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप, भाग १. पृष्ठ ९ एवं आगे; वेबर, इस्तू० १. २८९, २९४ एवं आगे १३. ३३१ एवं आगे; इन्दिश्शे लितरात्यूर गेश्शिश्त, पृष्ठ, ११, १६१ एवं आगे; ह्विटनी, जअओसो० ४. २५४; ओलिस्त०, १ पृष्ठ १८ एवं आगे; संस्कृत ग्रामर,

पृष्ठ १६; लुडविग, देर ऋग्वेद ३ पृष्ठ २८, ३४१ एवं आगे; फोन श्रोदर, इन्दीन्स लितरात्यूर उन्द कुल्तूर, पृष्ठ १७० एवं आगे;—का इंग्लिश अनुवाद ग्रिफिथ ने किया (बनारस, लआरुस एण्ड को); बाद में ह्विटनी ने अत्यन्त प्रौढ अनुवाद प्रस्तुत किया, जिसे उनकी मृत्यु के पश्चात् लानमान ने हाओ० सीरीज में २ भागों में प्रकाशित किया। ए. लुडविग ने अपने 'देर ऋग्वेद' के ३ में अनेक अवे-सूक्तों का अनुवाद किया था। जूलियस ग्रिल ने १०० सूक्तों का 'हुण्डेर्त लीडर देस अथर्ववेद' इस नाम से (प्रोग्राम देस सेमिनार्स मोलब्रोन, त्युबिङ्गन, १८८८) किया था। ब्लूमफील्ड ने 'हिम्स आफ दि अथर्ववेद' में एक तिहाई अवे० का अनुवाद किया था और साथ ही कर्मकाण्डीय ग्रन्थों का सार भी साथ लगा दिया था : सेबुई० ४२। राथ ने आबहाण्ड लुङ्ग उबर देन अथर्ववेद, त्युबिङ्गन १८५६ में अथर्ववेद संबन्धी पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की थी; साथ ही उन्होंने 'फेस्टग्रुस आन रोत्तो फॉन बोहतलिङ्क, पृष्ठ ९५ एवं आगे में भी इस विषय पर बहुत कुछ लिखा था। इस विषय में लिखने वाले अन्य विद्वान् हैं : जे म्यूर, ओसंटै०, एच त्सिमर, आले०; शेरमान, फिलोसोफिश्श हिम्नन आउस देर ऋग् उन्द अथर्ववेद, पृष्ठ ४१ एवं आगे; ब्लूमफील्ड, सेवन हिम्स आफ दि अवे० और 'कण्ट्रिब्यूशन्स टु दि इण्टरप्रिटेशन आफ दि वेद की ६ठी सीरीज़ (पब्लिकेशन : अजफि० १७, पृष्ठ ३९९ नोट पर निर्दशित); पाल डायसन, आलगेमाइने गेशिश्त देर फिलासफी, १. खण्ड १; अनुवादः काण्ड १–५; वेबर, इस्तू० ४. ३९३ एवं आगे; १३. १२९ एवं आगे; १७. १७७ एवं आगे; १८. १ एवं आगे; काण्ड ६. सूक्त १–५० : सी. ए. फ्लोरेन्त्स, वेबाइ० १२. २४९ एवं आगे; काण्ड ७–१३ : विक्टर हेनरी; काण्ड १४ : वेबर, इस्तू० ५. १९५ एवं आगे; काण्ड १५ : आफ्रेख्त, इस्तू० १. १३० एवं आगे; काण्ड १८ : वेबर, जिप्रएवि० १८९५, पृष्ठ ८१५ एवं आगे, १८९६, पृष्ठ २५३ एवं आगे। कहते हैं कि अकबर के लिये कुछ पण्डितों ने अवे० का अनुवाद फारसी में किया था; किंतु इसका प्रकाशन नहीं हो पाया है : द्र० अबू फ़ज़ल का आईने अकबरी, ब्लाखमान का अनुवाद, बिब्लियोथेका इण्डिका, १८६८, पृष्ठ १०५; वेबर, जिप्रएबी १८९०, पृष्ठ ७८७। सामान्य विवरण : रॉथ, त्सुर लितरात्यूर उन्द गेश्शिश्त देस वेद; ग्रोहमान, इस्तू० ९. ३८१ एवं आगे; वेबर दी ग्रीश्शन इन इन्दीन, जिप्रएवि १८९०, पृष्ठ ९२४ एवं आगे; लुडविग, देर ऋग्वेद ३. ३४३; त्सिमर, ३७४ एवं आगे; ब्लूमफील्ड, सेबुई० ४२ पृष्ठ १–४८; वित्सरनित्स, फोकमेडिसिन इन ऐंशियण्ट इण्डिया, नेचर, भाग ५८. पृष्ठ २३३ एवं आगे (जुलाई ७. १८९८). अवे० के पद्यों के निर्माण में स्वतन्त्रता बरती गई है; और छन्दों के जिन नियमों का पालन ऋग्वेद के मन्त्रों में किया गया है उनके प्रति या तो अनभिज्ञता प्रकट की गई है अथवा उनकी उपेक्षा की गई है : ३. ५–७; इस विषय में अवे० की सर्वानुक्रमणिका का विवरण लचर है : ३. ९.—का ब्रह्मवेद नाम भी एक टेढ़े तरीके से हाथ लगा है : ३. १५; विवरण : सेबुई० ४२. पृष्ठ ५८ और ६५ एवं आगे;—का नाम अथर्वाङ्गिरसः, भृग्वङ्गिरसः और अन्त में अथर्ववेद पड़ा है : ३. २०–२१; इन नामहीन रचनाओं को उस प्राचीनता एवं महत्ता से भूषित करने की इच्छा है जिसका वे दावा नहीं कर सकतीं : ३. २२–२३; वेबर, इस्तू० १. २९५; ओमिना उन्द पोर्तेन्ता, ३४७; ह्विटनी,

ओलिस्त० १. १८; की पवित्रता पर बल : ३६ २५–३०; अलबेरुनी, इण्डिया (सखाऊ का अनुवाद) भाग १. पृष्ठ १२९ पर कहता है कि हिन्दू अथर्ववेद की अपेक्षा अन्य ३ वेदों का आदर अधिक करते हैं। बलि (वंशब्राह्मण पृष्ठ २१) दक्षिण भारत के उच्च ब्राह्मण आज भी अवे० की मौलिकता में आस्था नहीं रखते।—के प्रथम काण्ड के २९.४–५ को हटा देने पर ४ मन्त्र बच जाते हैं = ऋवे० १०.१७४. १–३. और ५:६९. २८–३१; द्र० ओल्डनवर्ग, दी हिम्नन देस ऋवे० १;—का विनियोग शान्त करने, आशीष देने और शाप देने के लिये विहित है : ३६ २३–२४; मधुसूदन सरस्वती, (इस्तू० १ ३१६); केशव, कौशिक १.१ पर; देव, वाश्रौसू० १५.७.११ पर;—में पद्य और गद्य बहुधा मिश्रित हैं : ७९ १०; उदाहरण : ४.३.७ c + d; ४. ११.९ d; ४.१२.६; ५ २९. १४; ६.१६,३; ६ ७६.३०; ७.८१. ४, ५; ७.८२.२; ८ २.११; १०.६.३५;—में छन्दों को बदल दिया गया है : ७९.१७; ब्लूमफील्ड, जअओसो०;—१७.१७६ नोट;—२०.१२७.११–१४ = शांश्रौसू० १२.१५ २–४;—का १४, वां मन्त्र वहाँ नहीं मिलता, किंतु आश्रौसू० ८.३ ८, १२ में इसका निर्देश है; मन्त्र १२ सामान्य है : ऐब्रा० ८ ११.५; लाश्रौसू० ३ ३.२; आपश्रौसू० ९ १७.१; साममन्त्र ब्रा० १.३ १३; गोगृसू० २ ४.६; आपमब्रा० १.९.१; तु० पागृसू० १ ८.१०; हिगृसू० १.२२.९;–से साम्य रखने वाले ऋग्वेद—मन्त्रों का आधा भाग ऋग्वेद—दशम मण्डल का ६ठा भाग प्रथम मण्डल का, १०म भाग ७वें मण्डल का, और ८ वां भाग शेष मण्डलों का है : ९३ १२–१५; ह्विटनी की सूची : इस्तू० २. ३४७. कुछ अंशों में मन्त्रों की आदिम विधि पर पहुँच जाता है, किंतु शौनकीय और पैप्पलाद दोनों शाखाओं की सामग्री का अध्ययन इसके लिये आवश्यक है : १०१. ३–७; कण्डिका ३६; के पौरोहित्य-संबन्धी विषय भी उस स्वतन्त्र परंपरा की देन है जो अन्य वेदों के संग्रहकर्ताओं से किसी तरह चूक गई थी : १०३. ७–९; हिलेब्राण्ड्ट, गोगेआ० १८८९. पृष्ठ ४०४ एवं आगे; ५. १९. ८–९ ब्राह्मण-द्वेषियों के प्रति कहे गए हैं : १५९. १४–१७; ४. ३८. ५–७ को ब्लूमफील्ड खोये हुए पशुओं की प्राप्ति पर लगाते हैं : १६७. १; सेवुई० ४२, पृष्ठ १५०, ४१३;—का श्रौत निधियों के अशेष क्षेत्र से परिचय है : १८८. २४; ३. ३. २. में सौत्रामणी का जिक्र है; ११. ५. ५. में सभी श्रौत परिभाषाएँ मिल जाती हैं; 'ऋचि ऋग् भवति यजुषि यजुः साम्नि साम श्लोके श्लोकः' में—का जिक्र नहीं है : २३४. १–२; सेवुई० ४२ पृष्ठ ३२ एवं आगे.

अथर्ववेद पैप्पलाद,—से लिये गये शौनकमन्त्र जो बीसवें काण्ड में मिलते हैं : १९८. ८–१०; रॉथ, अवे० इन काश्मीर, पृष्ठ ३२,

अथर्व-संस्करण,—ऋग्वेद-संस्करण के बाद का है : ३७. १५–१६ देखो ऊपर कण्डिका ३; और आगे ४२,

अथर्व-सूक्त,—सूक्त ६. ४८ याजुष मन्त्रों का है और इसमें एवं अन्य श्रौत ग्रन्थों के समानान्तर सूत्रों में थोड़ा-सा भेद है : १८९. ७–८. ज अ ओसो० १५. ३, ४.

अथर्वाङ्गिरसः,—३७. २४; ब्रह्म शब्द, जो कि त्रयी के साथ अवे० ११. ८. २३; १५. ६. ३; (दे० १५. ३. ७) अवे० का बोधक न होकर सामान्यतः उदात्त धर्म का द्योतक है : देखो ऋवे० १०. ७१. ११ और कण्डिका. ३३.

अथर्वाङ्गिरसि श्रुतम्—१३. १०; बाम्बे संस्करण अथर्वाङ्गिरसि श्रुतम्; कल० संस्करण : अथर्वशिरसि श्रुतम्; कुन्ती को अवे० का ज्ञान: ५२. १–३.

अथो त्वम्,—अवे० में : ९४. २४. पाद के आरम्भ में 'अथो त्वम्' अथर्व की विशेषता है.

अद्भुत शान्ति, —का संपादन वेबर ने किया है : ३१. १ देखो ओमिना उन्द पोर्तेन्ता. पृष्ठ ३२० एवं आगे.

अनड्वान्,—से संबद्ध सव : १६२. १४. सावे० १. ४५८; आपश्रौ० २१. ९. १५; पागृ० ४. ९. १; सामविधान. १. ६ २; ३ १ ४; कौसू० ६६. १४; वैतान १३ ८.

अनड्वान्, = दैवी वृष, दक्षिणा रूप बैल. : १५८. २७–२९. द्र० अवे० ४ ११; जेकब, कंकोर्डेन्स टु दि उपनिषद्स, 'अनड्वह्'

अनुपदसूत्र,—अवे० का आदर के साथ उल्लेख करता है. ५४. १०. विवरण : इस्टू० १. ४३, ४५; १३. १४४, १४६.

अन्त्येष्टि मन्त्र,—तैआ० ६ के मन्त्रों में एवं अथर्ववेद काण्ड १८. ४ के ८९ मन्त्रों में समानता : १९७. १५–१७ अथर्ववेद के काण्ड १८ का अनुवाद वेबर ने किया है : जि० प्र० ए० वि० १८९५, पृ० ८१५ एवं आगे; १८९६, पृ० २५३ एवं आगे; उनके वक्तव्य को देखो : जि० प्र० ए० वि० १८९१ पृ० ७८६. अन्त्येष्टि के विवरण के लिये देखो कालण्ड, दी आल्तिन्दिश्शन तोद्‌तन उन्द वेस्तात्तुङ्गसगेब्राउखे; ट्रांजेक्शन्स आम्स्तर्दम अकादमी १८९६ विशेषतः भूमिका और पृष्ठ १६३ एवं आगे; हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, पृष्ठ ८७ एवं आगे.

अपचित्,—आदि के विषय में ब्लूमफील्ड के लेख से पहले भ्रान्त धारणाएं थीं : १२५ १२–१३; द्र० कण्ट्रिब्यूशन्स, द्वितीय सीरीज़, अजफि० ११. ३२० एवं आगे; देखो इन मन्त्रों पर टीका सेबुई० ४२ में

अपामार्ग—से भी दानवों को भगा देने की प्रार्थना की गई है : १३७. १६–१८. द्र० वासं० ३५. ११; शब्रा० १३. ८. ४. ४. देखो राजसूय पर 'अपामार्गहोम' : वेबर, जिप्रएवि० १८९३ पृ० १७ एवं आगे और ओल्डनबर्ग-रचित रिलिजन देस वेद की सूचियां, (अपामार्ग के नीचे); सेबुई० ४२. (वनस्पति)

अप्सरस्, — एवं गंधर्व उन्मत्तता पैदा कर देते हैं : १२८. ५. देखो नोट अवे० ६. १११. ४ पर, सेबुई०, ४२. ५२०; द्र० इस्टू० १. २१७ नोट.

अभिचार—एवं गृह्यकर्म भारत में सदा से प्रचलित रहे हैं : ३७. ६–७; दे० ऋवे० १. १९१; ७. ५०; ७. १०४; १०. १२८; आफ्रेख्त का ऋवे० संस्करण, भाग २; पृष्ठ ६७० एवं आगे, —के भेद, मारण आदि : १३५. १७–२०. द्र० गोल्डस्टुकर, संस्कृत डिक्शनरी 'अभिचार' पर; मेयर, ऋग्विधान, भू० पृष्ठ १३ एवं आगे; वेबर, इस्टू० ३. १५६; फेर्सा० १. २७० एवं आगे; २. ३१८, ११८४; हिलेब्राण्ड्ट, वही० १७७ नोट।

अभिचार,—आथर्वण अभिचारों का काल भारेरानियन युग तक जा पहुंचता है: १३६. ९–१०. द्र० श्पीगल, दी अरिश्शे पीर्योद, पृष्ठ २१८ एवं आगे; गाइगर, सिविलाइझेशन आफ दि ईस्टर्न आरेनियन्स १. १६० एवं आगे

अभिचार सूक्त –आथर्वण अभिचारसूक्त, मैसं० एवं आपश्रौसू० के विधानों से उद्धृत हैं : १३६ ६–७. दे० कण्डिका ४५.

अभिषेक मन्त्राः,—में जलों की स्तुति है; ये १६ वें काण्ड में आते हैं : १९६. १२. देखो कौशिक-सूत्र. ९. ९; २. १८.

अभीवर्तेन मणिना, - विजयी मणि द्वारा शत्रु पर आक्रमण : १३९. ३; द्र० ऋवे० १. १७४. १. 'अभीवर्तेन हविषा' कौन-सा पाठ प्राचीन है यह कहना कठिन है; वेबर, इस्तू० ४२३ नोट 'हविषा' को प्राचीन बताते हैं; किंतु 'मणि' और 'हविष्' दोनों ही पक्के आथर्वणिक हैं, 'हविष् सूक्त' के लिये देखो कण्डिका ६० अन्त । इस सूक्त को 'अभीवर्तसूक्त' कहते हैं : आपश्रौ० १४. १९. ६, २०. १; आगृ० ३. १२. १२; कौसू० १६. २९.

अलजि,—आंख का एक रोग : १२७. ८–९; द्र० वाइज़, पृष्ठ २९६; त्सिमर, पृष्ठ ३९०

अविश्वविन्नाम्,—यह पाठ ऋग्वेद के 'अविश्वमिन्वाम्' से अच्छा है : १०२. १–२. द्र० सेबुई ४२. ३२६.

अवेस्ता, नवीन—के आठ अक्षरों वाले पद्य की स्वतन्त्रता ८१. ८–९. देखो गेल्डनर, मैट्रिक देर युंगेर्न अवेस्ता, पृष्ठ ६. एवं आगे

अश्वमेध—की भी अपेक्षा अवे०, २०. १३६ के आहनस्याः मन्त्रों में अधिक अश्लील भाषण पाया जाता है : २०९. ८. देखो वेबर, इस्तू० ९. ३०७; गेल्डनर, वैस्तू० १. २८०

अश्वमेध,—का ब्रह्मोद्य : २११. १७. विवरण : ओल्डनबर्ग, रिलिजन देस वेद, पृष्ठ २४८, ४७५.

असत्,—को यातु-क्रियाओं के विरुद्ध उभारा जा सकता है : ७. ३–४. दे० खण्ड ५९.

अस्तृत, = अजित–नामक रक्षायन्त्र का उल्लेख अवे० १९. ४६ में है : १३३. १–२; द्र० सायण 'अस्तृतनाम मणिः'.

आख्यानात्मक स्मृतियां,—अवे० ३.३१, आख्यानात्मक स्मृतियों से आयुष्यदान पर पहुँच जाता जाता है : १३३.४–५, द्र० जअओसो० १५.१८१ एवं आगे; सेबुई० ४२.३६४ एवं आगे

आङ्गिरस,—वेद का निन्दापरक प्रयोगः १५.९–१०; दे० ब्लूमफील्ड, ज अ ओसो० ११.३८७ एवं आगे; सेबुई०, ४२. पृष्ठ १८ एवं आगे,

आङ्गिरस,—शब्द अमङ्गल-सूचक अर्थ में प्रचलित है, इसके विपरीत शान्त अर्थ में अथर्वन् : १८.४–६; अथर्वन् = अहिंसक; ?; √थुर्व् 'हिंसा' धातुपाठ १५.६२ और संभवतः मैसं २.१०.१, ध्यान दो √तूर्व्, एवं √धूर्व् धातु पर

आङ्गिरस—सों की स्तुति : २३१ १९, सायण द्वारा अथर्ववेद भूमिका में उद्धृत, (पृ० ५)

आथर्वण अभिचार—इससे भी अधिक प्राचीन हैं और हो सकता है कि ये भारोपीय युगके हों : ४. २०–२१; दे० क्राउएर, फेस्टग्युस आन राथ, पृष्ठ ६४ एवं आगे; विन्तरनित्स, दि मन्त्र-पाठ आफ दि आपस्तम्बिन्स, पृष्ठ ४४; वह व्यक्ति—अवे० के मन्त्रों और गृह्यसूत्रों को बाद के वैदिक युग का बताने में संकोच करेगाः ४.२३–२५; ए कुह्न, कुत्सा० १३, पृष्ठ ४९–७४; ११३–१५७; सेबुई० ४२ पृष्ठ ३१३, ३८६, ४५४; दे० स्टेन्त्सलर, उबर दि जित्ते, आगृ० के अनुवाद का परिशिष्ट; हिल्लेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, पृष्ठ २,—का चीते से परिचयः ८.४;—में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में विभेदक रेखा खिंच चुकी है : ८.९, देखो ५.१७.९;

६.१३.१; ७. १०३.१; १२.५.४६; १५. ८.१; १९.३२.८, ६२.१;—में मानव एवं पशु शरीर-रचना का विज्ञानः ८. १०–११; दे० ९.६ और ७; १०. २. आदि पापवर्ग की ओर संकेत इसके समय का निर्धारण करता है : ९.५–६; दे० ब्लूमफील्ड, कण्ट्रीब्यूशन्स, सेवन्थ सीरीज, अजफि०, १७.४३० एवं आगे; जॉली, पृष्ठ ११६

आथर्वण उपनिषद्—पांच वर्गों में विभक्त हैं : ३३. ११–१२; इस्टू० २५१; डब्ल्यू एल० २, पृष्ठ १७३; डायसन, जेखत्सिग उपनिषद्स ५४३; इनमें अथर्ववेद का नाम त्रयी के साथ जोड़ा गया है : ३४ ११–१२; देखो कण्डिका २४,

आथर्वण—णों ने ऋ० १.३१.१६ a + b को इसलिये ले लिया है कि उसमें उस दूरवर्ती मार्ग का निर्देश है जिसे हमने तय कर लिया है : ९७.१–२; द्र० सेबुई ४२.३५३,

आथर्वण पुरोहित—के लिये निन्दा शब्द, ३६.२९; देखो राजेन्द्रलाल मित्र, गो ब्रा० भू० पृष्ठ ४, आथर्वण प्रमिताक्षरा ३१.६,

आथर्वण —भेषज, शान्त एवं पौष्टिक : १३५, ८–११, ब्राह्मणों में बारवार अङ्गिरस और आदित्यों के संग्राम की कथाएँ आती हैं कर्मकाण्ड के अनुष्ठान के क्षेत्र में; इन सब में आदित्यों की विजय होती है—जो कि सकल याज्ञिकों के रूप में उभरते हैं (ऐब्रा० ६.३४ में नहीं) इन प्रकरणों में अङ्गिरस् = असुरों जैसे दीख पड़ते हैं, और उन्हीं की भांति इनका भी पराजय ही होता है: वेबर, इस्टू० १.२९२; इस्ट्रा०, ३.८०, जिप्रएवि० १८९१. पृष्ठ८११ एवं आगे। कहना न होगा कि इन सब आख्यानों से अङ्गिरस् कुछ घोर जैसे और आदित्य पावन अनुष्ठानों के प्रवर्तक बनकर उभरते हैं; तु० शुक्रानि यजूंषि = आदित्यानि शब्रा० में वेबर, वहीं पृष्ठ ८१२ नोट : याजुष ग्रन्थों में तो अङ्गिरस् और आदित्य दोनों ही आदर के पात्र है : मैसं० १.६.१, (८६.७); १.६.२, (८७.३); आपश्रौ० ५.११.७; कौसू० ७०.६,

आथर्वण लोग—अपने अनुष्ठानों को वेदत्रयी की शाखाओं के अनुसार करते थे, या इनके अनुष्ठान का अपना ही कोई खास तरीका था, जिसमें अधिक पुरोहितों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी इस बात का निर्णय कठिन है : १९०.५–७ अथर्व-पद्धति में आने वाले त्रिषवण व्रत का इस अनुष्ठान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता : हिलेब्राण्ड्ट. रितुआल लितरातूर, पृष्ठ ५८,

आथर्वण सूक्त—३४.७–९, उदाहरणार्थ : अवे० ३.२०.१, जाबाल ४; अवे० ४.१.१; अथर्व शिरस् १; अवे० ४.४.१ : संन्यास १; अवे० ६.९६.१ : प्राणाग्निहोत्र १; अवे० १०.२.२६–७; अथर्वशिरस् ६; अवे० १०.८ २७, अथर्वशिरस् १; अवे० ११.४ प्रश्न २.७ एवं आगे, अवे० ११.४.१३: मुण्डक २.१.७; अवे० ११.८ संन्यास ३; अवे० १८ संन्यास १.

आथर्वण सूत्र—एक व्याकरण ग्रन्थ त्रिकाण्डमण्डन को ज्ञात था : ३६.३, देखो भाण्डारकर, रिपोर्ट १८८३–४; पृष्ठ ३०,

आथर्वणिक—पाणिनि ४.३.१३३ में आया है ५३.१९–२१ विवरण : इस्टू० ५.७७; पाणिनि को हृद्य का भी ज्ञान था : देखो कण्डिका० ५३,

आदित्य—अवे० २०.१३५.६–१० के अनुसार आदित्यों के द्वेषी अङ्गिरस् ने एक बार सोम याग में आदित्यों की सहायता की थी : २०८. ७–९ देखो वेबर, इस्टू० १.१७६, २९२; इस्ट्रा० २.४७०; ३.८० जिप्रएवि० १८९१, पृष्ठ ८११ एवं आगे,

आदित्य—आदित्यों एवं अङ्गिरसों की प्रतिस्पर्धा : २४५.३–४, द्र० वेबर, इस्तू० १.२९१ एवं आगे, एपिश्शेस इम वैदिश्शन रितुआल, पृष्ठ ४६,

आदिममन्त्र—प्रत्येक सूक्त के अन्तिम मन्त्र के उत्कर्ष में परिणत होता है : ७०.१२–१४; विवरण: ब्लूमफील्ड, जअओसो० १७.१७८; वेबर, इस्तू० १८.६६, सेबुई० ४२.३४८.

आध्यात्मिक सूक्त,—अवे० में पर्याप्त संख्या में इनका आना समझ में नहीं आता : १७८. ६–७ व्र. अथर्ववेदीय आध्यात्मिक सूक्तों के भव्य संग्रह के लिये देखो चूलिका उप. ११ एवं आगे; ल्युबक, हिऐंसंलि० पृ० ५५६ एवं आगे. म्यूर, ओसंटै० ५. ३५० एवं आगे; ल्युडविग, दी ऋग्वेद, ३. ३९३ एवं आगे; शेकलान, फिलोसोफिश्शे हिम्नन, ४४–८८; श्रोदर, इन्दीन्स लितरात्यूफ, ७९ एवं आगे; हार्डी, वैदिश्श–ब्राह्मणिश्शे पीर्योद, पृष्ठ २०७ एवं आगे; डायसन, आलगेमाइने गेश्शिश्त देर फिलोसफी, भाग १. खण्ड १. पृष्ठ २०९ एवं आगे; ब्लूमफील्ड, सेबुई०, ४२. १९९–२३२; हेनरी, लेलिव्रे ८ और ९ द ल अवे०; लेलिव्रे ९ और ११ द ल् अवे० और ले हिम्न रोहिता से (लिव्र १३).

आध्यात्मिक सूक्त—अवे० २.१; ४.१.२; ५.१.२; ७.१.२ को छोड़ कर शेष अवे० ८–१९ में आते हैं : १७८.११–१३; इस बिन्दु पर देखो कण्डिका ३७,

आपस्तम्ब धर्मसूत्र—में कहा गया है कि स्त्रियों और शूद्रों का ज्ञान अवे० का पूरक है : ४९.१–३; विवरण : ब्युहलर, सेबुई०, २. पृ० २९,

आपस्तम्ब—अवे० की उपेक्षा करता है ६०.१०–११; विवरण : त्सादामौगे०, ९ पृष्ठ ४७; सेबुई० ३० पृष्ठ ३२१; सेबुई०, ४२ पृष्ठ ६५, नो० २,

आयु—पुरूरवा और उर्वशी का पुत्र, उसकी यथार्थ पृष्ठ-भूमि : १३२. १०–१५, द्र० बेर्गेन्य, ला रिलिगियों वैदिक. १.५९ एवं आगे २.९१ एवं आगे; ऋवे० ४.२.१८ : मर्तानां चिद् उर्वशीर-कृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः, मर्त्यौ० के लिये अनेक उर्वशी (समिध्) रची गई भद्र आयु (अग्नि) की वृद्धि के लिये, पुरूरवस् + उर्वशी से समिधों का बोध हो सकता है : आयु इनका पुत्र है : वासं० ५.२, तैसं० १.३ ७.१, ६.३.५ ३, में से १.२.७, ३.९.५, शब्रा० ३ ४.१.२२, वाश्रौ० ५.१.३०, आपश्रौ० ७.१२.१३, कौसू० ६९.२० 'बहवो मे समानाः' (मैसं० १.६.१२) में बहवः का संकेत अग्नि के अनेक जन्मों की ओर है : देखो अग्नि के भाई : ब्लूमफील्ड, ज अ ओसो० २०.१८० एवं आगे, भिन्न मत : गेल्डनर, वैस्तू० १.२४३ एवं आगे, विशेषत : २८३,

आयुष्—से बने अथवा इसी प्रकार के शब्द वैदिक कंकोर्डेन्स में २०० से अधिक मन्त्रों या सूत्रों के आरम्भ में आते हैं : १३१.१०; यथा 'आयुर्मे देहि; प्राणं मे धुक्ष्व; आयुष्पा अग्नेऽस्यायुर्मे पाहि; दीर्घायुत्वाय शतशारदाय',

आयुष्याणि सूक्तानि—१३०.१८एवं आगे; द्र० सेबुई० ४२.४९ एवं आगे और नोट, कौसू० सूची बी० पृष्ठ ३८३; मेयर, ऋग्बिधान, भू० पृष्ठ १२ सामविधान २.१; पारगृ० १.१६.५ एवं आगे,

आश्वलायनगृह्यसूत्र—युद्धाभिचार को अथर्ववेद से मन्त्र न लेकर ऋग्वेद के मन्त्रों से इसे अलंकृत करता है : ४४.१६–१८; दे० सेबुई०, ४२ पृष्ठ ११७ एवं आगे।

आसुरीकल्प—को परिशिष्टों में रखा गया है २५.१५; जअओसो, ११.३७८ एवं आगे; कौसू० भूमिका पृष्ठ ३६, मगाऊं आसुरीकल्प अजफि० १०.१६५ एवं आगे; आगे दे० खण्ड १६,

आसुरीकल्प,—का संपादन मगौन ने किया है : ३०. ३०–३१ अजफि० १०.१६५–१९७,

इदमहं तं वलगमुत्किरामि—आभिचारिक सूत्र है : १३६.३. द्र० वासं ५.२३, तैसं १.३.२.१; मैसं० १.२.१०; आपस्तम्ब ११.११.८,

इदमहममुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रम्—आभिचारिक सूत्र, १३६, ४–५; उदाहरणार्थ मैसं० ४.७.९ (१०६.३), आप श्रौ० १४,६.१२,

उच्छिष्टसूक्त—चूलिका उपनिषद्, मन्त्रोपनिषद् के रूप में उच्छिष्टसूक्त प्रस्तुत करती है : ३४.४–६; दे० कण्डिका ५९,

उत्तमपटल—के अंशों का वेबर ने निरूपण किया है : ३०.३२ -३३ वेबर, इस्तू० ४.४३१ एवं आगे,

उपजीका—विषाभिचार के लिये प्रयुक्त १२६. १७–१९ द्र० ब्लूमफील्ड, सेवन हिम्स आफ दि अवे, अजफि ७.७.४८२ एवं आगे; सेबुई, ४२.५११,

उपनिषद्—दों की बहुसंख्या अथर्ववेद से सम्बद्ध है : ३१. २८–३०; दे० मैक्सम्युलर, त्सादामौगे, १९. १३७ एवं आगे; वेबर, इस्तू० १. २४७ एवं आगे; ३८० एवं आगे २. १ एवं आगे, १७० एवं आगे; ३. ३२४ एवं आगे; ९. १ एवं आगे; इस्त्रा० २. १३५; ३. ५८५ एवं आगे; डायसन्, जेखत्सिग उपनिषद्स पृ० ५३१ एवं आगे;–दों की संख्या वेबर ने १८७६ में २३५ बताई थी : ३३. १; डल्व्यू एल. २. पृ० १७१ नो० ३;–दों का काल और मूल्य ३३. ८–१०; डायसन, जेखत्सिग उपनिषद्स;–दों में यातुक्रिया १३५. २५. द्र० शब्रा० १४. ९. ४. १० = बृ उ० ३. ६. ४. १२; देखो गारुडोपनिषद्,

उपवर्ष—के अनुसार ५ कल्प वेद तुल्य हैं : ३०. ३; कोलब्रुक, ऐसेज्, २. २. ३१९ एवं आगे,

उषा—जर्नल सामश्रयी का : २४८. १५. द्र० मैक्सम्युलर, सेबुई० ३०. ३५८' सोम-संस्था के लिये देखो आश्रौसू० ६. ११. १; काश्रौसू० १०. ९. २८.

ऋग्वेद—की मन्त्रसंख्या आदि के क्रम पर बेर्गेन्य और ओल्डनबर्ग ने उचित अनुसंधान किया है : ६९. १६–१७,

एकाह—प्रसक्त सव एकाह के अङ्क हैं : १६१. ८–९ : देखो वोबू 'सव'; शांश्रौ० सूची 'सब' हिलेब्राण्ट्, रितुआल लितरात्यूर ५. १४०.

एकान्तचारी संन्यासी = सूर्य : ऋवे १०. १३६. सेबुई, ४२. २१४, ६२६ एवं आगे, हेनरी, ले लिब्रे, १०. ११ और १२. पृ० ११४, १५० एवं आगे; डायसन, पृ० २७७ काण्ड १५ का व्रात्य खण्ड ब्रह्मभूत व्रात्य की प्रशंसा करता है : देखो कण्डिका ६१.

एतश—नामक सूर्यश्व के नाम पर एतश-प्रलाप की रचना = ब्रह्मोद्य तु० अश्वमेध के पारिप्लव आख्यान की : शब्रा० १३. ४. ३. २–१५; आश्रौसूत्र १०. ६–१०; शांश्रौसू० १६ १–२२. लाश्रौसू० ९. ९. १०, जिनके पाठ समुचित हैं।

ऐतशप्रलाप—अवे० २०. १२९–१३२. आश्रौसू० एवं ऐब्रा० ६–३३. १ पर सायण के अनुसार ऐतश प्रलाप में ७० पाद हैं। आश्रौसू० ८. ३. १५ इसका विकल्प १८ पाद बताता है

(=शांश्रौसू० १२. ३. १८. १–१८) अथवा केवल पहले ९ (=शांश्रौसू० १२. ३. १८. १–९) । ऐब्रा० ६. ३३. ६ भी भिन्न आकार के ऐतश प्रलाप से परिचित है : इसी पर टीका देखो ।

ऐतशप्रलाप—अथवा एतश प्रलाप = अवे० २०, १२९–१३२ कौब्रा० ३०.५ और शांश्रौसू० १२.७.३ एतश प्रलाप लिखते हैं ।

ओं श्रावय—आदि सूत्रों का वर्ष, प्रजापति, याग के साथ सम्बन्ध : २४८.५; द्र० गोब्रा० १.३.१०; ५.१०, शब्रा० १२.३.३.३,

ओम्—सृष्टिखण्ड, गोब्रा० के ओम् खण्ड को फारसी अनुवादक एक उपनिषद् मानते थे; ३५.११–१२; दे० कण्डिका ६८,

ओल्डनबर्ग—अधिक स्वच्छन्दता और अनियमितता के अतिरिक्त ओल्डनबर्ग द्वारा दिये गये अनुष्टुभ् के लक्षणों की दृष्टि से छन्दों का परीक्षण ८०.७–९ दे० त्साशमौगे० ३५.१८१ एवं आगे ३७.६२ एवं आगे, दी हिम्नन देस ऋग्वेद पृष्ठ २६ एवं आगे; सेबुई० ३० पृ० ११, ३५ एवं आगे; याकोबी, इस्तू० १७.४४२ एवं आगे,

विश्वस्थात—आदि उदाहरणों के साथ ओल्डनबर्ग द्वारा दिये गए उदाहरणों पर भी ध्यान देना चाहिये : ९९.२१–२२, द्र० दी हिम्नन देस ऋग्वेद, पृष्ठ ३२० एवं आगे,

ओषधि—का व्यवहार ब्राह्मण ग्रन्थों की भांति धर्मग्रन्थों में भी अपवित्र माना गया है, ४९.११–१४; विवरण : सेबुई, ४२. पृष्ठ ३९ एवं आगे,

औशनसाद्भुतानि—का संपादन एवं अनुवाद हेटफील्ड ने किया है : ३१.३, दे० जअओसो, १५.२०७ एवं आगे,

औषध-विज्ञान— भारतीय औषध विज्ञान ई० पू० ५ वीं सदी में उसी परिनिष्ठा को पा चुका था जो चरक और सुश्रुत में मिलती है; और कौसू० में मिलने वाले औषध विज्ञान को देखकर कहा जा सकता है कि उससे बहुत पहले से उसका विकास होता आ रहा था : १२१.२४–२८, द्र० हर्नले, प्रोबंएसो० एप्रिल १८९०, जबंएसो० १८९१ पृष्ठ १३९ एवं आगे; राथ, वीत्सा कुमौ ५.३०३ ब्यूहलर, वित्साकुमौ० १०२ एवं आगे; ३०२ एवं आगे; जस्वी, फेस्तग्रुस आन राथ, पृ० १८, वित्सा कुमौ० ११.१६४ एवं आगे, कलेक्टानिया ऑन दि कास्ट्स वेबर लिखित इस्तू १०. १–१६०

कल्प—अथर्ववेदीय याज्ञिक साहित्य ५ कल्पों का है ३०. २–३. दे० । जअओसो ११. ३७६ एवं आगे हिल्ले ब्राण्डट, रितुआल लितरात्यूर कान पर दागना, अवे ६. १४१ कानों को दागते समय बोला जाता है : १६७. ३–४ डेलब्रुक, गुरुपूजा कौमुदी पृ. ५४.

काम—मनका प्रथम बीज, एक से उत्पन्न: १७९. १०–१३. द्र० सेबुई, ४२. ५९१.

काम्या इष्टयः—प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में : १७३. ८. उदाहरणार्थ पाप्मना गृहीतस्येष्टि, तैसं० २. ३. १३, अभिशस्तीष्टि : तैसं० २–२. ५. १, यज्ञ विभ्रष्टेष्टि : तैसं० २. ३. ३. १–२.

काण्ड—प्रत्येक काण्ड के सूक्तों में मन्त्रों की निम्नतर संख्या ही उनकी सामान्य मन्त्र संख्या समझनी चाहिये : ६९. १०–११. अवे. अनुक्रमणी इसे प्रकृति बनाती है, इससे भेद विकृति है;—१३ के बड़े भाग का या तो मुख्य विषय से सम्बन्ध है ही नहीं अथवा यह मुख्य विषय

को उसके गौण प्रयोग में प्रदर्शित करता है : १९४. १९–२०. देखो ५९; १५–१६ काण्डों का अधिकांश गद्य में है : ७९ ९. ह्विटनी ने इण्डेक्स वेर्बोसम पृ. ५ एवं आगे सभी गद्यांशों की तालिका दी है; १८ काण्डों का क्रम ६८. २३–२४. दे० वेर्गेन्य, रिशेर्शे स्यूर ल् हिस्त्वार द ला संहिता दु ऋग्वेद १ पृ० ४. और ७५ (जू ए १८८६); वेवर, इस्तू. १७. १७८. १८. १. १५४. १९; का पहले १८ काण्डों से मेल नहीं बैठता ६६. १८. दे० आगे कण्डिका ३६–३७; २०.—को सोम-त्याग के शस्त्रों या स्तोत्रों के समय ब्रह्मा पुरोहित या उसके सहायक ब्राह्मणाच्छसी के उपयोग के लिये संकलित किया गया था : १९८. १६–१९ राथ, आब हाण्डलुङ्ग, पृ० २१. अवे इन काश्मीर, वेबर, इन्दिश्शे लितरात्यूर गेशिश्त, १६२ नोट, गार्बे, वैतानसूत्र, प्रिफेस. पृ० ४ एवं वैतान सूत्र २५. ११; २६. १०; २७. २८, २९ पर नोट; वेबर, जिप्रए वि० १८९१, पृ० ७४७ नोट; आप्रए वि० १८९३, पृ० ५, ओल्डनबर्ग, वही पृ० ३४६.

काश्मीरी संहिता—पैप्पलाद शाखा की है : २६. २१. दे० रॉथ, अवे इन काश्मीर पृ० १२; कौ सू० भूमिका पृ० ३३.

किमीदिन्—सदंपुष्पा का तावीज किमीदिनों को भगा मारता है १३७. १५–१६ द्र० सेबुई, ४२ ६८, ३९८ एवं आगे, कण्ट्रिब्यूशन्स, सेवन्थ सीरीज, अजफि १७. ४०२ एवं आगे कुन्ताप सूक्त सहित २० वाँ काण्ड पैप्पलाद में नहीं है. २८. ३–४. दे० ह्विटनी, इण्डेक्स वेर्बोकम पृ० २; दे० आगे खण्ड ६२.

कुन्ताप सूक्त—अवे० २०. १२७–१३६; १९९. १०–१५; रॉथ, आब हाण्डलुङ्ग, पृ० ७. २१, ३२, अवे इन काश्मीर, पृ० ६, ८, २३; हाग, ऐतरेय ब्राह्मण, अनुवाद पृ० ४३० नोट; वेबर इन्दिश्श लितरात्यूर गेश्शिश्त, पृ० १६२ नोट; अवे पैप्पलाद के कुन्ताप सूक्त नहीं मिलते, इनका पदपाठ भी नहीं मिलता; सायण के अनुसार पूरा संग्रह एक खिल है : १९९. १५–१६; उनका कहना है : कुन्तापाख्यं सूक्तं खिले कुन्तापनामके ग्रंथे समाम्नातं त्रिंशद्दचम् (ऐ ब्रा० ६. ३२. १) 'कुन्ताप नामक त्रिंशद्दचं सूक्तम्' (ऐ ब्रा० ६. ३३. १); का पदपाठ अप्राप्य है; २८. २२ दे० रॉथ, अवे इन काश्मीर. पृ० ८, ह्विटनी, इण्डेक्स वेर्बोकम पृ० ४; कुन्ताप सूक्तों का विश्लेषण खण्ड ६३ में किया गया है।

कुंताप—शांखायन और वैतान सूत्र ने नाराशंस्यः, रैभ्यः आदि नामों की उपेक्षा करके सम्पूर्ण सामग्री के लिये कुन्ताप इसी नाम का प्रयोग कर दिया है : २००. ४–६. शांश्रौ सूत्र के व्याख्याकार सूत्र १२. १६ पर नाराशंस्यः आदि पारिभाषिक शब्दों से पूर्णतया परिचित प्रतीत होते हैं और ऐसा ही कौषीतकि ब्राह्मण ३०. ५. पर देखा जाता है जहाँ उन्हें साफ शब्दों में कुन्ताप का विभेद बताया गया है; कौषीतकि ब्राह्मण ३०. ५ के कथनों में भी शांखायन वाला क्रम ही स्वीकार किया गया है; फलतः कह सकते हैं कि शांखायन और कौषीतकि इन दोनों ही शाखाओं में इसी परम्परागत सामग्री का प्रचलन था : २०१. १–४ कौ ब्रा० ३०. ५ का क्रम : नाराशंसी, रैभी, व्याख्या, इन्द्रगाथा, भूतेच्छदः आदि ठीक उसी क्रम में हैं जो कि संहिता में है : शांश्रौ सू० १२. १४ एवं आगे; पाठ भ्रष्ट हैं, २०१, १२–१५; इस प्रकार ऐ ब्रा० ६. ३५. १५ इसपाद को निकाल देता है : इदं राधो विभु प्रभु

जो कि अवे० २०. १३५. ९ में आता है तुलना करो अवे० २०. १३५. ४ अतिवाद मन्त्र के प्रतिकारों में से पहले की जो शांश्रौ सू० १२. २३ ५ में आता है : पत्नी यीयप्स्यमाना, आश्रौ सू० में : पत्नी यीयप्स्यते और वैतान में पत्नी यद् दृश्यते.

कुन्ती,—को अवे का ज्ञान ५२. १–२,

कूदी—जो मृत्यु का मार्ग साफ करती है : १५९. २२; राँथ, फेस्ट ग्रुस आन बोहट लिङ्गक (९८–९९) एक इसी प्रकार की ग्रीक प्रथा का संकेत देते हैं द्र० सेबुई ४२. ४३६.

कृत्या—अवे० स्टू० १०. १ एक कृत्या को प्रस्तुत करता है जो सिर, नाक, कानों वाला एक पुतला है। यज्ञिय विधान ऐसे कलातमक उपकरणों से परिचित हैं : १३५. १४–१६ द्र० कौ सू० भू० पृ० ४७ और सेबुई ४२ सूची 'पुतले' (Effigy) के नीचे : द्र० हिलेब्राण्ड्ट, वही १७७. मूल कर्मों का धर्मशास्त्रों ने निषेध किया है : सेबुई ४२ पृ० ५४ (ऊपर देखो कण्डिका २६–२७). कृत्या प्रतिहरण = कृत्याओं के विपरीत प्रयुक्त अभिचार : १४१. ३–४. द्र० सेबुई ४२. ७०–८०; कौ सू० ३९७ और हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, पृ० १७८.

कृमि—चार आँखों वाले रंग बिरंगे कृमि, इनका अभिचार : १२७. ४–५. द्र० ए कुह्न, कुत्सा १३. ४९ एवं आगे; ११३ एवं आगे; त्सिमर, पृ० ३९३; सेबुई ४२. २२ एवं आगे; ३१. ३ एवं आगे, देखो वाइज, पृ० ३०७, ३५४ एवं आगे,

केगी—द ऋग्वेद (रारोस्मिथ का अनुवाद) पृ० ४. ९७; ग्रिफिथ, हिम्स आफ दी अवे० उपोद्घात हार्डी, दि वैदिश्श ब्राह्मणिश्श पीर्योद, पृ० १९० एवं आगे; ओल्डनबर्ग, द रिलिजन देस वेद, पृ० १७ एवं आगे; होप्किन्स, रिलिजन्स आफ इण्डिया, पृ० १५१ एवं आगे; ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ द अथर्ववेद, सेबुई० ४२, भूमिका; अनाम, द अथर्ववेद डेस्क्राब्ड्, लन्दन और मद्रास १८९७ (मिशनरी ट्रैक्ट)—का षष्ठांश, जिसमें पूरे २ काण्ड समाविष्ट हैं (१५–१६) गद्य में लिखा गया है २. ३; १६ वाँ काण्ड ऐसे गद्य में लिखा गया है, जिसमें छन्द अन्तर्निहित है, यह बात अवे० के अन्य गद्यांशों पर भी लागू होती है (यवे० पर भी) फलतः इस वात का ढूंढ निकालना कठिन नहीं है कि कोई एक मन्त्र पद्य है या गद्य। अवे० में पद्य और गद्य इतने अधिक मिल गये हैं जितने और किसी भी वैदिक ग्रन्थ **में** नहीं—दे० ह्विटनी, इण्डेक्स वेर्बोकम, पृ० ५;

कौत्सव्य निरुक्त निघण्टु—की तुलना यास्क के निरुक्त के साथ ब्लूमफील्ड ने की है : ३०. ३३–३४. दे० ज अ ओसो १५ पृ० ४८ एवं आगे० दे० तैब्रा० ३. १०. १ को भी जो कि निघण्टु जैसा है.

कौशिक सूत्र – ब्रह्मवद, जलद, जाजल शाखाओं की ओर संकेत नहीं करता, २४. २९–३०, जअओसो ११. ३८५; गोब्रा० संस्करण के आरम्भ में व्यक्तिक नामों की तालिका; कौशिक सूत्र—वैतान सूत्र ये दोनों नामहीन आचार्यों का उल्लेख करते हैं : २५. ८–१०; देखो कौ सू के परिशिष्ट पृ० ३७३; भी शौनकीय शाखा का है ; २६. ६–८. गोब्रा० वैतान सूत्र पर आधृत है, फलतः वह उसकी शाखा से दूसरी शाखा का नहीं है : २६ दे० आगे खण्ड ६४; अवे के आद्य मन्त्र को प्रतीकेन उद्धृत करता है; फलतः दोनों एक ही शाखा के हैं : २६. ११–१३. दे० कौसू० भूमिका पृ० ३८ एवं आगे;—एवं वैतान पैप्पलाद के मन्त्रों को सकल

पाठेन उद्धृत करते हैं : २६. १६–१८. दे० कौसू. ७२; ९१; १०७; ११५; वैसू० १०. १७; १४. १; २४. १. दे० रॉथ, अवे० इन काश्मीर पृ० २३; गार्वे, वैसू० पृ० ७; जअओसो ११. ३७७; एवं वैतान सूत्र में अथर्ववेद के मन्त्र सकल पाठेन उद्धृत हैं: २७. ११–१२, दे० जअओसो १५. पृ० १७३; अथर्ववेद का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है २८. ३४; इसका सम्पादन कारिल की टीका समेत ब्लूमफील्ड ने किया है : जअओसो १४. देखो हिल्लेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर पृ० ३६; चार आथर्वण शाखाओं में प्रचलित था : २९ ३–५; दे० पिशल, गोगेआ, एप्रिल १५–१८९१. पृ० २८३; संहिता विधि संहिता कल्प : ३०. ५; अध्याय (काण्ड) अनुवाक सूक्त और पर्याय शब्दों से परिचित है : ६८. १३–१४. परिशिष्ट सूक्त १९. २२. ७ में भी 'पर्याय' विभाग आता है. अवे० १९. २२. ७ कौसू० से बाद का है. २२. ११–१३ में आये उपोत्तमेभ्यः स्वाहा, उत्तमेभ्यः स्वाहा और 'उत्तरेभ्यः स्वाहा' निश्चय ही कौसू० में निर्दिष्ट सूक्तों और मन्त्रों की ओर निर्देश करते हैं, जो कि पहले वर्गों में आ चुके हैं। 'उपोत्तम' के लिये देखो कौसू० २६. ३४; उत्तम के लिये कौसू० २६. ४०; ४१. १५; ५०. १४; उत्तर : कौसू. ४८. ३६ कौशिक सूत्र, ४०. २–६ अवे० ३. ७ में नई बातें जोड़ देता है; १६६. १–२. द्र० सेबुई० ४२. १४६, ३४८ एवं आगे; के काण्ड १० की पृथक् आलोचना अपेक्षित है : १४२. १५; देखो कण्डिका ६१; वैतान श्रौतसूत्र से पहले रचा गया था : २१३. ४. देखो ब्लूमफील्ड, जअओसो० ११. पृ० ३७५ एवं आगे; हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, पृ० ३५ एवं आगे,

क्षत्रियों का वेद—अथर्ववेद = ब्रह्मवेद १५२. १७–१९. वेबर, जिप्रए वि० १८९१. पृ० ७८५–७; आ ए० वि वी० १८९३ पृ० ४. २३ नोट १४३; ब्लूमफील्ड, सेबुई० ४२ पृ० २५. एवं आगे,

गणमाला—का कार्य उससे साम्य रखने वाले कौसू० के साथ हुआ है : ३०. २८–२९. दे० इण्डेक्स बी० पृ० ३८३ एवं आगे,

गाथा नाराशंस्यः—दान स्तुतियों से सम्बद्ध हैं—जिनसे अभिप्रेत हैं वे मन्त्र जो दाताओं की प्रशंसा के पुल बाँधते हैं : २१०. २२–२५. देखो बृहद्देवता ३. १२४. जहाँ दानस्तुति और नाराशंसी परस्पर सम्बद्ध दिखाये गये हैं नाराशंसी एवं गाथा दोनों ऋवे १०. ८५६ को ज्ञात हैं; अन्यत्र : तैसं० ७. ५. ११. २. शब्रा० ११. ५. ६. ८; पंबिब्रा० १०. ६. ६; आश्वगृसू० ३. ३. १ एवं आगे, याज्ञवल्क्य १. ४५; तु० सेबुई० ४२. पृ० ६८८–९.

गायत्री—उपनिषद् = गोब्रा० १. १. ३१–३८. : ३५. १४. दे० कण्डिका ६९. गायत्री, अवे० १९. ७१ में—की प्रशंसा है : १६४. ७. अवे० के 'वन्दमाता' की जगह हस्त लेखों में 'वेदमाता' पाठ है।

गुप्—का अथर्वन् एवं अङ्गिरस् से सम्बन्ध : २१५. १–५. देखो 'जनत्' पर विवेचन ६७ में। अथर्वणों के 'गोप्तारः' रूप के लिये देखो गोब्रा० १. १. १३.

गुरु शिष्य सांमनस्य—अवे० ३. ८. १५१. १० द्र० वेबर, इस्टू० १७. २१२.

गुर्दा—चल गये गुर्दे के उपचारार्थ औषध-सूक्त १३९ १७. द्र० लुडविग, दे० ऋग्वेद ३. ३५३,

३४४, ५१७; हेनरी, ले लिव्रे ७. पृ० ३८ एवं आगे, १०९ एवं आगे, भिन्नमत : वेबर, इस्तू ५. २४७.

गृकलह—एक अभिशाप है : १४९. १७–१९. द्र० शब्रा० ४. १. ५. ३ एवं आगे; जैब्रा० का अनुवाद ह्विटनी जअओसो ९१. पृ० १४५.

गृह निर्माण संस्कार—१६५. १२ एवं आगे दे० ओल्डनबर्ग के उद्धरण, सेबुई० पृ० ३०३; हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, पृ० ८०,

गृह्य अनुष्ठान—अथर्ववेदीय गृह्य अनुष्ठान अग्नि-पुरोहितों की देख-रेख में रहे होंगे, जो सोम-पुरोहितों से भिन्न थे, १७. १२–१३. दे० काउएर, फेस्टग्रुस आन रॉथ, पृ० ६४ एवं आगे,

गृह्य साहित्य—अथर्ववेद का क्षेत्र की तरह व्यक्तिगत इच्छाओं को पूरा करता है : १६४. १८–२०; 'काम्या इष्टयः' की सूची देखो : वेबर, तैसं० का संस्करण भाग २. पृ० ३५३; ओल्डनबर्ग, सेबुई० ३०. पृ० ३०३ एवं आगे, ३१६, मेयर, ऋग्विधान, भूमिका १२. सामविधान ३. १ एवं आगे,

गृह्य सूत्र—परवर्ती वैदिक काल में निर्मित हुए थे, १०. १२. दे० ओल्डनबर्ग, सेबुई०, ३० पृ० १७. एवं आगे; बहुत ही प्राचीन रीति रिवाजों के परिचायक हैं १०. १३. इस सम्बन्ध में देखो ऋग्वेद में अतिथिग्व (=अतिथियों को गौ देने वाला) का निर्देश, जो प्राचीन काल से आई अतिथि परिचर्या का सूचक है; दे० कण्ट्रिब्यूशन्स, सेवन्थ सीरीज, अजफि १७. ४२४ का निर्माण १०. २१–२३. दे० हिल्लेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर पृ० १ एवं आगे;—में वर्णित, रीतिरिवाजों के साथ देवताओं एवं दानवों के प्रति की गई प्रार्थनाएं सम्बद्ध रहती थीं, १०. २६–२८; इस विषय में ओल्डनबर्ग का मत विपरीत है सेबुई० ३०. पृ० १०; विन्तरनित्स ने इसका प्रतिवाद किया है, दि मन्त्र पाठ आफ दि आपस्तम्बिन्स पृ० ४४; सभी गृह्यसूत्र पारस्परिक भेदों के बावजूद एक ही विषय का प्रतिपादन करते हैं १२. २०–२१. गृह्यसूत्रों की विशाल विषय सूची के लिये देखो ओल्डनबर्ग, सेबुई० ३० पृ० ३००–३०७. विस्तृत विवरण : हिल्लेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, पृ० ४१ एवं आगे. दे० खण्ड ३६ और आगे, सूत्रों में जितनी ही अथर्वनिर्देश में अधिकता आती गई उतनी ही देर से गृह्यसूत्रों की विधानग्रन्थों के रूप में रचना हुई समझनी चाहिये : ४५. १३–१५. दे० ओल्डनबर्ग, सेबुई ३० पृ० १. और १७ एवं आगे; ऋग्वेद के सूत्रों में तर्पण के अवसर पर पढ़ी गई ऋषियों की सूची···४६. १–२; दे० आश्वगृ० ३. ४. ४; शांखा गृ० ४. १० ३; शांब व्यगृ० इस्तू० १५. १५३; दे० इस्तू० १४. ४४१; ऋग्वेदिक सूत्रों में सुमन्तु को ऊँचा स्थान दिया गया है : ४६. २–३. दे० रॉथ, अवे० इन काश्मीर पृ० २८.

गोपथ ब्राह्मण,—ने अशेष ब्राह्मण साहित्य से मनचाही सामग्री का विचयन किया है : २५. ३–४. देखो खण्ड ६५–६६; के मनमें पहली बात अवे० को प्रमुखता देनी थी : ५६. २–३. दे० गोब्रा० २. २. १४; जहाँ बार-बार 'अथर्वाङ्गिरस' को दुहराया गया है; का विभाजन : पूर्व एवं उत्तर ब्राह्मण; २१२. ३. तु०' 'तत्र गोपथः शत प्रपाठकं ब्राह्मणमासीत् तस्यावशिष्टे द्वे ब्राह्मणे पूर्व मुत्तरं च' चरण व्यूह, अथर्व परिशिष्ट, ४९; वर्तमान ब्राह्मण में ११ प्रपाठक मिलते हैं।

गौ—को ब्राह्मण को देने का संकेत : १६०. २६; कौसू० १०९–१११.

गौतम धर्म सूत्र—में राजा को ज्योतिषियों और शकुनवेत्ताओं के कथनों पर ध्यान देने के लिये कहा गया है : ४७. ११–१४.

ग्रहयुद्ध—का सम्पादन वेबर ने किया है : ३१. १. दे० इस्तू० १०. ३१७ एवं आगे.

ग्राम्य व्याधि—अवे० ३. ११. के लिये है : १३१. २–३; द्र० सेबुई० ४२. ३४१.

ग्रीक प्रभाव—मामूली समानता के आधार पर हिन्दू औषधशास्त्र पर विदेशी, विशेषतः ग्रीक प्रभाव माना गया है : १२१. २८–३०; द्र० रॉथ, त्सादामौगे २६. ४४८; वेबर, जिप्र-एवि० १८९०. पृ० २९.

घर—घर को दक्षिणा के रूप में ले लेना १६३. १–५. द्र० सेबुई० ४२. १९३ एवं आगे; ५९३ एवं आगे

घर से प्रार्थना—१६७. १३–१५. इनमें से बहुत से मन्त्र गृह्य सूत्रों में आते हैं; सामान्यतया देखो कौसू० ८९. १२.

घृणा—'वह जो हमें घृणा करता है अथवा जिसे हम घृणा करते हैं' १३५. १७–१८. द्र० श्रोडर, इन्दीन्स लितरात्यूर पृ० १२१ एवं आगे.

चतुरध्यायिका—शौनकी या; शौनकीय अवे० का प्रातिशाख्य है : २६. ४; इस प्रातिशाख्य में अवे० के लिए बताई गई कुछ विशेषताएँ कौसू० में मिलती हैं; दे० कौसू० भूमिका पृष्ठ ३८

चतुर्वेद—ब्रह्मा का विशेषण ५१. १५–१६; विवरण : सेबुई०, ४२. पृष्ठ ५२.

चत्वारि शृङ्गाः—२३८. ९–१०; मन्त्र की यह व्याख्या वासं १७. ९१; तैआ० १०. १०. २, निरुक्त १३. ७ पर भाष्यकारों की व्याख्या से भिन्न है। रॉथ, अवे० इन काश्मीर पृष्ठ २३ के अनुसार चत्वारि शृङ्गाः (गोब्रा० पृष्ठ ३४) पैप्पलाद का पाठ है किन्तु ३ पंक्ति बाद गोब्रा० में आता है 'चत्वारि शृङ्गेति'

चनसितवनी वाक्—२४३. ७; द्र० गोब्रा० २. २. २३; ऐब्रा० १. ६. ८ एवं आगे; काश्रौसू० ७. ५. ७; आपश्रौसू० १०. १२. ७.

चन्द्र—आथर्वणों का देवता है : २३०. १६–१८; गोब्रा० १. १. २०; २९, ३९; २. १६. २३; ३. १४; ५. १५, १९; अवे० में भी यह भावना मिलती है : अवे० २. २२ और २३; देखो ४५.

चरणव्यूह—४९ वां परिशिष्ट,—के अनुसार उपनिषदों की सूची (२७ है). ३१. ३३–३४ दे० २ वेबर, फेर्त्सा० २. ३८. हेटफील्ड, जअओसो० १४. पृ० १६० लिखता है : चतुरध्यायिका प्रातिशाख्यं पञ्चम पटेलिका, दन्त्योष्ठ्यविधि बृहत्सर्वानुक्रमणी च ३६–१३–१४. दे० वेबर, फेर्त्सा० २ ८९; अवे० को उसी धरातल पर रखता है जिस पर अन्य वेदों को ५४. १३ विवरण : इस्तू० ३. २७७ एवं आगे.

चर्मरोग—की चिकित्सा अवे० ६. १२७. १. और ९. ८–२० बताई गई है : १२५. ६–१०; द्र० तिसमर, पृ० ३८६; वाइज़, पृ० २१०,

चित्यादिभिराथर्वणीभिः—कौशिक सूत्र ८. १६ में उल्लिखित वनस्पतियों का निर्देश इन शब्दों से किया गया है : २२६. १६–१७. देखो ब्लूमफील्ड, जअओसो० ११. ३८७.

चीता—अवे० का चीते से परिचय बनारस के आसपास के प्रदेश की ओर संकेत करता है. ८. ४; त्सिमर, पृष्ठ ७९.

चूलिका उपनिषद्—दे० उच्छिष्ट सूक्त. ३४. ४–६.

चैम्बर्स कलेक्शन—३२. २३. दे० डायसन, जेखत्सिय उपनिषद्स, ५३२ एवं आगे; वेबर, फेर्त्सा० १. ९५.

छल-छद्म—से रक्षा के लिये वरुण से प्रार्थना है जो साम्स की याद दिला देती है; १४०. ४–५; द्र० सेबुई९ ४२. ८९. ३८९ एवं आगे

जजलि—जाजल शाखा का प्रवर्तक. २४. १०; इस्तू० १३. ४३५.

जनत्—आङ्गिरस वेद से जनत् उत्पन्न होता है जो इस वेद की व्याहृति है : २३१. १८. आङ्गिरस वेद की व्याहृति है जब कि ओं आथर्वण वेद की व्याहृति है : गोब्रा० १. १. २०; २. २४; ३. ३; २ २. १४. किन्तु कौशिक एवं वैतान में ऐसा विवेक नहीं किया गया है और वहाँ दोनों को व्याहृति जनत् है; जनत् के मूल के लिये देखो ऋवे० २. २१. ४; ४. ४०. २. देखो ऋवे० ३. ६१. ४ भी.

जल का दान—एक पवित्र कार्य है : १६३. ६–८; मनु ३. २४४; ४. २२९; ६. ७; ९. १६८; १८६; नारद० ५. ४१; शकुन्तला, श्लोक १५५ (बोहट्लिङ्क का संस्करण).

जलद—जलदाता, जल से सम्बद्ध अभिचारों को सूचित करते हैं : २५. २३–२४, दे० सेबुई० ४२ सूची 'जल' पर और 'अपां सूक्तानि, अभिषेकगण, जीवाः, महाशान्ति, शम्भूमयोभू, सलिलानि इत्यादि कौसू० की सूची में पृष्ठ ३८३ एवं आगे; जिस राजा का पुरोहित होगा वह राजच्युत हो जायगा, ५७. २३–३४; वेवर, इस्तू० १. २९६; ब्लूमफील्ड, जअओसो० ११. ३७८ नोट; जलद, दे० ब्रह्मवद.

जलद और मौद,—वाला राज्य नष्ट हो जाता है : २३. १२–१३. जअओसो० ११. ३७८ नोट.

जलसूक्त,—१७२. १३. द्र० वेबर; इस्तू० ४. ४२१; सेबुई०, ४२ सूची 'होमियोपथी' के नीचे,

जलोदर,—का उपचार जल से बताया गया है : १२३ १३–१५. सेबुई०, ४२. ११ एवं आगे; २४१; ४७१, ५६२ और इण्डैक्स 'होमियोपथी' पर.

जाजलशाखा—दे० जजलि.

जाजल—दे० ब्रह्मवद.

जालाष—जालाष, ठण्डी को घोड़ों आदि पर बताया गया है : १२५. १७–१८. द्र० कण्ट्रिब्यूशन्स, चतुर्थ सीरीज, अजफि. ४२५ एवं आगे, सेबुई०, ४२. ४८९.

जॉली—लिखित 'हिन्दू औषध का विवेचन' नामक इंसाइक्लोपीडिया के लेख से अनेक प्रश्नों पर प्रकाश पड़ता है : १२१. ३१–३३; हिन्दू औषधशास्त्र पर अन्य रचनायें : श्रोडर, इन्दीन्स लित० उन्द कुल्तूर. ७२९ एवं आगे; वाइज, कमेण्टरी आन दि हिन्दू सिस्टम आफ मेडिसिन १८६०. भारतीय रोगों और वनस्पतियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिये देखो सेबुई० की सूचियाँ ४२. पृष्ठ ६९७ और ७०२.

जैमिनीय ब्राह्मण,—में दूसरा प्रसक्त मन्त्र : २४८. १७–१८ : अयुतमेकं प्रयुतानि षष्टिर् नियुते द्वे नव चाक्षराणि, सप्तसहस्राणि दश तो दश, एतावानात्मा परमः प्रजापतेः; का २. ७१ गोब्रा० के प्रारम्भिक मन्त्र के साथ मेल खाता है : २४८. २१ : अष्टावेता नवतयो भवन्त्यहोरात्राणां परिवत्सरस्य, अशांतिरस्मिन् सवनानि त्रीणि च, सहस्रं च पवमानाश्च सर्वे ॥

ज्योति और ज्योतिष पदार्थ,—ब्रह्मा ओम् के द्वितीय वर्णों से—थों को देखता है : २३३. ५. यद्यपि ओम् को १. १. १६, २५ में चार मात्राओं का बताया गया है, तथापि यहाँ उसकी पाँच मात्रायें मान ली गई हैं; व् = ३ = ० = अव् , अर्थात् अ ३ ३व् म् ; देखो वोहटलिङ्गक बेकोज़ागेवि०, फेब्रुअरी, १८९६, पृष्ठ १६.

ज्योतिर्मण्डल,—सूर्य का आध्यात्मिक सूक्तों से सम्बन्ध : १८४. ८–१०; द्र० राजेन्द्रलाल मित्र, गोब्रा० की भूमिका पृष्ठ २४.

झाड़-फूंक,—आप० श्रौसू० ९. ३. ९२ में झाड़फूँक आथर्वण जैसी है; सेम से झाड़फूंक के लिये देखो ओविद० फास्ट ४२९–४४४. १३७. १–३. द्र० लुडविग, देर ऋग्वेद ३. ४७९; हेनरी, ले लिव्रे १०–१२ पृष्ठ १८८ एवं आगे, २२७ एवं आगे; देखो सेबुई०, ४२. सूची 'सेम' (beams) के नीचे.

टीकाकार,—शौनक और पैप्पलाद दोनों में से किसी एक के साथ उपनिषदों को जोड़ देते हैं : ३४. १६–१७; डायसन, ज़ेख्तसिग उपनिषद्स पृष्ठ ५३१.

त्युबिङ्गन – प्रति, ब्लूमफील्ड ने फोटो करने का प्रस्ताव किया था : २७. ९; जअओसो० २० पृष्ठ १८४ एवं आगे.

ट्यूटानिक फोकलोर,—रक्षस् , ग्राही, एवं दानवों को ताबीजों से हटाना : १२९. २–३. द्र० सेबुई० ४२. ४०९ एवं २९१.

डायसन,—प्रणव उपनिषद्=गोब्रा० १. १. १६–३० यह बात वेबर एवं डायसन के लिये रुचिकर सिद्ध हुई थी ३५. १३–१४. दे० इस्तू ९. ४९ एवं आगे; ज़ेख्तसिग उपनिषद् पृ० ८५८ एवं आगे प्रणव ३प के लिए दे० बर्नल, संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द पैलेस आफ तंजोर ३३b; स्टाइन, कैटलाग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स ऐट जम्मू पृ० ३१; कैटलाग आफ दि ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी इन मद्रास पृ० ५२; दे० टेलर कैटलाग आफ ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स इन फोर्ट सेण्ट जार्ज २. ४७२.

तद्,—पुराणवेद + तद् : २३१. २२. देखो कौशिक ९१. १०.

तादात्म्य,—आत्मा एवं ब्रह्म का—१८२. २३ एवं आगे; प्रसक्त सूक्त बहुत बाद का है और उलझा हुआ है; किन्तु डायसन के साथ (पृष्ठ २७०) यह मानना अनुचित है कि इसका लेखक प्राचीन परम्परा का निरादर करता है।

तावुवम,—टेबू० वेबर ने साम्य दिखाया है, १२६. १०–१३. द्र० जिप्रएवि० १८९६. पृष्ठ ६८१–४; ८७३–५; फेस्टश्रिफ्त फ्यूर ए० वास्तियन पृष्ठ ३६१–६; द्र० इस्तू० १८. २१५.

त्रिकाण्डमण्डन,—को आथर्वण सूत्र का ज्ञान था : ३६. ३. दे० आथर्वणसूत्र.

त्रित,—देवताओं ने पाप को—पर डाल दिया था : १७६. १५–१९. द्र० कण्ट्रिब्यूशन्स, सेवन्थ सीरीज़, अजफि० १७. ४३० एवं आगे; सेबुई० ४२. १६४; ५२१ एवं आगे.

दरिद्रता—को दूर करने के लिये प्रार्थना : १६०. १६–१७ ब्लूमफील्ड, अजफि. १७.४०८ एवं आगे

दशकुमारचरित,—में विवाह संस्कार एवं आभिचारिक क्रियाएँ आथर्वण रीति से मनाई गई हैं : ६३. २–३. दे० ऊपर कण्डिका २८; सेबुई० ४२. पृष्ठ ६८.

दानस्तुति,—ब्राह्मणों के लिये १५८. १७. द्र० वेबर, इस्तू० १० पृ० ५३; जिप्रएवि० १८९१ पृष्ठ ७७१; कण्डिका ६३ अन्त

दानस्तुतियां,—अवे० में नहीं मिलतीं १६०. ५–६ अवे० २०. १२७. १–३ को छोड़कर.

दिग्युक्ते,—सूक्त में साँपों से बचने की प्रार्थना है : १६८. ४–५, देखो 'सर्पाहुति' तैसं० ५. ५. १०, १–५; मैसं० २. १३. २१; आपमंब्रा० २. १७; वेबर, इस्तू० १७. २९१ एवं आगे.

दीक्षा,— = धियं क्षियति : २४३. ५; दीक्षित = धीक्षितः शब्रा० ३. २. २. ३०.

दीक्षा-कर्म—विरोधी के—का परिहार : २४३. १०; द्र० गोब्रा० २. २. ११, १५, २४. देखो संसव : ऐब्रा० १. ३. २१; विस्पृध्, वैतान सूत्र १६. ६; १७. ७; देखो गार्बे का नोट वैतान १६. ६ पर,

देव,—अवे० में ब्राह्मण अपने आपको देव कहते हैं : ७. १८–१९. दे० अवे० ५. ११. ११; ६. १३. १; ११४, १; ११. १. २३; १२. ३. ३८; ४. २३; १९. ६२. १; दे० त्सिमर पृ० २०५ एवं आगे; सेबुई०; ४२. इण्डेक्स, 'ब्रह्मन्–पुरोहित' पर.

देवताओं के पाप,—मनुष्यों की मुसीबतों में——के पापों का कम हाथ नहीं रहता : १०२. २२–२४. द्र० सेबुई०, ४२. ५९, ८२, २९३, ५२०, ५२१, ५८१, ६०४.

देवतानां परिषूतम्— = ब्रह्मचारी, २३६. २५. द्र० रॉथ, अवे० इन काश्मीर पृष्ठ २३.

द्वादशाह,—का पृष्ठचषडह एक भाग है : २०९. १७. देखो हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल-लितरात्यूर, पृ० १४८, १५५.

धर्मग्रन्थ—ग्रंथों में अवे० का नाम बारबार नहीं आता : ४६. २३–२४; विवरण : सेबुई० ४२. पृ० ४६. एवं आगे.

धूर्तकल्प = स्कन्दयाग—का सम्पादन गुडविन ने किया है : ३०. २७–२८. दे० जअओसो १५ पृष्ठ ५ एवं आगे.

नक्षत्र,—त्रों से अनुग्रह की आकांक्षा १७०. ७. नक्षत्रकल्प १० इनकी सूची सकलपाठेन देता है प्रतीक से नहीं. इससे सूचना मिलती है कि नक्षत्रकल्प के संकलन के समय ये मन्त्र शौनकीय संहिता में नहीं पैठ पाये थे।

नक्षत्रकल्प—अथर्व परिशिष्टों में प्रथम है : ३०. १४–१६. जअओसो० ११ पृष्ठ ३७८; कौसू० भू० पृ० १९. नक्षत्रकल्प एवं शान्तिकल्प का सार सायण ने अपनी भूमिका में दिया है : पृष्ठ २७ एवं आगे, वेबर, नक्षत्र २ पृ० ३९२ एवं आगे : कभी-कभी नक्षत्रकल्प को उसके प्रारम्भिक 'कृत्तिका रोहिणी' से सूचित किया गया है। वेबर, फेर्त्सा० २. पृ० ८९; में अवे० १९. ७–८ पुनरावृत्त हुए हैं ६७. २–५. विवरण : वेबर, इस्तू ४. ४३३ नोट २.

नमी और जल—ब्रह्मा ओम् के प्रथम वर्ण के साथ को देखता है : २३३. ४–५ द्र० बोहटलिङ्गक, वे को ज्ञा गे वि०, फेब्रुअरी, १८९६, पृ० १६.

नाराशंस साहित्य—अश्वमेध तथा पुरुषमेध दोनों ही साहित्य के अवं हैं : २११. ६–७ देखो वेबर, एपिश्शेस आदि पृ० ७७२ एवं आगे, ७७६ एवं आगे,

निदान सूत्र—अवे० का आदर के साथ उल्लेख करता है : ४५. १०. विवरण : इस्तू० १. ४३, ४५; १३. १४४, १४६.

नीतिशास्त्र—पुरोहित को अथर्ववेदी होना चाहिये, नीतिशास्त्र ऐसा बताते हैं : ६३. १-२. देखो देव को कौसू० १५. ७. ११ पर,

निर्ऋति—के लिये प्रलम्ब प्रायश्चित्त अपेक्षित है : १४९. २१. कौसू० १७ षवि ब्रा० ५. ३, अद्भुत ब्रा० १. ३; अद्भुत शान्ति अथर्व परि. ६७. ४ (वेबर, ओमिना उन्द पोर्तेन्ता पृ० ३१७. ३२०) शां श्रौ० ३. ६. निर्ऋति, की कल्पना का आधार १७७. १. द्र० निर्ऋति कर्माणि कौसू० १८.

निरुक्त-निघण्टु—कौतसव्य विरचित निरुक्त से सुतरां भिन्न प्रकार का ग्रन्थ है ३६. ५-६. दे० ब्लूमफील्ड, जअओसो० १५. पृ० ४८ एवं आगे,

न्यूनैकाक्षर पाद—२. ४. ६. को सुधार के बिना ही छोड़ देना उचित है : ८४. १७. देखो ह्विटनी, इण्डेक्स वेर्बोरुम पृ० ५.

पक्षहत—याज्ञिक विधानों में का उपचार बताया गया है : १२४. १५; जअओसो० १५. १६३ एवं आगे; सेबुई, ४२. ५०० एवं आगे;

पञ्चकला—पंचकलिपन्—का प्रयोग बाद में चला है : २१. १; सेबुई, ४२, पृ० २८.

पञ्चकल्पिन्—देखो पंचकल्प.

पञ्चकल्पिन्—अवेदीय कल्पों का प्रयोग करनेवाले कर्मकाण्डी पंचकल्प या पंचकल्पी कहाते हैं : ३०. ५;

पञ्चपटलिका—अनुक्रमणीके ढंग की पुस्तक है : ३६. ११ शंकर पण्डित द्वारा उद्धृत संदर्भों को देखो : अवे०, भाग १. पृ० १४-२३. दे० जअओसो. ११. ३७६; ने भी अवे० १९. २० काण्डों को नहीं माना है : ६७. १३-१४. विवरण : ह्विटनी, जअओसो. ७ ३३४, ५८१. शं० पं० का संस्करण, भाग १. क्रिटिकल नोटिस पृ० २४.

पतञ्जलि—की अवे के विषय में असाधारण धारणा ५४. ३-६. दे० अगला अध्याय, कण्डिका ३३

पतिवश्य—देखो 'स्त्रीवश्य'

पदपाठ—कुन्तापसूक्त का नहीं मिलता. २८. २२.

परिशिष्ट— अवे० १९, २२-२३ में संहिता के विषयों की सूची परिशिष्टों जैसी है : ६७. ५-७. यह सूची पूर्णरूपेण अथर्व परिशिष्ठ ४६ के उत्तम पटल के अन्त में आती है; दे० वेबर, इस्तू० ४३३. इस सूची में १९ वें काण्ड का उल्लेख नहीं है : ६७. ६; 'ब्रह्मणे स्वाहा' जिसे वेबर १९ वें काण्ड का खयाल करते हैं, दोनों ही सूचियों के अन्त में आता है : १०. २०. २०. २३. २१. इसमें ब्रह्म = प्रार्थना की ओर निर्देश है.

पर्वन्—श० ब्रा० १३. ४. ३. ७-८ एक ओर अथर्वाणः और दूसरी ओर अङ्गिरसः अंशों के उच्चारण के सम्बन्ध में पर्वन् का प्रयोग करता है : ६८. १३-१५; इससे भिन्न मत : वेबर इस्तू १. २९५; २. ३९६; ४. ४३४; ५. २२. ७७; सिप्रएवि. १८९१, पृ० ७७० नोट १ सेबुई. ४२. पृ० २१.

पशु—को मृत्यु से छुड़ाया जाता है : १७६. ११ रॉथ, आवहाण्डलुङ्ग पृ० १४; वेबर, इंस्तू० १३.

२०७; लुडविग देर ऋग्वेद, ३. ४३३. देखो ऐसा ही सूक्त अवे पै० = वैतान १०. १७ (गोब्रा० १. १. १२).

पशुबलि—पशु की राय से दी जानी चाहिए : १७६. १०. द्र० कण्ट्रिब्यूशन्स, सिक्स्थ सीरीज़, त्सादामौगे ४८. ५५६.

पाद-सूची—ब्लूमफीड ने समग्र वेदों की पादसूची प्रस्तुत की है : ८७. १०; द्र० जअओसो १७३ एवं आगे.

पापवर्ग—की ओर संकेत अवे के काल का सूचक है. ९. ५–६. दे० ब्लूमफील्ड, कण्ट्रिब्यूशन्स, सेवन्थ सीरीज़, अजझि. १७. ४३० एवं आगे; जॉली, पृ० ११६.

पुनःसंकलन—अवे० ४३–४७ के क्रम में शङ्का उठती है : ८५. १५–१६. दे० सेबुई० ४२ पृ० ६६०

पुरुषमेध—में अब्राह्मणीय कृत्य : २१०. १४. देखो वेबर, राजसूय, आप्रएवि० १८९३, पृष्ठ ४, ६७; हिलेब्राण्ड्ट, फेस्टग्रूस आन ओहो फोन बोहटलिङ्क, पृष्ठ १४० एवं आगे, रितुआल लितरोत्यूर, पृ० १४९ एवं आगे

पुरुषसूक्त—अवे० १९. ६ = ऋवे० १०. ९० : १८१. २३ एवं आगे; डायसन, पृ० १५०

पुरोहित—उचित ढंग से कुशल हर व्यक्ति पुरोहित बन सकता है : ६०. १४–१५. विवरण : वेबर, इस्तू० १०. ३४, ३५, १३७; लोग आथर्वण अनुष्ठानों में व्यग्र रहते हैं : ६२. ८–९

पुरोहिति—अवे० की खुले आम प्रशंसा करता है : १६०. १–२ द्र० ऋवे० १. १२५. ४–७ और ८. ३१.

पुष्टिकर्माणि—पौष्टिकानि कर्माणि १६५. ३. द्र० हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, पृ० १६९,

पूगयज्ञिय—तिरस्कारसूचक विशेषण : १५२. ७ द्र० ऊपर कण्डिका २७; सेबुई. ४२. पृ० ४० नोट ५१.

पृथ्वी—का मनुष्यों, पशुओं तथा वनस्पतियों के साथ सम्बन्ध आख्यानात्मक एवं रहस्यात्मक विचारों के ऊपर हावी होकर मुखरित हो उठा है : १८७. ७–१० लुडविग, देर ऋग्वेद ३. ५४४ ३. एवं आगे; सेबुई, ४२. १९९, ६३९; हेनरी, ले हिम्ने रोहितास १७९, २१५ एवं आगे

पैठीनसि—अथर्ववेदी है या नहीं यह प्रश्न ब्लूमफील्ड ने उठाया था : ३१. १२–१३. दे० जअओसो ११. ३७६; कौसूभू. पृ० २२. एवं आगे; कालण्ड, आहननकुल्त, पृ० ९९, १०९ एवं आगे; अथर्ववेदी है. ३१. १४. जाली, गि रेख्त उन्द जित्ते, पृ० १२ एवं आगे. अथर्ववेदी है, ३१. १३; मिशल गोगे आ. १८९१, २८३; अथर्ववेदी है. ३१. १४, हिल्लेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, पृ० ३६; एक आथर्वण लेखक थे. ३१. १७; दे० कालण्ड, आहननकुल्त ९५, १०७ एवं आगे; एक पैठीनसि कौसू० पर आधृत एक छन्दोबद्ध संकलन के रचयिता थे : ३१, २१–२३; दे० कौसू० भू० पृ० १७ एवं आगे

पैप्पलाद—आदि नाम उपनिषदों से पहले नहीं मिलते २२. ७–९; दे० जैकब का कंकोर्डेन्स, पिप्पलाद और पैप्पलाद पर; का आथर्वण साहित्य से आम सम्बन्ध है : २६. २८–२९. उदाहरणार्थ प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलादि आचार्य का जिक्र आता है, दे० ह्विटनी, इण्डेक्स वेर्बोरुम पृ० २. नोट. के पाठों को सायण अपनी अवे० की टीका में यदा-तदा देते हैं : २७. १५–१६–; ह्विटनी, फेस्टग्रुस आन राथ, पृ० ९२. पैप्पलाद अवे ११. २ का पाठ काठक

की एक ऋत्चक में मिलता है : २७. १४–१५; दे० फॉन श्रोदर, दी ब्युविङ्कर कठहान्द–श्रिफ्तन, पृ० १४ एवं आगे एस डब्ल्यू ए डब्ल्यू. १८९४, भाग १३७. खण्ड ४. इस्तू० १८. ४१७. अवे० परिशिष्ट के कुछ मन्त्र गोब्रा. में भी आते हैं : दे० रॉथ, अवे इन काश्मीर पृ० २३. में कुन्ताप सूक्त समेत २० वां काण्ड नहीं है. २८. ३–४. दे० ह्विटनी, इण्डैक्स वेर्बोरुम पृ० २. अथर्व का अष्टमांश मौलिक है : २८. १५–१७; दे० रॉथ अवे० इन काश्मीर पृ० १५–२० में भी शौनकीय की न्याई २० काण्ड हैं : ६६७; दोनों के सामानान्तर्य के लिए देखो रॉथ, देर अवे० इन काश्मीर, पृ० १५ एवं आगे; शौनकीय अवे० के १९ वें काण्ड से लिया गया है : ६७. १–२; विवरणः रॉथ, देर अवे० इन काश्मीर पृ० १८. अवे १९. ५६–५८ तो साफ तौर से 'पैप्पलादमन्त्राः' कहाते हैं : अपरिशिष्ट ८.२.

पैप्लादामन्त्राः—का सम्पादन ब्लूमफील्ड ने किया है : ३०. २६; दे० अजझि ७. पृ० ४८५ एवं आगे.

प्रणवउपनिषद्—अवे की श्रेष्ठता को स्वीकार करती है : ४३. ९–१०; दे० इस्तू० १. २९६; ९. ५१.

प्रतिप्राश्—प्रतिस्पर्धा को जीतने के लिए पाटा के ताबीज का प्रयोग, १५१. १४–१६. द्र० सेवन हिम्स, अजझि ७. ४७९ एवं आगे· सेबुई. ४२. १३७, ३०४ एवं आगे

प्रतोद—उष्णीष एवं विपथ शब्दों का अथर्ववेद १५–२ एवं पंचविंश ब्राह्मण १७. १. १४ में आना और उनका प्रभाव १९६. २–४. देखो आफेख्त, इस्तू० १. १३८. वेबर, इस्तू० १. ३३, ५२, ४४५ नोट; वेबर, इन्दिश्शे लितरात्यूर गेशिश्त. ७३, ८५, १२२–४; १६३, १९६; हिलेब्राण्डट, रितुआल लितरात्यूर, १४०, १६८, १७९.

प्रत्यभिचरण—प्रत्याङ्गिरस, दे० आङ्गिरस = आभिचारिक : १३५. २२–२४. द्र० अवे० २ ११ १; कौसू० सूचो बी० 'कृत्याप्रतिहरणानि' पर (द्र० अवे० ५. १४.) प्रतिसर और प्रतीवर्त के लिये दे० सेबुई. ४२. ५७६; वेबर, जिप्रएहि० १८९३ पृ० १८; प्रत्याङ्गिरस के लिए दे० सेबुई. ४२ पृ० १९.

प्रनउ उपनिषद्—फारसी उपनिखत् संग्रह में 'प्रनउ' का नम्बर ४८ है : २३२. १५ द्र० मैक्स-म्युलर, सेबुई० १. पृ० ५७ एवं आगे.

प्रवल्हिका—अवे० २०. १३३. देखो अश्वमेध के संवत्सर-प्रवल्ह को : आश्रौसू० १०. ५. ७; शांश्रौसू० १६. २६. ४ और ऋवे. ८. २९ पहेली-सूक्त को जिसका नाम मनु-प्रवल्ह है.

प्रश्नोपनिषद्—पैप्पलाद शाखा की है २२. २३; कोलब्रुक, एसेज १. २ पृ० १३; डायसन, जेख्त्सिग उपनिषद्स, पृ० ५३१, ५५९. अपने अन्त में बताती है : पिप्पलादाथर्वणे शाखायाम्, ३४. १९, दे० कौसू० भू० पृ० ३३; में केवल एक ही अंश ऐसा है जो अथर्वन् का ब्रह्म के साथ साम्य उपस्थित करता है, ४३. ११–१२. दे० सेबुई, ४२ पृ० ४२ नोट २.

प्राक्—उचित आचार : अवे० २०. १२८. १; मिशल, वैस्तू० १. ३०२; ब्लूमफील्ड, जअओसो. १९. १८

प्रागैतिहासिक—वे प्रयोग जो अवे० को बाद में बना सिद्ध करते हैं वस्तुतः प्रागैतिहासिक हैं : ९४. १ : ह्वयामि = अवे० झबयेमि० उकारान्त ह्यक्षर धातुओं के लिए देखो ब्लूमफील्ड, जअओसो. १६ पृ० १५८ एवं आगे बेबाइ, २३ १०७ एवं आगे; पन्थानम् = अवे०/ पन्तानेम्;

सर्व = अवे हउर्वे; रज्जु = लिथु० रेझ्गु० द्र० हिलेब्राण्ड्ट गोगेभा० १८८९. पृ० ४०१; ब्लूमफील्ड, जअओसो १७ पृ० १७५. नोट ५.

प्रायश्चित्त—अवे० ६. ११०–१२१ प्रायश्चित्त सूक्त हैं : ७५. ४. देखो. १९. २६–३९ भी; संबंधी मन्त्र संहिताओं में आम हैं : १७३. ६–७ द्र० ऋवे० ७. ८९. ५. १०. १६४. ३; वासं० २०. १४–१६; तैसं० ३. ३ ८. १; मैसं० ४. १४. १७; तैब्रा० २. ४. ४५. कूष्माण्ड होममन्त्राः तैआ० २. ३–६. कूष्माण्डों का प्रयोग धर्मशास्त्रो में उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है : विष्णुधर्मशा० ८६. २२; गौतमधर्म १९. १२; बौधाधर्म० ३. १०. १०; मनु० ८. १०६; या स० ३. ३०४ लघु-अत्रि धर्म २. ४. वृद्ध-अत्रि-धर्म ३. ११; वृद्ध-हारीतध. ८. २७० द्र० मानवगृह्य. २. १४–२७. अद्‌भुत के लिए; इससे सम्बद्ध सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है कौसू० का १३ वां काण्ड और अद्‌भुत ब्राह्मण : १३३. १३–१५. द्र० वेबर, ओमिना उन्द पोर्तेन्ता आप्रएवि० १८५९; हेटफील्ड, औशनसाद्‌भुतानि, जअओसो १५. २०७ एवं आगे; हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर पृ० १८२—से सम्बन्ध है अवे० के ४० से भी अधिक सूक्तों का० १७३. १६ एवं आगे; सेबुई. ४२, १६३–६४; लुडविग, देक ऋग्वेद ३. ४४२ एवं आगे; गोब्रा० में कुछ शब्द ऐसे हैं जो अन्यत्र नहीं मिलते : २४२. १–२; गवीज = वह गौ जो अग्निहोत्र के लिये दूध देती है (वैतानसूत्र ७. २) समुद्वान्त = उबला हुआ (वैतानसूत्र ७. ३) अद्भिः प्रत्यानी—'पानी मिलाना' (वैतानसूत्र ७. ३) पित्र्युपवीत शब्द भी आथर्वणिक हैं : कौशिक ८७. २६; वैतान ७. १५).

प्रायश्चित्त या प्रायश्चित्तिः— = संशोधन या मार्जन : १७३. ४–५. स्टेन्त्सलर, ऑनदि हिन्दू डाक्ट्रिन ऑफ ऐक्पियेशन, प्रो० सेकण्ड इष्टरनेवानल कांग्रेस ऑफ ओरियण्टलिस्ट्स पृ० २२ एवं आगे; वर्नल सामविधान ब्राह्मण पृ० २० हार्डी, वैदिश्श ब्राह्मणिश्शे पीर्योद पृ० १८९; ओल्डेन वर्ग, रिलिजन देस वेद पृ० २८७ एवं आगे, ३१७ एवं आगे; कोनो, सामविधान ब्राह्मण पृ० ४. जॉली, रेख्त उन्द जित्ते पृ० ११५ एवं आगे; हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूक, पृ० १६६.

प्रायश्चित्ताध्याय—अप्रकाशित २४२. ५; द्र० सेबुई० ४२, पृ० ७१, नोट १.

प्रेमाभिचार– अवे १ ३४. के प्रथम ४ मन्त्र प्रेमाभिचार में बदल जाते हैं ; ७०. १–३. दे० सेबुई ४२. २७४ एवं आगे.

फुफ्फुस-सन्बन्धी रोग— = यक्ष्मा, राजयक्ष्मा, अज्ञातयक्ष्म को अवे० ६. १०५, ७ १०७. में कीला गया है : १२४. ७–९. द्र० वाइज़ पृ० २१०, ३२१ एवं आगे; ग्रोहमान, इस्तू० ९. ४००; त्सिमर, पृ० ३७६ एवं आगे.

बएषज– बएषज्य शब्द भेषज एवं भैषज्य की प्राचीनता के संकेतक हैं : १२०. २२–२५. द्र० वेन्द, २०–२२. (विशेषतः २०. ४; सेबुई०, ५. २२१ नोट). श्पीगल, दि अरिश्शे पोर्योंद पृ० ९७, १५५, १७०, २०४; गाइगर, सिविलाइझेशन आफ दि ईस्टर्न आरेनियन्स पृ० २१५ एवं आगे; आगे; अवे० पामन् = वै० पामन् भारेरानी काल की बीमारियों में सामान्तर्य का विरल उदाहरण है ।

बलास—का उपचार अवे० ६. १४ में विहित है : १२४. ७. द्र० सेबुई० ४२. ४५० से स्पष्ट हो जाता है कि पुस्तकों में बलास का रूप स्पष्ट नहीं किया गया है।

बृहत्सर्वानुक्रमणी—के कथन असत्य हैं. ३६. ८–९. दे० वेबर, फेत्सी० २. ७९ एवं आगे; इस्तू० १७ १७७ एवं आगे; १८. १ एवं आगे, शंकर पंडित का अवे० के भाग के पृ० १७ एवं आगे पर नोट; अवे के त्रुटिपूर्ण छन्दों पर सिर खपाती है ; ७९. १३

बृहन्नारायण उपनिषद्—तैआ० १० : ३१, ३३;

ब्रह्म—आथर्वन् को १० अथर्वण ऋषियों में और १० आथर्वण आर्षेयों में विभक्त कर देते हैं : २३०. २६–२७. देखो अवे० १९. २२ एवं २३ और ३५.

ब्रह्म और आत्मा का ज्ञान—जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है : १८३. ३. द्र० डायसन, पृ० ३१० एवं आगे

ब्रह्मगवी—अवे ५. १८ और १९ कौसू० ४८. १३ एवं आगे.

ब्रह्मणः—परिमार ६२. १७. दे० अवे ३. १९; कौसू० १४. २२–२३; ऋवे० ४. ५०. ७–९.

ब्रह्मन्—का निरूपण करने वाले सूक्त अवे० में बहुत अधिक हैं : ६१. १३–१०. दे० मन्त्र गोब्रा० १. १. ९; सायण, अवे० भू० पृ० ४; विष्णुपुराण ६. ५. पुरोहित और ब्रह्मन् का मौलिक सम्बन्धः ६३. ९–१०; दे० ऋवे० ४. ५०. ७ जहाँ पुरोहित को बृहस्पति बनाया गया है, अर्थात् दैवी ब्रह्मन् , विवरण : सेबुई० ४२ पृ० ४८. नोट ३.

ब्रह्मन् शिष्य—के रूप में सूर्य की प्रशंसा : २३६. ४–५. द्र० सेबुई० ४२. पृ० २१४. ६२६ एवं आगे.

ब्रह्मवद्—में कौशिक सूत्र प्रचलित था. २४. २८; सायण, भूमिका पृ० २५; और केशव एवं अथर्व-पद्धति की भूमिकाएँ, शब्द का संकेत श्रौत अनुष्ठानों के समय आथर्वण कर्मकांडियों ब्रह्मा की ओर हो सकता है : २५ २०–२२; दे० खण्ड ३३.

ब्रह्मविद्या—गारुड उपनिषद् में सर्पदंश के अभिचार को ब्रह्मविद्या बताया है : १२६ १२–१४. द्र० जेकब, इलेवज आथर्वण उपनिषद्स पृ० ४३–४४; वेबर, इस्तू० १७ १६१ एवं आगे; डायसन, ज़ेख़्त्सिग उपनिषद्स पृ० ६२७ एवं आगे

ब्रह्मवेद—आथर्वण उपनिषदों में ब्रह्मवेद नाम का अभाव है : २०. १–२; दे० सेबुई, ४२ पृ० २८ नोट; उदात्त आध्यात्मिक तत्त्वों के आधार पर अथर्ववेद का नाम पड़ा था : १५२. ११–१३. देखो ऊपर कण्डिका ३३; सेबुई ४२ पृ० २७. ५२ एवं आगे

ब्रह्मात्वो वदति जानविद्याम्—इसमें अवे के ब्रह्मा अभिप्रेत हैं : ५९. २०; विवरणः सेबुई पृ० ५४ नोट।

ब्रह्मा प्रजापति—से अवेदीय ब्रह्मा का सम्बन्ध : अवे० ७. २ ; १८४. २ एवं आगे० द्र० गोब्रा० १. १. ४ एवं आगे : मुण्डक उप० १. १ २; न्यास उप० १.

ब्रह्मोपनिषद्—सब विवरणों में इसका नाम आता है. २३. २–३. कौसू. भूमिका पृ० ३३.

ब्रह्मौदन— =ब्राह्मण के लिए पकाया मन्थ, १८०. १५ एवं आगे द्र० तैब्रा० १. १. ९. १; मैसं० २. १. १२; अदिति ने का अवशेष खाकर आदित्यों को जन्म दिया था : २३८. ५–७. द्र० तैसं० ६. ५. ६. १; मैसं० २. १. १२; तैब्रा० १. १. ९. १.

ब्राह्मण—णों का दावा और उनका महत्त्व अवे० में चरम सीमा पर पहुँच गया है : १५८. २–३. द्र० सेबुई०, ४२. १६९–१९८; वेबर, इस्टू० १० १ एवं आगे; लुडविग, देर ऋग्वेद ३. २६४ एवं आगे; त्सिमर, १६८ एवं आगे में अपने लिए 'देव' शब्द का प्रयोग करते हैं : १५८. ७. द्र० अवे० ३. ३. २६; ६. १३. १; ५८. २; ११. १. २३; १२. ३. ५८; वेबर, इस्टू० १० ३५ एवं आगे.

ब्लूमफील्ड—ने अवे की क्रियाविधि पर विशद विचार किया है : ७२ २२. दे० कौसू० भू० पृ० ४१

भद्र - ने कौशिक पर टीका लिखी थी : २९. ६. दे० जअओसो ११. पृ० ३७६; कौसू० भूमिका, पृ० १५ और १७

भरद्वाज का भेदक—शत्रुओं के प्रति एक अभिचार है : १४०. ६–९ द्र० कण्ट्रिब्यूशन्स, सेकण्ड सीरीज, अजझि ११. ३३० एवं आगे; सेबुई. ४२. ८९. २४४. एवं आगे.

भूतविद्या—आथर्वण विद्या में प्रवेश कर जाती है : १२८. ६. द्र० सुश्रुत १ ८९. १९. दैवबल प्रवृत्ता ये देवद्रोहाद् अभिशस्त का अथर्व कृता उपसर्ग कृताश्च (व्याधयः)

भूरा सोम—१६० १४. सेबुई, ४२. १७२, ४२३ एवं आगे ब्लूमफील्ड, अजझि. १७. ४११, ओल्डनवर्ग, त्सादामौगे ५०. ४२३ एवं आगे अवे० ७. ५७ भी दक्षिणा प्राप्ति के लिए प्रतीत होता है।

भूली सम्पत्ति—अवे० ७. ९ को पाने के लिये है : १६८. ९–१०, ऋग्वेद १०. १७–६ और ६. ५४. ९, १०.

भृगु—का प्रयोग अथर्वन् के साथ; बाद में दोनों पर्याय बन गये १९. १०–१५; दे० सेबुई ४२ पृ० २७ पर उद्धृत सन्दर्भ.

भृग्वङ्गिरस्— भृग्वङ्गिरोविद् शब्द से अथर्वन् शब्द पर आधृत अभिधानों के बहिष्कार की सूचना मिलती है : १८. २५–२६; दे० कौसू० ६३. ३; ९४. ३, ४. (दे० १३७. २५; १३९ ६); वैसू० १. ५; गोब्रा० १. २८, ३९; २. ९, १८ (अन्त) ३. १, २, ४. परिशिष्टों एवं अनुक्रमणी को यह पद ज्ञात है; दे० वेबर, ओमिना उन्द पोर्तेन्ता पृ० ४३६ एवं आगे; सेबुई, ४२. पृ० २६ एवं आगे

भृग्वङ्गिरोविद्—दे० नोट भृग्वङ्गिरस् पर.

भेषजम्—अथर्ववेद का पक्ष भी निन्दा से अछूता नहीं रह पाया है : ४०. १०. उदाहरणार्थः तैसं० ६. ४. ९ ३; मैसं० ४. ६. २; शब्रा० ४. १. ५. १४.

भेषज—प्रायश्चित्त के क्षेत्र में आ जाता है; १७६. २०–२४; दे० कौसू० ३१. १ पर दारिल को,

भेषजी—ओषधि तक ही सीमित न रह कर भूतप्रेत निःसारण के लिए भी प्रयुक्त हुआ है; १२० ४–७ इस लक्षण का सम्बन्ध अथर्ववेद के दो विभागों के साथ है : आथर्वण शब्द, भेषज और आङ्गिरस (=घोर, आभिचारिक)। द्र० सेबुई ४२. पृ० १८; हिलेब्राण्ट रितुआल लितरात्यूर पृ० १६९. १७७ भले और बुरे जादू का विवेक सदा रहा है : महाभारत में, द्र० हाप्किन्स, जअओसो १३. ३१२, ३६५। इसके साथ ही कर्मकाण्ड भी तीन विभागों में है : आभिचारिक, शान्तिक और पौष्टिक। देखो मधुसूदन सरस्वती, इस्टू० १. १६,

ब्लूमफील्ड, सेवन हिम्स, अजझि ७. ४७७; हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर पृ० १६९. द्र० ऋग्विधान १. १. ३, और मेयर, भूमिका पृ० १२.

भैषज्य—यौगिक भैषज्य शब्द ऋग्वेद और अवे में नहीं मिलता : १२०. ९–११. द्र० हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, १८१; मेयर, ऋग्विधान, भूमिका पृ० १३.

भ्रूणरक्षा—१४८. १–३. प्रसक्त सूक्त 'गर्भदृहणानि' कहाते हैं : कौसू० ३५. १२. अच्युतता प्रतीक वाले को (कौसू० ९४. २) चारिल शाखान्तर का बताता है : हो सकता है कि यह अवे पैप्प. का हो। द्र० शांगृ० १ २१; आगृ० १. १३. १.

मगध—अङ्ग तथा मगध का उल्लेख पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व में भारत के विस्तार को सूचित करते हैं, ८. १–२. दे० त्सिमर, पृ० ५, २०, ३१; वरणावती की व्याख्या संदिग्ध है : सेबुई. ४२. पृ० ३७६.

मण्डूक—अवे० ७. ११६. २ में शीतल मेढक की ओर संकेत आया तै० : १२३. ३–४. द्र० वेबर, इस्तु० ४. ११९; ग्रोहमान, इस्तु० ९. ३८१ एवं आगे; हार्डी, दि वैदिश्श ब्रह्मनिम्श पोर्योद पृ० १९८. ब्लूमफील्ड, सेबुई० ४२. पृ० ४४१ एवं आगे, ५६५ एवं आगे; द्र० वाइज, पृ० २१९ एवं आगे; द्वारा एक किया अवे० ६. १०६ में के जाती है : १६५. २३; ब्लूमफील्ड, कण्ट्रिब्यूशन्स, सेकण्ड सीरीज़, अजझि ११. ३४२ एवं आगे; सेबुई, ४२. १४७, ५१४ एवं आगे.

मन्त्र—मन्त्रों का प्रयोग गृह्यसूत्रों में अवे० मौलिक प्रयोजन को छोड़ कर दूसरे प्रयोजन के लिये हुआ है : ११. १. दे० ई० डब्ल्यू फे, जोहन होपकिन्स यूनिवर्सिटी सर्क्युलर्स, मई १८९० भा० ९. ७४; सेबुई, ४२. पृ० ४३ एवं आगे; पैप्पलाद शाखा के—२२. ११–१२. दे० रॉथ अवे इन काश्मीर पृ० १२; मन्त्र छपे हैं : ब्लूमफील्ड, सेवन हिम्स ऑफ दि अवे अजझि ७. ४८३–७

मन्त्रविन्यास—मन्त्रों की संख्या के अनुसार भी विभिन्न काण्डों में—अनियमित रूप से हुआ है : ८५. २–३. देखो कण्डिका ३७.

मन्य + स्कन्ध— = मैन्स्कुन्दर = गण्डभाल वाइज, मेडिसिन : १२१. १५–१७. द्र० अजझि. ७ ४६७ एवं आगे; ११. ३२० एवं आगे.

मन्युशमन—अवे ४. ३१–३२ = ऋवे० १०. ८४.८३ का शत्रुओं के दमन के लिये हैं : १५०. १६–१७. युद्धाभिचार के रूप में भी प्रयुक्त हैं : कण्डिका ५५ अन्त .

महाव्रत—दिन ' २४४. १३; द्र० हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, पृष्ठ १५७.

मातव एवं पशु शरीर रचना—अवे विकसित हो चुकी है : ८. १०–११; दे० ९. ६ और ७; १०. २ आदि.

मार—गोपथ ब्राह्मण १. १. २८ के दोषयति को देखकर 'मार दूषिन्' याद आ जाता है : २२६. ९. विण्डिश, बुद्ध उन्द मार, पृ० १५१. तु० आसुर पाप्मन् की नृसिंहोत्तरोपनिषद ६ में।

मिश्रितसूक्त—जैसे कि ४. ३८; ७. ७६० : ८५, ९–१०. विवरण: कौसू० भू० पृ० ४१ एवं आगे; देखों कण्डिका ३६.

मुग्धा—वृथा ही''' १४०. २१ हेनरी मुग्धा की जगह मूर्च्छा पढ़ते हैं जो वृथा है (लिब्रे ७. पृ० २. ४९).

मूर्तिमान् मृत्यु—अवे ६. १३ में—से प्रार्थना है : १७१. १७–१९ युद्धाभिचार के साथ निकट-संबद्ध द्र० कौसू० १४. २५; १५. ६.

मृग—गुरु-अजगर-सूकर-जल-कुमारी-वृक्ष-वनस्पति—के साथ मन के सात वेगों का संबन्ध : २३६. ८–१०.

मृगार—अथवा मृगारसूक्त, इन सूक्तों का संग्रह पापनाश के लिये किया गया था : १७१. १. कौसू० ९. १. २७. ३४; ३२. २७ मृशार की व्युत्पत्ति √मृज् 'शुद्धौ' से संभव है ? देखो 'मृगारव्रत' केशव कौसू० ४२. १२ पर अथर्वपद्धति कौसू ५७. ३२ पर.

मृगारेठिर—का ही विस्तार मृगार सूक्त हैं : १७१. २. तैसं० ४. ७. १५; मैसं० ३. १६. ५; इस्तू० ३. ३९५.

मेदिनीकोश—में अवे का नाम आता है। ५४. १६; वोबृ० अथर्वन् पर

मौद—मौदायन, दोनों पाठान्तरों के साथ मिलते हैं : २३. १५; कौसू० भूमिका ३४.

मौद—दे० जलद ५७. २३–२४

यज्ञक्रम—गौतमधर्मसूत्र में : २४६. १४. द्र० वेबर, इस्तू० १०. ३२६; मैक्स म्युलर, त्सादामौगे० ९ पृष्ठ ७३; सेबुई० ३०. ३५७ एवं आगे

यज्ञप्रायश्चित्तसूत्र—वैतायन०—में ६ अध्याय हैं : २९. १२; दे० गार्बे, वैसू० भू० पृ० ५. वेबर, फेर्सा० २. पृ० ८३; बारमफील्ड, अजफि० १८. ३५२

यज्ञसंबन्धी—त्रुटियों के लिये प्रायश्चित्त : १७३. ७. देखो हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर.

यदि—दीक्षितोऽवकिरेत् , अवे १४. २९. ३. का अवकीर्णी के लिये विधान १७५. १५–१६. दे० पागृ ३. १२.

यद्याम निरवनन्तः—अभिचार करते-करते थके व्यक्ति का मनस्ताप है : १७४. १९. पद पाठ का यद् यामं' अशुद्ध है। दे० ५. ३१. १ और सेबुई ४२. ४५७.

याज्ञिक परंपरा—कुछ स्थलों पर याज्ञिक परंपरा अथर्व-संहिता से ऊपर उठ जाती है, और या तो वह उसके पीछे पहुंच जाती है अथवा अधिक अच्छी सूचनाएँ देकर उसमें सुधार करती है : १८९. १४–१६. जअओसो १५. पृ० ५ नोट.

याज्ञिक प्रायश्चित्त—अथर्ववेद की शाखाओं में महत्त्वपूर्ण बन गये थे; १७४. ५; द्र० गार्बे, वैतान, उपोद्घात पृ० ; वेबर ५ फेर्सा० २. ८३; कौसू० भू० पृ० ३३. यह अप्रकाशित अध्याय संभवतः वैतायन कहाने वाले यज्ञप्रायश्चित्तसूत्र से अभिन्न हैं : एगलिङ्ग कैटलाग ३६७; हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, पृ० ३६ नोट।

यातुविद्या—३९. १०–१३, उदाहरणार्थ : 'मैं ऐसा गढ़ा खोदता हूँ जो राक्षसों को नष्ट कर देगा' तैसं० १. ३. २. १; मैसं० १. २. १०; वा सं० ५. २३; श ब्रा० ३ ५. ४. ८.

यात्रा से सुरक्षित लौटना—अवे ५. ६. का इससे संबन्ध है : १६७. १३. कौसू० १५. १२; १८: २७. इस सूक्त का आपश्रौ, १६. १८. के साथ निकट संबन्ध है।

युद्धाभिचार—अवे० १. २ फलतः युद्धाभिचार है : १२३. २०–२१ सेबुई० ४२. (द्र० अजिफ० ७. ४६७).

रक्त-प्रस्राव—का अभिचार अवे० १. ११७ में बताया गया है : १२६. २–४. इनमें से अर्थ मन्त्र यास्क के निरुक्त ३. ४. में आता है.

रहस्यग्रन्थ—३१. ६. इस प्रकार के सामान्य ग्रन्थों की सूची के लिये देखो जअओसो ११. पृ० १७१. और ओफ्रेख्त का कैटलागस कैटलागोरम० अथर्व तर्पण संभवतः अथर्वपरिशिष्ठ ४३ ही होगा.

राजा—से संपत्ति के लिये प्रार्थना १७०. ४–६. द्र० कौसू० १–२९, ३०; गोब्रा० २. १. १०.

राजकर्माणि—के लिये विभिन्न प्रकार के कौशल की आवश्यकता पड़ती होगी; ६३. ३०; दे० आगे कण्डिका ५५.

रुशम—अथर्ववेद २०. १२७. १–३ नाराशंस्या हैं; इनमें रुशमों के राजकुमार कौरम की प्रशंसा में दानस्तुति है; २०२. २–४. देखो त्सिम्यर, आले० १२९, २५९.

रोहित—क्रोधित देवता जो ब्राह्मणों को सताने वाले लोगों को दण्ड देता है: १७९. १८–२० देखो ऊपर कण्डिका ५६; डायसन, पृ० २१६; रोहिणी = राजा–रानी: १७९. २२–२४. ब्लूमफील्ड, कण्ट्रिब्यूशन्स. फोर्थ सीरीज़, अजफि० १२. ४३० एवं आगे; रोहित = सूर्य संसार का निर्माता एवं संचालक है: अवे० १३. तै०ब्रा० २.. ५. २. १–८. १८४. १८ एवं आगे. म्यूक,ओसटै. ५. ३९५; हेनरी, ले हिम्नेरोहितड; ब्लूमफील्ड, अजफि १२. ४२९ एवं आगे; डायसन, पृ० २१२ एवं आगे; सूर्यदेव के प्रति अथर्ववेद के काण्ड १३ में ४ लम्बे सूक्त हैं; १९४. १२–१४; देखो म्यूर, ओसंटै० ५. ३९५; हेनरी, ले हिम्ने रोहितास; ब्लूमफील्ड, अजफि० १२. पृ० ३११ एवं आगे; डायसन, आलगेमाइने गेशिश्त, देर फिलोसोफी, वा १. भाग १, पृ० २०९ एवं आगे।

रोहिणी—सूर्या, उषस् का भी रोहित सूक्तों में जिक्र आता है: १९४. १५; ज अ ओ सो० १५. १८६; अजफि० १२. ४३०.

वद—विश्ववद और विदुत् नामों में विदेशी धर्मग्रन्थों के प्रति घृणा का भाग निहित है: १५. ११–१२; विलसन, रिनोस मेमोअर स्यूर लू इन्द में पृ० ३९४; वेबर, इस्टू० १. २९१ एवं आगे. प्रस्तुत ग्रन्थ का खण्ड ५२. नो० ३.

वधूचयन—दुर्लक्षणा स्त्री को नहीं ब्याहना चाहिये: १४६. १८–२०. द्र० आगृ० १. ५; शोगृ० १. ५. ५; कौसू० ३७–५; गोगृ० २. १. १; आपगृ० १. ३. ११. हिरगृ० १. १९. ४; गृह्य संग्रह २. २१–२३ (दारा लक्षण); मनु० ३. ४; याज्ञ० १. ५२; हास० इस्तू, ५. २८८; ब्लूमफील्ड, त्सादा मौगे, ३५. ५७३; विन्तरनित्स, आविवी० १८९२. ११. ३३ एवं आगे; हिले ब्राण्ड्ट, रितु आल लितरात्यूक पृ० ६४.

वरणावती—७. २६. की व्याख्या संदिग्ध है: सेबुई, ४२. पृ० ३७६.

वरुण—ब्राह्मण की गौ को लौटा लेना चाहते हैं: १६०. २१. द्र० रॉथ, आबहाण्डलुङ्ग, पृ० १. म्यूर, ओसंटै० १२. ३९५; देखो अवे० ७. १०४.

वर्चस्य—अवे ९. १. वर्चस्य के लिये है: १८७. १५. द्र० हेनरी, ले लिब्रे ८. और ९. पृ० ८१, ११५ एवं आगे; सेबुई० ४२. २०९, ५८७ एवं आगे।

वर्षा विचार—अवे० ४. १५ का के साथ संबन्ध है: १६६. १३–१४. हिले ब्राण्ड्ट, गोगे आ० १८८९. पृ० ४०६; ब्लूमफील्ड, ज अ ओ सो १७. १७३ एवं आगे; द्र० ऋवे० ७. १०१–१०५; १५०; १०. ९८ और पर्जन्य के सामान्यतया सारे ही सूक्त.

वसिष्ठ—और अथर्ववेद में मौलिक संबन्ध नहीं है : ६०. १५; विवरण : सेबुई ४३. पृ० ५५ नोट १; ६५. नो. ३. रोथ, आबृहाण्डलुङ्ग, पृ० ९; म्यूर, ओसंटै १. ३९५.

वाचस्पति—'स्वर तथा अक्षर की शक्ति मुझे दें' १६४. ११–१२. द्र० ह्विटनी, फेस्टग्रुस आन रॉथ पृ० ९४; कौसू० सूची बी० पृ० ३८५. विश्वकर्मा के नीचे.

वाजपेय—१६७. ८. वेबर, जिप्रएवि० १८९२, पृ० ७८८; ब्लूमफील्ड, सेबुई, ४२. पृ० ५०८.

विशिनोऽङ्गिरसः—महाभाष्य, ५३. २१–२२. दे० तै० सं० ७. ५. ११. २ = कासं अश्वमेध ग्रन्थ, पतञ्जलि पा० ५. २. ३७. पर का उल्लेख करते हैं; इससे शौनकीय अथर्ववेद में २० काण्डों की सूचना मिलती है : ६६. ४–५; विवरण : वेबर, इस्तु० १३. ४३३. गोब्रा० और पतञ्जलि का कथन शौनकीय की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत अथर्व परंपरा की ओर निर्देश करता है—क्योंकि शौनकीय की तरह पैप्पलाद में भी 'शं नो देवीरभिष्टये' (१. १. ६.) ही आरम्भिक मन्त्र है : दे० कौसूभू० पृ० ३७. एवं आगे।

वितानकल्प—वैतानसूत्र ३०. ७. कभी-कभी शौनकीयसूत्र यह नाम भी मिलता है : ज अओ सो० ११. पृ० ३७७.

विपत्ति—तथा भय से त्राण. १६५ ८. द्र० सेबुई ४२. पृ० १४०–१६२.

विरिष्ट का संधान—प्रायश्चित्त १७३. २१–२३. १. १. १४, १५, २२ इत्यादि. द्र० म्युलर, हिऐंसंलि० पृ० ४५०. ब्लूमफील्ड, सेबुई ४२. पृ० ७१. में नीचे कण्डिका ६७; का संधान : २३२. ५; देखो कौशिक ९. ५ एवं आगे गोब्रा० १. १. १४ का संदर्भ 'तद् यथा लवणेन' आदि छाउ० ४. १७. ७ से लिया गया है; इसका दूसरी बार निर्देश गोब्रा० १. ३. ३ में हुआ है

विवाह-मन्त्र—आथर्वणों के—अथर्ववेद के १४ वें काण्ड में हैं : १९५. १. इनका अनुवाद वेबर ने रस्तु० ५. १९५ एवं आगे में किया है।

विषविद्या—और सर्पविद्या का उल्लेख वैदिक साहित्य में आता है : १२६. ४–५. द्र० शब्रा० १०. ५. २. २०; १३. ४. ३. ९. शांश्रौ० १६. २. १५; आश्रौ० १०. ७. ५. छान्दोग्य ७. १. २ एवं; आगे; द्र० ऋवे० ७. ५० और ऋग्विधान, १. २. ५; २७. १; २८. १–३.

विषाणका = वि + षा; आस्राव के उपचार में—का प्रयोग विहित है : १२३. २२–२४. द्र० अजीफ १२. ४२६ एवं आगे; सेबुई० ४२. ४८१.

विषासहिसूक्त—अत्यन्त महत्त्व का है: १९६. २१–२२; देखो, कौशिकसूत्र, उद्धरणसूची, पृ० ४१०.

विषासहिव्रत—का निर्देश केशव एवं अथर्वपद्धति दोनों करते हैं : १९६. २४–२५. देखो, हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर पृ० ५८.

विषुवत् दिन—वार्षिकसूत्र का २४४. ४. द्र० वैतानसूत्र ३१. १०; का श्रौसू०। १३. २. ७; मध्य में : २४५. २. ३. द्र० वेबर, नक्षत्र, २. २८२ नोट; हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर, पृष्ठ १५७; वैतानसूत्र, ३१. १४.

विष्यर्धा—देखो विष्यर्धा एवं संसव यज्ञों के संघर्षपक्ष को : १४०. १६–१८. द्र० हिलेब्राण्ड्ट, सोम पृ० ११९ एवं आगे. रितुआल लितरात्यूर पृ० १६६; गार्बे, वैतानसूत्र अनुवाद, १६, ६; १७. ७ नोट. दे० तैसं० २. ४. १–३।

विहव्य—विहव से बना है : १४०. १२; दे० विहवीय, काश्रौ० २५. १४. १८. तैसं० ३. १. ७. ३; लाश्रौ० ४. १०. ८. कौसू० ३८. २६ में यही सूक्त उस पिता के द्वारा पढ़ा जाता है जो अपने पुत्रों को संपत्ति बाँटकर देता है, ताकि उनमें कलह न होने पावे.

वृत्र—अङ्गिरस् की उत्पत्ति वरुण से हुई है, जिसका प्रयोग इस प्रसङ्ग में वृत्र के रूप में हुआ है : २३१. १०–११. देखो वेर्गेन्य, ३. १४४; गेल्डनर, वैस्तू० २. २९२.

वेद—चार वेदों का वर्णन : २४८. २५. सामवेद का संकेत बाद के शब्द 'सामघोष' के द्वारा दिया गया है। वेदों को ३ मानने की प्रवृत्ति महाभारत में चालू रही. ५१. ५–७; विवरण : ए होल्त्समान, दास महाभारत. भा० ४. पृ० ५; पांत्र : २४७. ९.

वेन—विश्व को व्यक्त करने वाली चरम आध्यात्मिक ज्योति : १८४. १५–१७. वेबर, इस्तू ८. १२९; लुडविग, देर ऋग्वेद ३. ३९३; शेरमान, पृ० ८२; डायसन, पृ० २५२ एवं आगे। हिलेब्राण्ड्ट, सोम पृ० ३२२ वेन को चन्द्रमा बताते हैं।

वैतथ्य—माण्डूक्य पर मिलने वाली गौड्पाद कारिका के उन चार भागों में से दूसरे का स्वतन्त्र अभिधान है जो प्रायः स्वतन्त्र उपनिषद् माने गये हैं : ३२. १५–१७. दे० डायसन, जेख्‌त्सिग उपनिषद्स ५७५, ५८३ एवं आगे।

वैतानसूत्र—ब्रह्मवद, जाजल, जलद शाखाओं की सूचना नहीं देता. २४. ३०. दे० कौशिकसूत्र पर नोट. वह भी इनकी सूचना नहीं देता. वैतानसूत्र—१. ८. अपना आधार यजुर्वेद को मानता है : २९. ३२; दे० ज अ ओसो० ११. ३७९ एवं आगे, हिलेब्राण्ड्ट, रितु आल लितरात्यूर, पृ० ३६; वैतानसूत्र नामरहित आचार्यों का उल्लेख करता है : २५. ८–१०; देखो कौसू० का परिशिष्ट पृ० ३७३; में अवे के मन्त्र सकलपाठेन उद्धृत हैं. २७ १२–१३. दे० ज अ ओसो० १५. पृ० १७३; में ८ अध्याय हैं : २९. ११; संपादक, रिचर्ड गार्बे, लण्डन. १८८७ और स्ट्रास्सबुर्ग १८७८. वैसू० का आरम्भ 'अथ वितानस्य' से होता है। वैतान का कश्यप के साथ संबन्ध : ज अ ओसो० ११. ३७७; की कुछ हस्त प्रतियों में ६ प्रायश्चित्ताध्याय सम्मिलित हैं : ६५. ५–६; देखो गार्बे, वैसू० पृ० ५. वेबर, फेर्त्सा० २. पृ० ८३, कौसू० भू० पृ० ३३. बाद का है : १८७, २०; गार्बे, वैतानसूत्र प्रिफेस पृ० ७; ब्लूमफील्ड, ज अ ओसो० ११. ३७५ एवं आगे; हिलेब्राण्ड्ट, रितुआल लितरात्यूर पृ० ३५—अथर्व संग्रह का परवर्ती पूरक श्रौतसूत्र है, इसलिये इसका अथर्व-संहिता के मौलिक लक्ष्य एवं क्षेत्र के निर्णय में विचार करना अनुचित है : १८७ २२–२४; देखो ६२.

वैशासेय—सर्पराज तक्षक,—के संबन्ध में विषाभिचार : १२६. २०–२१. द्र० सेबुई, ४२. ३७४; वेबर, ज्ञि प्र ए वि० १८९६, पृ० ६८४ नोट, ८७५.

वैश्य—अवे में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में विभेदक रेखा खिंच चुकी है ८. ९. दे० ५. १७. ९; ६. १३. १; ७. १०३. १; १२. ५. ४६; १५. ८. १; १९. ३२. ८, ६२. १.

व्याकरण—के पारिभाषिक शब्द : २३४. ९; द्र० बोह्‌र्टलिङ्क, वेकोज्ञागेवि०, फेब्रुअरी, १८९६ पृ० १६ एवं आगे।

व्याहृतियां—अथर्ववेद के निर्माण के उपरान्त सृष्टि का कार्य आरम्भ होता है, जिसकी परिनिष्ठा

देवताओं, तत्वों एवं व्याहृतियों के साथ त्रयी विद्या में होती है: २३१. ३–५. यही विषय विस्तार के साथ १, १. १७–१९ में आता है।

व्रात्य—अथर्ववेद के १५ वें काण्ड का संबन्ध व्रात्या के रहस्यमय उत्कर्ष के साथ है: १९५. ९. इसका अनुवाद आफ्रेख्त ने इस्तू० १. १३० एवं आगे में किया है।

व्रात्य-स्तोम—स्तोमों का विषय; इसका सामवेद के श्रौतग्रन्थों में विस्तार से वर्णन: १९५. १५–१७; देखो आश्रौसू० ९. ८. २५; काश्रौसू० १२. १. २; २२. ४. १, २७; याज्ञवल्क्य १. ३४

शंयु आथर्वण—आथर्वण शान्ति सिद्धान्त का प्रतीक है: २३८. १९. द्र० सेबुई० ४२. पृष्ठ २१.

शकधूम—शुभाशुभ सूचक मानव या कोई और? १६८. १. द्र० सेवन, हिम्स, अजफि ७ ४८४ एवं आगे; सेबुई ४२. पृ० १६०. ५३२ एवं आगे.

शंकर पण्डित—द्वारा अपनाया गया विभाजन ह्विटनी के अथर्ववेद-विभाग से भिन्न है: ६८. १०–११ दे० शं० प० का संस्करण भा० १. पृ० १६ से आगे.

शतानीक—सोने का एक तावीज दाक्षायणों ने शतानीक को बाँधा था: १३२. २१–२२; शब्रा० ६. ७. ४. २; वेबर, इस्तू० ४ ३५८, ४३०; द्र० ऋग्विधान ४. ९. १.

शत्रु—ओं के विरुद्ध कृत्याप्रतिहरण, : १३४ : ५–७ एवं आगे, द्र० लुडविग, देर ऋग्वेद ३. ३३८ एवं आगे; बर्नल, सामविधान ब्राह्मण, भू० पृ० २२. मेयर, ऋग्विधान, भू० पृ० १३. एवं आगे, हार्डी; दी वैदिश्श ब्राह्मनिश्शे पीयौद, पृ० १३९ एवं आगे; ओल्डनबर्ग, दी रिलिजजदेस वेद, पृ० २६२ एवं आगे; ४७६ एवं आगे; हिलेब्राण्डट रितु आल लितरात्यूर, पृ० १६७ एवं आगे, १७४ एवं आगे; ब्लूमफील्ड, सेबुई० ४२. पृ० ६४ एवं आगे; मगाडन, अजफि० १०. १६५ एवं आगे; विन्तरनित्स, विचक्राफ्त इन ऐंशियण्ट इण्डिया, न्यूवर्ल्ड, सितम्बर, १८१८.

शंनो देवीरभिष्टये—महाभाष्य इसे अवे का आदिम मन्त्र बताता है: ५३. २३. विवरण: इस्तू० १३. ४३१ एवं आगे; १४. ४४१; शौनकीय हस्तप्रतियों के आरम्भ में मिलता है: ५४ ७–१० विवरण: कौसू० भू० पृ० ३७; अवे १, ६. १. अवे का प्रथम मन्त्र २३४. २२. द्र० कौशिकसूत्र, भूमिका, पृ० ३७.

शवनक—एङ्क्केतील: ३५. १६. दे० डायसन, ज़ेखत्सिग उपनिषद्स० ८६७ एवं आगे. दे० शौनक उपनिषद्.

शाकुन—पक्षियों के लिये अभिचार: १७७. १९–२०; अद्भुतब्राह्मण ६ और ८ (षब्रा० ५. ६, ८) देखो हुल्त्श, प्रोलेगोमेन त्सु देस वसन्तराज शाकुन, सेबुई ४२. ४८४ और सूची पृ० ६९७ 'स्वप्न' पर; ऋग्विधान भूमिका. पृ० १३.

शाखानाम—पाठान्तरों के साथ मिलते हैं: २३. ७–९; कौ० सू० भूमिका ३४.

शाखाभेद—इसके कारण, २१. १०–१५. दे० ओल्डनबर्ग, दी हिम्नन देस ऋग्वेद पृ० ४३० एवं आगे.

शांखायन श्रौतसूत्र—के सभी मन्त्र, पहेलियाँ और उत्तर अथर्ववेद में मिलते हैं: शांखायन श्रौतसूत्र १२. २२. १ का कोष्ठित मन्त्र ७ इसका अपवाद है: २०१. ४–७; देखो हिलेब्राण्डट का संस्करण, वा० १. पृ० २६१; वा० ३ पृ० १६५.

शान्ति—अथर्वन् की पत्नी १६. २. दे० सेबुई, ४२. पृ० २१.

शान्तिकल्पः—३०. १६ दे० नक्षत्रकल्प.

शान्त्युदक—पर मन्त्रों का उच्चारण : २३९. १–२. द्र० कौशिकसूत्र ९; वैतानसूत्र ५. १० एवं आगे; जअओसो० ११. ३८७ एवं आगे; सेबुई० ४२, पृ० १८.

शिव—अग्नि और रुद्र के एकीकरण का परिणाम. १८६. २४–२५ द्र० अवे० ४. २८ और ११. २; सेबुई, ४२. ४०६, ६१८.

शीशा—दानवीय गिरोहों पर शीशे से आक्रमण किया गया है; १३६. १८–१९. द्र० सेबुई ४२. २५६.

शौनक-उपनिषद्— = शवनक २४. १; डायसन, ज़ेख्‌त्सिग उपनिषद्स पृ० ८६७ एवं आगे. नाम पाठभेदों के साथ आता है. २४. ५; कौसू० भूमिका पृ० ३५; देखो शवनक.

शौनकीय अथर्ववेद—का आद्य मन्त्र 'ये त्रिषप्ताः' पैप्पलाद के प्रथमकाण्ड के द्वितीय अनुवाक के प्रारम्भ में आता है : २७. २१–२२. दे० कौसू० भूमिका. पृ० ३७; के विषय का सप्तमांश ऋग्वेद के विषय के समान है : ९३. ११–१२. देखो कण्डिका ६२. गोपथब्राह्मण की सत्ता को मान कर चलता है : २२६. १–३. तु० गोब्रा० १. १. ४, ५, ८ जो कि २० काण्डों वाली संहिता की ओर छिपे-छिपे निर्देश करता है (देखो ३५) तु, ऋचां मण्डलैः (ऋवे०) और ऋचां काण्डैः (अवे०) गोब्रा० १. २. ९ में। चरणव्यूह १. १. २९ शंनोदेवी : (१. १. ६) को अवे० का प्रथम मन्त्र बनाता है; इसका भी इस बात के साथ कि गोपथब्राह्मण शौनकीय अथर्ववेद का ब्राह्मण है विरोध नहीं पड़ता।

शौनकीया चतुरध्यायिका—अथर्ववेद का प्रातिशाख्य. २३. २४ दि० ह्विटनी, जअओसो० ७. ३३३ एवं आगे.

श्येनयाग—अवे ७. ४१ में आती है : १६५. १४–१५. ब्लूमफील्ड, जअओसो० १६. १२ एवं आगे; कोलब्रुक, एसेज़ १. ३१९.

श्राद्धकल्प—का संपादन एवं अनुवाद कालण्ड ने किया है : ३०. ३२. दे० आहतनकुल्त्र पृ० ९५, २४० एवं आगे. इस श्राद्धकल्प का संबन्ध शौनकीय शाखा से है; हेमाद्रिरचित चतुर्वर्ग चिन्तामणि के आधार पर कालण्ड ने पैप्पलाद श्राद्धकल्प का उद्धार किया है : पैठीनसि स्मृति के उद्धरण भी उन्होंने हेमाद्रि के आधार पर एकत्र किये हैं।

श्वेत अश्व—पेदु का, संभवतः सूर्य. १६८. ६–७. वेबर, इस्टू० १. २९२; बेर्गेन्य, तन रिलिजियो वैदिक २. ४५१–२, ४९८; सेबुई, ४२. १५२, ६०५ एवं आगे षोडशोपचारपूजा. ३१. ६.

संयोजन की प्रक्रिया—अवे में आम है : ८६. ३-४. उदाहरणार्थ : १. २३. १, २; ४ १. ४b ४c; ४, ४. ८, ५, ६; ४. २९. १, २. ४; ३६. ३, ४; ४. ३७. ९, १०; ५. ११. ७, ८, ९; ५. १४. १, २; ५. २०. १, २; ५. २२. ३, ४, ५; ५. २२. ८, ९; ५. २९. २, ३; ५. २९. १२, १३; ५. ३०. ८, ९, ६. १५. १, २; ६. ६३. २, ३; ६. ९९. २, ३; ६. ११७. २, ३; ६. १२३. १, २; ६. १३८. १, २; ८. २. ७, ८; ९. २. ९, १०; ९. ५. २२; ९५. २३, २४; १०. ८. २२, २३; १२. ३. ५. ६; १२. ३. ४१, ४२; १२. ३. २१, ४३, ४४; १३. १. ६, ७; १३. १. ५३, ५४.

संहिताकल्प— = संहिता विधि = कौशिकसूत्र : ३०. ५.

संहिता विधि— = संहिताकला = कौशिकसूत्र : ३०. ६.

सत्र—में दक्षिणा न मिलने पर. १७६. ३–४. 'यावन्तो वै सदस्यास् ते सर्वे दक्षिण्यास् तेभ्यो यो

दक्षिणां न नयेद् ऐभ्यो वृश्च्येत यद् वैश्वकर्मणानि जुहोति सदस्यानेव तत् प्रीणाति (दे० लुडविग, देर ऋग्वेद ५. ६०१)

संनति— =अवे० ४ ३९ देवताओं को अपनी इच्छानुकूल बना देता है : १६८. १८–२०; दे० काण्डिका. ५४. नोटों समेत; होमाः, दैवी शक्तियों को अपनी इच्छा के अनुकूल बनाने के लिये हैं : १५१. १९–२०. दे० अवे० ४. ३९; कौसू० ५. ८; ५९. १६; ६८. ३७; ७२. ३७; तैसं० ३. ४. ४. १; ७. ५. २३. १; मैसं० १. ४. १४; तैब्रा० ३. ८. १८. ५, आपश्रौ० २०. १२. ८. पागृ० १. ५. १०; दे० इस्तू० १७. २१४; सेबुई० ४२. ५०८.

सपत्नी-बाधन—सूक्त १४५. १८–२०. द्र० आपगृ० ३ ९. ६. और ९.

समाज से वाहवाह लूटना—१६३. १५–१७. यह यशस् और ब्रह्मवर्चस् का क्षेत्र है : इस्तू० १०. १०५ एवं आगे; सामविधान. २. ७.

समानताएँ—संभव है कि भेषजादिसंबन्धी भावनाओं में से कुछ प्रागैतिहासिक युग में स्पष्ट हो गई हैं और ये समानताएं भारोपीय जनसाहित्य के सातत्य पर प्रकाश डालती हैं : १२१. २–६. द्र० ए कुह्न, कुत्सा ८. ४९–७४, ११३–१५७, फॉन श्रोदक, इन्दीन्स लितरात्यूर, १७५ एवं आगे; सेबुई० ४२. पृ० ३१३, ३८६, ५५४. द्र० पिक्तेत कुत्सा ५ ३३७. ज्वर-निवारणार्थ मण्डूकाह्वान भी प्रागैतिहासिक हो सकता है : ग्रोहमान, इस्तू० ९. ३८६, ४१४; सेबुई० ४२. पृ० ५६५ एवं आगे; ज अ ओसो० १७. १७३.

समिध—के प्रति मन्त्र सभी वैदिक संग्रहों में आम हैं : १९२. ५. देखो ऋवे० १. २३. २२-२४आदि.

सर्गिक त्रयी—की प्रार्थना में अथर्ववेद ६. १०. : १९२. ४. देखो अवे० १. १. १७–२०, २९; २. १६. २४; ३. २४. आदि; अवे० २. १९–२३ कौसू० ११९. २, ३.

सर्पदेश—से मृतकों की संख्या १२६. १४–१६. द्र० वेबर, इस्तू० १७. पृ० १६७.

सर्वविद्या—ब्राह्मण समस्त वैदिक ज्ञान के लिये सर्वविद्या शब्द का प्रयोग करते हैं : ५८. २२–२४ दे० तै०ब्रा० ३. १०. ११. ४; तैआ० १० ४७; दे० शब्रा० १४. ६. ७. १८; ९. ४. १७

सहस्राब्द याग—वैतानसूत्र में २४७. ७.

सांस्राव्य हविष्—संपत्ति को पाने के लिये. अवे० १. १५; २. २६; १९. १ का संपत्ति से संबन्ध है : १६८. १६. १७. द्र०. लुडविग् देर ऋग्वेद, ३. ३७१; हिलेब्राण्ड्ट, रितु आल लितरात्यूर, पृ० ११४.

सांतपन—मरुतों के साथ संबद्ध है : २३९. २५. द्र० वेबर, इस्तू० १० ३४०; हिलेब्राण्ड्ट, रितु-आल लितरात्यूर, पृ० ११७.

सामान्य निरूपण—गोपथ ब्राह्मण का २१२. १; राजेन्द्रलाल मित्र का संस्करण, कलकता १८७२; इसके कुछ अंशों पर विवेचना, : बोहटलिङ्कक : बेकोसागे वि० एप्रिल, १८९६, पृष्ठ १२ एवं आगे; ब्लूमफील्ड, ज अ ओसो० १९ पृष्ठ १ एवं आगे; मैक्समूलर, हि ऐं सं लि० पृ० ४४५–४५५; कोलब्रुक, एसेज १. ४२; वेबर, इन्दिश्श लितरात्यूर पृष्ठ १६७.

सांमनस्य—सूक्तों का भेजषी आदि से मेल बैठता है : १४८. १६ एवं आगे. द्र० सेबुई, ४२. पृ० १३४–१३९; कौसू० १२. ५. लुडविग, देर ऋग्वेद ३. २५३ एवं आगे; ३४४; त्सिमर, पृ० २७२; वेबर, इस्तू० १७. २१२, ३०७.

सायण—द्वारा दिया गया अथर्व शाखाओं का विवरण। २१. ३१–३३; दे० मैक्स म्युलर, हि ऐं सं लि० पृ० ३७१; वेबर इस्तू० १. १५२९ २९६; ३, २७७–८; १३. ४३४–५; ओमिना उन्द पृ० ४१२–३; राजेन्द्रलाल मित्र, गोपथब्रा० की भूमिका पृ० ६. शब्दकल्पद्रुम, वेद; रॉथ, पोर्टेष्टा, देर अवे इन काश्मीर पृ० २४ एवं आगे; साइमन बाइत्रागेत्सुर केन्तनिस देर वैदिश्शन श्शूलन पृ० ३१; ब्लूमफील्ड, ज अ ओसो० ११. ३७७–८; कौशिकसूत्र, भूमिका पृ० ३१ एवं आगे; के भाष्य में छोटे सूक्त बड़े सूक्तों से मिला दिये गये हैं : ६८. १२; दे० अस्मिन् काण्डे प्रायेण सर्वाणि सूक्तानि तृचात्मकान्येव तथापि अध्यापकसंप्रदायानुरोधेन तृचद्वयमेकीकृत्य सूक्तत्वेन व्यवह्रियते' सायण, भाग २. पृ० २.

सीमन्तकर्म—१४८. ४–५; द्र० वेबर, इस्तू० ५. २५१ एवं आगे; लुडविग, देर ऋग्वेद ३. ५२३ एवं आगे; हेनरी, ले लिव्रे ८ और ९ पृ० १७, ५४ एवं आगे.

सुधार—अथर्ववेद के छन्दों में सुधार की प्रक्रिया यदि पूरी तरह काम में लाई जाय तो इससे अथर्ववेद की विशेषता ही नष्ट हो जाने का भय है : ८२. ६–८. विवरण: ब्लूमफील्ड, सेबुई, ४२. पृ० २९६, ५८४; ओल्डनबर्ग, डीएलझेड मार्च १८९७ पृ० ३७०; अवे० ११. २. २. के प्रथम अर्धर्च के अन्त में स्थित 'अविष्यकः' को दूसरे अर्धर्च के अन्त में रखकर सुधार संभव है : ८४. ४–५; विवरण : सेबुई० ४२. ६१९.

सूक्त—प्रत्येक सूक्त अपनी ही विशिष्ट बोली में निबद्ध है : ९४. १२-१३. द्र० आर्नल्ड, ज अ ओसो० १८. एवं आगे; देखो रॉथ, आव्हाण्डलुङ्क, पृ० २२ एवं आगे.

सूत्र—सूत्रों में प्रतीकात्मक विधान किये गये हैं : १२३. ८–९. द्र० सेबुई० ४२. २६३ एवं आगे.

सूर्यक्रान्त—देखो अथर्व प्रातिशाख्य. ३६. २.

सृष्ट्युत्पत्ति-वर्णन—२३०. ९–११, देखो वृउ० ५. ४.

सौ वर्ष का जीवन—१३१. १३; द्र० वेबर, इस्तू० १७. १९३ एवं आगे; फेस्टग्रुस आन रुडेल्फ फॉन रॉथ पृ० १३७.

स्कम्भ—अथर्ववेद १०. ७९८ का स्कम्भ के साथ संबन्ध है : १९५. ११; देखो प्रश्न उपनिषद् २. ११.

स्त्री-कर्मणक—इनकी अनेक विशेषताएँ हैं, इसलिये इसका पृथक् वर्ग किया गया है : १४२. ६. एवं आगे. द्र० वेबर, इस्तू० ५. १७७–२६६; त्सिमर, ३०५ एवं आगे, सेबुई० ४२. ९४–११०.

स्त्रीवश्य—१४४. ३. द्र० वेबर, फेर्त्सा० १. २७० एवं आगे; २ ३१८, ११८४; इस्तू० ३. १५६.

स्राक्त्य—स्रक्त्य वृक्ष से बना यन्त्र : १४१. १३. द्र० सेवन हिम्स, अजकि ७. ४७७ एवं आगे; सेबुई० ४२. ५७५.

स्वरशास्त्र—का शंकर पण्डित के एक मित्र को ज्ञान था ३६. १४–१५; दे० शंकर पण्डित, अवे०, भाग १, पृ० १५.

स्वेद-सुवेद—तपस् द्वारा ब्रह्म की भ्रू पर स्वेद उत्पन्न होता है, उसीसे सु-वेद (=ज्ञान) उत्पन्न होता है : २३०. ११–१२. परोक्षः गोब्रा० १. १. ७. ३९; २. २१; ३. १९; ४. २३; ऐब्रा० ३. ३३. ६; ७. ३०. ४; तैब्रा० १. ५. ९. २.

'हम—तेरे हृदय को प्रज्वलित करते हैं' : १४५. ४–५. द्र० वाइनहोल्ड, दी दायत्शेन फाटएन पृ० १४८; वेबर, इस्तू० ५. २४३.

हल—हल के पाथे के समान बनाये गये ताबीज को समृद्धि तथा शत्रुनाश के लिये याद किया गया है : १३९. ७–९ द्र० सेबुई, ४२. ६०८ एवं आगे.

हविष्—विशेष विशेष हविष् अवे० में पाये जाते हैं, जैसे कि 'रथवाहन हविष्' इस बात की ओर सब से पहले लुडविग ने ध्यान दिलाया था : १९४. ३–४; लुडविग, देर ऋग्वेद ३. ३७१ एवं आगे; देखो सेबुई० ४२. इन सूक्तों पर नोट विशेषत: पृष्ठ ४७९, ४९८ और ५०० पर.

हार्वर्ड—ओरियण्टल सीरीज; अवे० का अनुवाद—में छपा है ; ८७. ६–८. द्र० ज अ ओसो० १५ पृ० १७२।

हासत्सिमर—ने आयुर्वेद की अत्यधिक प्राचीनता की आलोचना की है : १२१. १९-२३. द्र० हास, त्सादामौगे, ३०. ६१७ एवं आगे; ३१. ६४७ एवं आगे; त्सिमर, ३७४ एवं आगे; श्रोदर, इन्दीस लित० उन्दकुलतूर० ७३० एवं आगे; वेबर, जि प्र ए वि० १८९०. पृ० १२४ एवं आगे.

हिलेब्राण्ड्ट—ने ऋग्वेद की क्रियाविधि पर विशद विचार किया है : ७२. २१–२२ विवरण : बेबा ८. १९५ एवं आगे; त्सादामौगे ४०. ७०८ एवं आगे. देखो वेबर, सिप्रएवि० १८९१ पृ० ७९८; ने शांखायनश्रौतसूत्र में अथर्ववेद के प्रस्तावित सुधारों को स्वीकार किया है : २०१. ९–१०; देखो हिलेब्राण्ड्ट का शांश्रौतसूत्र १. पृष्ठ २५९; राथ, आबहाण्डलुङ्ग, पृ० ७.

हृद्य—=वशीकरणमन्त्रा:, १४३. १५ एवं आगे; द्र० वेबर, इस्तू० ५. ७८ नोट १७. २१५. हृद्य संवनन और वशीकरण का समन्वय १४९. ७-९ द्र० आपगृ ८. २२. १९–२३. ६; हिरगृ० १. १४. ६–१५. ८; सामविधान २. ५ और ६.

हेमचन्द्र—अवे० को त्रयी विद्या से उद्धृत मानता है : ५४. १६–१७; विवरण : इस्तू० १ २९७.

ह्विटनी—द्वारा संपादित शौनकीया चतुरध्यायिका. ३५ ३२; ज अ ओसो० ७. ३३३–६१५; १०. १५६–१७१. दे० इस्तू० ६. ७९ एवं आगे; ५. ४५१ एवं आगे; इस्ता० २. २३० एवं आगे.

1

[illegible]